THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

3



LAGHUSIDDHĀNTAKAUMUDĪ

OF

ŚRĪ VARADARĀJA

Edited with

'SHIVA' SANSKRIT & HINDI COMMENTARIES

By

Sri Pt. Gomati Prasad Mishra



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANAṢI

(Oriental Booksellers & Publishers)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 129
VARANASI 221001

Sixth Edition
1980
Price Rs. 9-00

Also can be had of
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(Oriental Booksellers & Publishers)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building
Post Box No. 69
VARANASI 221001

शिवासौहार्दम्

श्रीसर्वतन्त्रस्वतन्त्राणां कवितार्किकचक्रवर्तिनां काशी-हिन्दूविश्वविद्यालयसंस्कृतसाहित्यप्रधानानां श्रीमहादेवशास्त्रिमहोदयानाम्—

यह संस्कृत भाषा के प्रसार का शुभ-लक्षण है कि अधिकारी विद्वानों के द्वारा एक-एक पुस्तक पर अनेक टीकायें लिखी जायँ। लघुसिद्धान्त-कौमुदी जिसका प्रचार प्रथमारम्भी छात्रों में व्यापक रूप से है उसपर शिवा नाम की संस्कृत और हिन्दी में निबद्धा व्याख्या योग्य लेखक तथा वाग्मी व्याकरणाचार्य पं० गोमती प्रसाद ने की है। इसमें सूत्रों के अर्थ विषय-प्रयोगों के साधन विशदता के साथ किये गये हैं। समर्थ लेखक ने किन्हीं सूत्रों की वृत्तियाँ स्वयं लिखी हैं जो मूलकार से छोड़ दी गयी थीं। इस व्याख्या में एक स्वर्ण-सौरभ-संयोग हुआ है कि प्रत्येक उदाहरण के प्रामाणिक अर्थ भी उपस्थित हुए हैं। प्रत्येक दृष्टि से यह प्रयत्न प्रशंसनीय है। मैं विश्वेश्वर से कामना करता हूँ कि इस निर्माण का आदर बड़े और विज्ञजन करें, समाज पूर्ण-रूपेण इसको अपनावे।

तिथि—८।१०।१९५०

महादेव पाण्डेय
सं० म० हिन्दू विश्वविद्यालय
काशी।

श्रीसर्वतन्त्रापरतन्त्राणां विद्वन्मूर्धन्यानां काशी-
विद्वत्परिषत्संरक्षकपदमलङ्कुर्वतां धर्मप्राणानां
श्रीसत्यनारायणशास्त्रिमहोदयानाम्—

शिवा शिवसमावृता वितनुयाच्छिवासद्यशो-
विभातु लघुकौमुदी जगति बालछात्रोचिता ।
सुखायुसमलङ्कृतो बुधवरो हि श्रीगोमती-
प्रसादपदभाक् 'शिवा' रचयिता चिरं जीवतात् ॥

वृत्ति-प्रयोग-लसिताखिलसूत्र-भाषा-
व्याख्याथ शब्दसमलङ्कृत-धातुरूपा ।
जुष्टा च क्लिष्ट-पद-साधनिका-वृतेयम्
शश्वद्भविष्यति किलार्भदलोपकर्त्री ॥

सत्यनारायणः

लघुसिद्धान्तकौमुदी का यह षष्ठ संस्करण प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता हो रही है। संस्कृत-जगत् ने इससे पूर्व पाँच संस्करणों का स्वागत किया—यही इसकी लोकप्रियता का प्रमाण है। छात्रों के हित को ध्यान में रखते हुए टीकाकार ने संस्कृत तथा हिन्दी दोनों भाषाओं में व्याख्या लिखी है। संस्कृत व्याख्या उन्हीं अंशों में की गई है, जहाँ मूलग्रन्थ में वृत्ति का अभाव अथवा कठिन स्थलों को स्पष्ट एवं बोधगम्य बनाने की आवश्यकता रही हो। इसके अतिरिक्त परीक्षार्थियों को प्रयोग-साधनिका संस्कृत में किस प्रकार लिखनी है—इस बात का भी विशेष ध्यान रखा गया है। अतः परीक्षार्थी इसके पढ़ने से लेखन-कार्य में अवश्य निपुण हो सकेंगे। अधिकतर परीक्षार्थी लेखन-कार्य में शिथिलता दिखाते हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें अच्छे अङ्क प्राप्त नहीं हो पाते। इस त्रुटि को सुधारने के लिये लघुकौमुदी मे आये हुए विशिष्ट प्रयोगों का संस्कृत मे विन्यास बड़ा लाभदायक सिद्ध होगा। दूसरी विशेषता यह है कि शब्द एवं धातुओं के रूप भी यथास्थान लिखने के कारण छात्रों को उनकी रूपसिद्धि समझने में सरलता होगी।

हिन्दी मे प्रत्येक सूत्र का अर्थ तथा उदाहरणों का विश्लेषण कर उनकी भी हिन्दी व्याख्या यथास्थान की गई है। इसके अतिरिक्त और अधिक उपयोगी सामग्री भी यथास्थान समाविष्ट कर दी गई है। इसके साथ ही व्याकरणशास्त्र की उपयोगी परिभाषायें तथा लक्षण-समन्वय आदि का समावेश कर विषय को और अधिक उपयोगी बना दिया गया है। सूत्र-सूची, धातुपाठ, वार्तिक-सूची, गणपाठ तथा समासचक्र का समावेश होने से प्रस्तुत ग्रन्थ की उपादेयता और बढ़ गई है। आशा है छात्र-वर्ग इससे अधिकाधिक लाभान्वित हो सकेगा।

संस्कृत-जगत् की सेवा में शुद्ध एवं अच्छे ग्रन्थों को अर्पित करना ही हमारा एकमात्र लक्ष्य है।

प्राक्कथनम्

आद्या विश्वविधात्री महाशक्ति के लोकोपकारक विविध निर्माणों में शब्दशक्ति का प्राधान्य चेतन मानव प्राणियों में जागरूक है। शब्द साक्षात् ब्रह्म है, उसी से संसार की प्रक्रियायें चलती हैं, अत एव—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।।

वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की यह प्रथम कारिका एवं अन्य कारिकाएँ भी शब्दतत्त्व-प्राधान्य का समर्थन करती हैं। यह शब्द ध्वन्यात्मक एवं वर्णात्मक होता हुआ भी वर्णात्मक वाणी द्वारा भाषारूप से व्यवहार में आता है।

विश्व में अनेक भाषाओं का क्रियाकलाप है। तत्तद् देश, जाति एवं वर्ग के अनुसार विभिन्न भाषाओं का प्रयोग, व्यवहार एवं उनसे बोध होता देखा जाता है, किन्तु संस्कृत भाषा सबसे प्राचीन एवं पुण्यपुञ्जोपभोक्ता देवताओं की भाषा है। अतः इसे 'सुरभारती' अथवा 'दैवी वाक्' कहते हैं। इस प्रकार विभिन्न मनीषियों ने लिखा है—

संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः । (काव्यादर्शे)

अथ च— **अनादिनिधना निन्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।**
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ।। (कृष्णद्वैपायनभाष्ये)

सृष्टि के आरम्भ से ही देखा जाय तो वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, इतिहास एवं आयुर्वेद-ग्रन्थ अथवा अन्य व्यावहारिक नीतिशास्त्र, काव्यादि संस्कृत में ही लिखे गये हैं तथा इसमें भी संशय नहीं कि संस्कृत-भाषा में वे जैसे पूर्ण हैं वह पूर्णता भाषान्तर में अनुवाद से वैसी सम्भव नहीं है, जैसी कि संस्कृत द्वारा की गयी है।

इस सुरभारती के शुद्ध-स्वरूप सम्यक् प्रयोगज्ञान के लिए ही महर्षियों द्वारा व्याकरण का निर्माण हुआ। महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है कि :—

"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति, मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयेते।"

अर्थात् एक शब्द भी भलीभाँति जानकर ठीक प्रकार से प्रयोग किया गया कामनाओं की पूर्ति करता है तथा उस (प्रयोक्ता) के माता-पिता स्वर्ग (सुख) लोक में सम्मान पाते हैं।

व्याक्रियन्ते निष्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्, शब्दशास्त्रम्, शब्दानुशासनं वा शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम् इत्याह पतञ्जलिः ।

पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में व्याकरण के अध्ययन एवं अध्यापन के मुख्य प्रयोजन को सुस्पष्ट किया है—

रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम् । रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् । ऊहः कर्तव्यः । सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामस्तत्र सूर्यायेत्यूहः । ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ।

इस आदेश में आये हुए षडङ्ग पद से शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्यौतिष लिये जाते हैं । इसमें '**मुखं व्याकरणं स्मृतम्**' यह उक्ति सत्य है । आचार्य पतञ्जलि ने कहा है—'**षट्स्वङ्गेषु प्रधानं व्याकरणम्, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति**' इति । श्री भास्कराचार्यजी मुक्तकण्ठ से कहते हैं कि—

यो वेद वेदवदनं सदनं हि सम्यक्,
ब्राह्मः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम् ।
यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य विद्वान्,
शास्त्रान्तरस्य भवति श्रवणेऽधिकारी ॥

अर्थात् व्याकरण-ज्ञान के बाद ही अन्य शास्त्र के ज्ञान का अधिकारी होता है । यों तो इतिहास से ज्ञात होता है कि इस धरातल पर आठ व्याकरण थे । जैसा कि बोपदेव ने कहा है :—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नाऽऽपिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ हि शाब्दिकाः ॥

सत्य भी है, महाभाष्यकार पतञ्जलि लाघवरूप व्याकरणप्रयोजन लिखते हुए कहते हैं कि—

बृहस्पतिः प्रवक्ता इन्द्रश्चाध्येता, बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच न चान्तं जगाम ।

वाग् वै पराच्यव्याकृताऽवदत्, ते देवा इन्द्रमब्रुवन् इमां नो वाचं व्याकुर्विति, ···तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् । (तै० सं० ६।४।७)

इससे ऐन्द्र व्याकरण सबसे प्राचीन प्रतीत होता है । इसी प्रकार सारस्वतचन्द्रिका आदि भी हैं । अथ च आपिशलि एवं शाकटायन के मतो का उल्लेख जहाँ तहाँ पाणिनि व्याकरण में भी मिलता है, किन्तु यह भी निर्विवाद सत्य है कि पाणिनीय व्याकरण अत्यन्त उपादेय होने के कारण मनीषियों का हृद्य एवं विश्ववन्द्य हुआ । विदेशी विचारक विद्वान् भी पाणिनीय व्याकरण की प्रशंसा मुक्त-

कण्ठ से करते है। प्रोफेसर विलियम्स का कथन है कि पाणिनीय व्याकरण उस मानव-मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्चर्यतम नमूना है, जिसे किसी दूसरे देश ने आजतक सामने नही रखा। हाँ, उन्हें 'मानवमस्तिष्क' न कहकर 'अवतार-पुरुष' कहना चाहिये था। अस्तु पाणिनीय व्याकरण विश्ववन्द्य तो हुआ। पाणिनीय व्याकरण के अवतरण की आख्यायिका से स्पष्ट होता है कि ब्रह्मोच्छ्वासनिःश्वास-रूप वेदोद्गम की भाँति आशुतोष भगवान् शङ्कर के आनन्दमय नृत्य के अवसर पर डमरू से निकले हुए वेदस्वरूप अक्षरसमाम्नाय महर्षि पाणिनि को प्राप्त हुए—

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद् विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥

तथा च महर्षि पाणिनि की वन्दना मे कहा जाता है :—

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः॥

इससे भी महेश्वर-प्राप्त १४ सूत्रों की व्याख्यारूप ही सिद्ध होता है। इस व्याकरण के विकास एवं पूर्णतासम्पादन मे तीन महर्षियों (पाणिनि, कात्यायन एवं पतञ्जलि) का योगदान अभ्यर्हणीय है।

महर्षि पाणिनि

पाणिनि के जन्मस्थान, जन्मकाल एवं अध्ययन—स्थानादि के सम्बन्धों में कतिपय गवेषक इतिहासकारों मे मतभेद मिलता है, किन्तु इनके विभिन्न नामों से इनके गोत्र, माता-पिता तथा अभिजन (देश) का यथासाध्य निर्वचन या निर्णय किया जा सकता है। जैसे पाणिनि के नाम पाणिनि, दाक्षीपुत्र, शाला-तुरीय आदि जो प्राप्त हैं, उनमे प्रथम नाम (१) **पाणिनि** गोत्रव्यवहार का है, अथ च पिता का नाम महर्षि पाणिनि (पाणिन) जिनका नामान्तर शलङ्क भी कहा जाता है, अतः इनका नाम शालङ्कि भी है। (२) **दाक्षीपुत्र**—माता दाक्षी थी अतः इनका नाम दाक्षीपुत्र पड़ा। महाभाष्यकार पतञ्जलि स्थान-स्थान पर स्पष्ट लिखते हैं—"**कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्।**" अथ च "**सर्वे पदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः**"। इससे उनके माता, पिता एवं गोत्र का निर्णय हो जाता है। (३) शालातुरीय नाम से जन्मप्रदेश स्पष्ट है। गणतन्त्रमहोदधि में—'**शालातुरो नाम ग्रामः सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयः। तत्र भवान् पाणिनिः**'। यह स्थान लाहौर नाम से प्रसिद्ध है, जो भारत का विशेष होता हुआ आज पाकिस्तान में है।

महर्षि पाणिनि के समय के सम्बन्ध में विभिन्न इतिहासकारों ने विभिन्न अनुमान किया है। **'कुमारश्रमणादिभिः'** (२।१।७०) इस सूत्र में श्रमण पद उद्धृत है, इससे बुद्धकालीन अथवा तत्पश्चात्कालीन सिद्ध करते हैं। तथा **'इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड-हिमारण्य-यव-यवन-मातुलाचार्याणामानुक्** (४।१।४९) इस सूत्र में यवन शब्द आया है, अतः यवन 'सिकन्दर' आदि का काल पाणिनि का समय है। यह नितान्त भ्रम है, क्योंकि वैदिक ब्राह्मण-ग्रन्थो में भी श्रमण पद मिलता है। जैसे शतपथ ब्राह्मण में—**'अत्र पिता अपिता भवति, माता अमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवाः, श्रमणोऽश्रमणः, तापसोऽतापसः'** इति। साथ ही सन्यास की प्रथा भी प्राचीन है।

मेरा तो इतिहासकारों से निवेदन है कि जब आशुतोष भगवान् शंकर के डमरू से निकले हुए चतुर्दश सूत्र तपोधन महर्षि पाणिनि को प्राप्त हुए तब अनादि भगवान् शंकर के काल में अपूर्व कार्य सम्पादन करनेवाले महर्षि को ईसा पू० ३२४ या ई० पू० ५२२ कहना युक्तियुक्त नही प्रतीत होता है। जो हो इस महर्षि ने लोककल्याण के लिए सूत्ररूप में अष्टाध्यायी ग्रन्थरत्न दिया। सूत्र शब्द का अर्थ यही होता है—**'अल्पाक्षरत्वे सति बह्वर्थबोधकत्वम्'** अर्थात् थोड़े अक्षर होते हुए भी बहुत अर्थ बोध करानेवाले सूत्र कहे जाते है। इनके बाद सहयोगी के रूप में आवश्यक अंशो की पूर्ति के लिए महामुनि कात्यायन आते हैं।

महामुनि कात्यायन

महर्षि पाणिनि के सूत्रों पर आवश्यकतानुसार महामुनि कात्यायन ने वार्तिकों का निर्माण करके स्वर्ण मे सुगन्ध ला दिया। पाणिनि व्याकरण की पूर्ति एवं समृद्धि में वार्तिककार श्री कात्यायनजी का विशेष महत्त्व है। वे पाणिनि के समकालीन एवं सतीर्थ्य प्रतीत होते है। वार्तिककारो मे इनका नाम सर्वश्रेष्ठ है।

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः॥

इनका कात्यायन नाम गोत्रसम्बन्धी है। आपका दूसरा नाम वररुचि था। ये केवल वार्तिककार ही नही थे, अपितु महाकवि भी थे। इनके "स्वर्गारोहण" नामक ग्रन्थ की प्रशंसा अनेक ग्रन्थों में है।

महाभाष्य के प्रथम आह्निक मे **"यथा लौकिकवैदिकेषु"** इस वार्तिक पर **'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः, यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेष्विति प्रयुञ्जते'** इस वचन से ज्ञात होता है कि ये दाक्षिणात्य थे।

महाभाष्यकार महामुनि पतञ्जलि

'पाणिनि-व्याकरण-महाभाष्य' बड़ा ही प्रसिद्ध व्याख्यारूपी सागर है। सायणभाष्य, शाङ्करभाष्यादि विविध भाष्य है किन्तु यह महाभाष्य है। भाष्य-शब्दार्थ निम्नाङ्कित है—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्ववाक्यानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥

महामुनि पतञ्जलि एवं उनके महाभाष्य की प्रशंसा सभी लोग मुक्तकण्ठ से करते हैं। इन्होंने 'पातञ्जल योगदर्शन' द्वारा मनोमलापहरण के लिये योगदर्शन का उपदेश करके तथा 'पातञ्जल महाभाष्य' द्वारा वाङ्मलापहरणार्थ मार्ग-प्रदर्शन करके अथ च 'चरकसंहिता' जैसे आयुर्वेद के महान् पाण्डित्यपूर्ण एवं उभयलोकसाधक ग्रन्थ का उपदेश करके शारीरमल एवं मनोमल-निर्हरण के लिये मार्ग-प्रदर्शन किया। इस बात को प्रायः सभी लोग स्वीकार करते हैं तथा पाण्डित्यप्राप्ति के लिये निम्नाङ्कित स्तुति भी पढ़ते है—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

पतञ्जलि ने अपना परिचय स्वयं कहीं परिचय देने के रूप में उल्लिखित नहीं किया किन्तु कुछ स्थलों पर **'गोनर्दीयस्त्वाह'** तथा **'गोणिकापुत्रः'** ऐसा उल्लेख मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि ये गोनर्द देश के थे। यह प्रदेश कुछ लोगों के मत से काश्मीर में तथा कुछ लोग गोंडा (बस्ती जिले के पास) मानते हैं। इन्हें लोग शेषावतार एवं फणाभृत नाम से भी कहते हैं। इनके महाभाष्य ग्रन्थ में **'पुष्यमित्रो यजते'** **'इह पुष्पमित्रं याजयामः'** इस प्रकार पद मिलते हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि ये राजा पुष्यमित्र के समकालिक थे।

आधुनिक ऐतिहासिकों का मत विशेष विचारणीय है कि पतञ्जलि १५० वर्ष ई० पूर्व कात्यायन ३५० वर्ष ई० पूर्व तथा पाणिनि ४५०–५५० वर्ष ई० पूर्व में हुए थे।

मेरी गुरुपरम्परा में ये सभी अवतार-पुरुष थे। आशुतोष भगवान् शङ्कर के नृत्यकाल में डमरू से निकले चतुर्दश सूत्रीय प्रकाश की प्राप्ति पाणिनि को है तथा उसकी पूर्ति कात्यायन ने वार्तिकों द्वारा की। इसी प्रकार महामुनि पतञ्जलि ने सभी का पूर्णतः प्रकाश करके इस धरातल पर मनीषियों के हितार्थ महाभाष्य दे दिया। ये तीनों पाणिनि-व्याकरण के प्रवर्त्तक हैं।

पाणिनि व्याकरण के मूलग्रन्थ अष्टाध्यायी पर अनेक वृत्तिग्रन्थ लिखे गये। अष्टाध्यायी के सूत्रों के अनुसार लिखी गई जयादित्य वामन की 'काशिका-वृत्ति' सराहनीय है। कात्यायन के वार्तिक तो सूत्रों के साथ में उल्लिखित मिलते है। पतञ्जलि ने सूत्रो के अनुसार महाभाष्य का निर्वचन किया। महाभाष्य पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं, जिनमें जैयटात्मज कैयट का प्रदीप तथा प्रदीप पर नागेश कृत उद्योत बहुत ही प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार सर्वप्रथम सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करना तथा प्रयोग के लिये 'काशिकावृत्ति' पढ़ना, अनन्तर विशेषज्ञानार्थ महाभाष्य पढ़ने के बाद विशिष्ट पाण्डित्य प्राप्त होता था तथा आज भी वह क्रम सराहनीय है। जिन्हे अष्टाध्यायी कण्ठस्थ हो जायेगी, वे शीघ्र ही पाणिनि-व्याकरण में पूर्णगति प्राप्त कर सकते है।

प्रौढ एवं परिश्रम न करनेवालों को प्रयोगादि में कठिनाई मालूम पड़ने लगी तब प्रक्रिया-क्रम से पठन-पाठन की सुव्यवस्था के लिये आचार्य श्रीरामचन्द्र ने 'प्रक्रिया-कौमुदी' का निर्माण किया। ऐतिहासिक इनका समय ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी स्वीकार करते है।

प्रक्रिया-कौमुदी मे पाणिनि के समस्त सूत्रों का सन्निवेश अप्राप्त है, अतः यह ग्रन्थ पाणिनि व्याकरण का पूर्णतः उपकारक नहीं बन सका। इस न्यूनता को पूर्ण करने की दृष्टि से महामनीषी श्री भट्टोजिदीक्षित ने 'सिद्धान्तकौमुदी' की रचना की जो शास्त्रार्थपूर्वक अनोखी प्रयोग-प्रणाली की प्रकाशिका है। श्री दीक्षितजी ने समस्त अष्टाध्यायी के सहित उणादिसूत्र, लिङ्गानुशासन, गणपाठ एवं धातु-पाठादि से सम्पन्न यह ग्रन्थ बनाया। कौमुदी की प्रशंसा गुरुजन किया करते थे। बात भी सत्य है—

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः।
कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः॥

आचार्य श्री वरदराजजी श्री भट्टोजिदीक्षित के शिष्य थे। इनके पिता का नाम दुर्गातनय था। ये दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। इन्होंने पाणिनि-व्याकरण में प्रवेश पाने की कामनावाले सुकुमार बुद्धिवाले बालकों के सुखपूर्वक बोध के लिए **'लघु-सिद्धान्तकौमुदी'** की रचना की। पाणिनीय-व्याकरणरूपी महासमुद्र से शब्दरत्नों का यह लघु प्रयास अभ्यासार्थ परमोपयोगी है। लेखक की आद्यप्रतिज्ञा एवं अन्तिम निर्देश सत्य हैं—

प्रारम्भे—पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम् ।
अन्ते—शास्त्रान्तरे प्रविष्टानां बालानां चोपकारिका ।
कृता वरदराजेन लघुसिद्धान्तकौमुदी ॥

श्रीवरदराजजी ने बाद में (अर्थात् लघुकौमुदी द्वारा साधारण ज्ञान हो जाने पर) जिज्ञासु शिष्यों की ज्ञान-वृद्धि के निमित्त 'मध्यकौमुदी' का सम्पादन किया। यह किंवदन्ती है कि भट्टोजि दीक्षित को इस कृति से संशय हुआ कि इस मध्यकौमुदी के पढ़ने के बाद मेरी 'सिद्धान्तकौमुदी' कौन पढ़ेगा, क्योंकि सिद्धान्तकौमुदी का सार-सर्वस्व मध्यकौमुदी है। किन्तु पहले के आचार्य शिष्य-वत्सल होते थे। 'ननु राजीवदयावशंवदः' इत्यादि उक्तियाँ प्रमाण हैं।

श्री वरदराजजी श्री भट्टोजि दीक्षित के शिष्य थे। इसमें प्रमाण मध्यकौमुदी का मङ्गलाचरण है—

नत्वा वरदराजः श्री-गुरून् भट्टोजिदीक्षितान् ।
करोति पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदीम् ॥

इससे प्रमाणित होता है कि ये दोनों गुरु-शिष्य समकालिक थे।

प्रस्तुत 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' स्वयं बालोपयोगिनी है, किन्तु यथासमय बालकों के उपकारार्थ अनेक विद्वानों ने अनेक टीकाएँ (संस्कृत एवं हिन्दी में) लिखी हैं। सभी उपयोगिनी हैं किन्तु मेरी 'शिवा' (माता महालक्ष्मी गौरी की भाँति कल्याणदायिनी) टीका छात्रों के हितार्थ लिखी गई है। पूज्य गुरुजनों से भी प्रार्थना है कि प्रत्येक प्रकरण के प्रारम्भ में उस प्रकरण के नामकरण का प्रयोजन एवं विषय-निर्देशन अवश्य करा दिया जाय।

इस व्याख्या में विशेष बात यह है कि ज्ञानोपयोगी एवं परीक्षोपयोगी जो कठिन शब्द हैं, उनका साधुत्व-प्रकार यथास्थान आवश्यक शब्दों एवं धातुओं के रूप तथा आवश्यकतानुसार विशेष विवेचन आदि संस्कृत में हैं तथा सूत्रों, वार्तिकों एवं तत्तत्प्रकरण में तत्तस्थल पर आये हुए शब्दों के अर्थ हिन्दी भाषा में भी सुस्पष्ट लिखे गये हैं। आशा एवं विश्वास है कि गुरुजन शुभकामना करेंगे तथा छात्रवर्ग मन लगाकर पढ़कर लाभ उठायेंगे।

शिवार्थं सर्वच्छात्राणां शिवेयं सम्प्रकाशिता ।
गुरूणाञ्चैव हृद्या स्यादिति याचे वशंवदः ॥

विदुषां वशंवदः—
गोमतीप्रसादमिश्रः

अथ षड्लिङ्गेषु अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम् ।

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १ । २ ४५ ॥ [1]धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्त च वर्जयित्वाऽर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात् ।

कृत्तद्धितसमासाश्च १ । २ । ४६ ॥ [2]कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च प्रातिपदिकसंज्ञाः स्युः ।

स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् । ४ । १ । २ ॥ [[3]ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः]* । सु औ जस् इति **प्रथमा** । अम् औट् शस् इति **द्वितीया** । टा भ्याम् भिस् इति **तृतीया** । ङे भ्याम् भ्यस् इति **चतुर्थी** । ङसि भ्याम् भ्यम् इति **पञ्चमी** । ङस् ओस् आम् इति **षष्ठी** । ङि ओस् सुप् इति **सप्तमी** ।

ङ्याप्प्रातिपदिकात् ४ । १ । १ ॥ प्रत्ययः ३ । १ । १ ॥ परश्च ३ । १ । २ ॥—[4]इत्यधिकृत्य । ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः ।

अर्थवदिति—धनम्, वनम्-इत्यादौ प्रतिवर्णस्य प्रातिपदिकसंज्ञा मा भूदिति-**अर्थवद्**ग्रहणम् । अहन्नित्यादौ प्रातिपदिकत्वेन नलोपाद्यापत्तिस्तद्वारणाय-अधातुरिति । अप्रत्ययः—इत्यत्र प्रत्ययपदमावर्त्यते, तेन प्रत्ययं प्रत्ययान्तश्चेत्यर्थो लभ्यते (प्रत्ययग्रहण-परिभाषया तदन्तविधिः) । प्रत्ययस्य पर्युदासात् 'हरिषु' इत्यादौ सोर्न प्रातिपदिकत्वम्, तदन्तपर्युदासात् समुदायस्य च न संज्ञा ।

१—धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त को छोड़कर अर्थवान् (अर्थयुक्त) जो शब्दस्वरूप उसकी प्रातिपादिक संज्ञा होती है । २—कृदन्त ('कृत्' प्रत्ययान्त), तद्धितान्त और समास प्रातिपादिक-संज्ञक होते हैं । ३—ङ्यन्त (ङी-अर्थात् ङीप् या ङीष् आदि प्रत्यय हों अन्त में जिस शब्द के) और प्रातिपादिक से परे (बाद में) स्वादि (सु औ जस् आदि) प्रत्यय होते हैं । ४—पाँचवें अध्याय की समाप्ति तक (ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च) इन तीनों सूत्रों का अधिकार जाता है । ङ्यन्त, आबन्त और प्रातिपादिक से परे सु आदि प्रत्यय होते हैं ।

---

* **मीमांसायोग्य**—विभक्तियों का जो प्रारम्भिक क्रम है उससे कहीं यह निम्ननिर्दिष्ट क्रम अच्छा होता, फिर भी विद्वान् लोग विचार कर लेंगे । मैं केवल प्रदर्शन मात्र करा रहा हूँ । जैसे—पहले 'प्रत्ययः, परश्च' 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्'—ये अधिकारसूत्र रहते । तदनन्तर स्वौजसमौट्—सूत्र रहता तत्पश्चात् ङ्यन्तादाबन्तात्-वृत्ति होती, उसके बाद 'सु औ जस' विभक्तियाँ होती तो ज्ञान में सुगमता होती ।

सुपः १।४।१०३॥ [1]सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवच- द्विवचन-बहुवचन-संज्ञानि स्युः।

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२॥ [2]द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः।

विरामोऽवसानम् १।४।११०॥ [3]वर्णानामभावोऽवसानसंज्ञः स्यात् रुत्वविसर्गौ रामः।

सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ १।२।६४॥ [4]एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि तेषामेक एव शिष्यते।

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ६।१।१०२॥ [5]अकः प्रथमाद्वितीययोरचि पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्यात्।

नादिचि ६।१।१०४॥ [6]आदिचि [परे] न पूर्वसवर्णदीर्घः वृद्धिरेचि। रामौ।

बहुषु बहुवचनम् १।४।२१॥ [7]बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यात्।

चुटू १।३।७॥ [8]प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ स्तः।

विभक्तिश्च १।४।१०४॥ [9]सुप्तिङौ विभक्तिसञ्ज्ञौ स्तः।

अवसानेति—यत्र यदव्यवहितोत्तरकाले वर्णान्तरं नोच्चार्यते तत्र पूर्वोच्चारितान्त्यवर्णोऽवसानसञ्ज्ञको भवतीति बोध्यम्।

१—सुप (प्रथमा के सु से लेकर सप्तमी के सुप् तक) के जो तीन-तीन वचन हैं वे (प्रथमा आदि विभक्तियों में) क्रम से एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञक होते हैं २—द्वित्व की विवक्षा में द्विवचन (औ, औट्, भ्याम्, भ्याम्, भ्याम्, ओस्, ओस्) और एकत्व की विवक्षा में एकवचन (सु, अम्, टा, ङे, ङसि, ङस्, ङि) होते हैं। ३—वर्णों के अभाव की अवसान संज्ञा होती है (अर्थात् अवसान उसे कहते हैं जिसके बाद कोई वर्ण न हो)। रामः—श्रीरामचन्द्रजी। ४—एक विभक्ति में जितने समान (एक प्रकार के) रूप देखे जायँ, उनमें से एक रूप शेष रह जाता है और अन्य सभी रूपों का लोप हो जाता है। ५—अक् से प्रथमा और द्वितीया सम्बन्धी अच् पर में रहे तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश होता है। ६—अवर्ण से इच् पर में हो तो पूर्वसवर्णदीर्घ नहीं होता। ७—बहुत्व की विवक्षा (कहने की इच्छा) हो तो बहुवचन (जस्, शस्, भिस्, भ्यस्, भ्यस्, आम्, सुप्) होता है। ८—प्रत्यय के आदि में जो चवर्ग (च, छ, ज, झ, ञ) और टवर्ग (ट, ठ, ड, ढ, ण) उनकी इत्संज्ञा होती है (बालकों को यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस वर्ण की इत्संज्ञा होती है उसका 'तस्य लोपः' से लोप हो जाता है)। ९—सुप् और तिङ् विभक्ति-संज्ञक होते हैं।

न विभक्तौ तुस्माः १ । ३ । ४ ॥ [1]विभक्तिस्थास्तवर्गसकारमकारा इतो न स्युः । इति नेत्त्वम् । रामाः ।

एकवचनं सम्बुद्धिः २ । ३ । ४९ ॥ [2]सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धिसंज्ञं स्यात् ।

यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १ । ४ १३ ॥ [3]यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते तदादि शब्दस्वरूपं तस्मिन् परेऽङ्गसञ्ज्ञं स्यात् ।

एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः ६ । १ । ६९ ॥ [4]एङन्ताद्ध्रस्वान्ताच्चाऽङ्गाद्धल्लुप्यते सम्बुद्धेश्चेत् । हे राम । हे रामौ । हे रामाः ।

अमि पूर्वः ६ । १ । १०७ ॥ [5]अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । रामम् । रामौ ।

रामाः—(रमन्ते क्रीडन्ति योगिनो यस्मिन् वा रमते यः स इति रामः) रामशब्दस्याव्युत्पत्तिपक्षे 'अर्थवत्'–सूत्रेण तथा व्युत्पत्तिपक्षे 'कृत्तद्धित–' इति सूत्रेण प्रातिपदिकसंज्ञायां बहुत्वविवक्षायां 'रामश्च रामश्च रामश्च' इति विग्रहः क्रियते। तत्र 'राम राम राम' इति शब्दत्रये 'सरूपाणामेक०–' इति सूत्रेणैकस्य 'राम' शब्दस्य शेषे, (बहुत्वविवक्षया) 'स्वौजसमौट्–' इति 'जस्'-विभक्तौ, 'चुटू' इति जस्येत्वे, 'तस्य लोपः' इति लोपे, सकारस्य 'हलन्त्यम्' इत्यनेन प्राप्तायामित्संज्ञायां विभक्तिश्चेत्यनेन विभक्ति-संज्ञां विधाय 'न विभक्तौ–' इतीत्संज्ञायाः निषेधे, 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घे, सकारस्य रुत्वे, विसर्गे च कृते सिद्धम् रूपम् 'रामाः' इति ।

हे रामेति—कारकपदैः सह सम्बोधनं प्रयुज्यते, प्रयोगश्च तेषां पूर्वं भवति, यथा–'हे राम' इति । सम्बोधने 'हे, अयि, है, रे, धिक्'–इत्यादयश्शब्दाः प्रयुज्यन्ते । तत्र 'रे, धिक्' शब्दौ निन्दया क्रोधेन वा प्रयुज्येते । क्वचिदन्तेऽपि 'हे' शब्दादीनां प्रयोगः । क्वचित्—'हे' शब्दं विनापि प्रयोगः । यथा 'हे राम ! आगच्छ । राम ! आगच्छ—इत्युभयमपि शुद्धम् ।

१–विभक्ति में रहने वाले तवर्ग (त, थ, द, ध, न) सकार और मकार की इत्संज्ञा नहीं होती है । २—सम्बोधन में (सम्बोधन की विवक्षा में) प्रथमा का एकवचन (सु) सम्बुद्धि-संज्ञक होता है । ३–जो प्रत्यय जिस (शब्द) से किया जाता है, तदादि (उसके आदि का) जो शब्दस्वरूप उसकी अङ्ग-संज्ञा होती है प्रत्यय परे रहते । ४–एङन्त और ह्रस्वान्त अङ्ग से परे यदि सम्बुद्धिका अवयव हल् हो तो उसका लोप होता है । ५—अक् से अम् सम्बन्धी अच् पर में हो तो पूर्व और पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है ।

लशक्वतद्धिते १ । ३ । ८ ॥ [1]तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या लशकव इतः स्युः ।

तस्माच्छसो नः पुंसि ६ । १ । १०३ ॥ [2]पूर्वसवर्णदीर्घात्परो यः शसस्तस्य नः स्यात्पुंसि ।

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ८ । ४ । २ ॥ [3]अट् कवर्गः पवर्गः आङ् नुम् एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः स्यात्समानपदे । इति प्राप्ते ।

पदान्तस्य ८ । ४ । ३७ ॥ [4]पदान्तस्य नस्य णत्वं न स्यात् । रामान् ।

टाङसिङसामिनात्स्याः ७ । १ । १२ ॥ [5]अदन्तात्टादीनामिनादयः स्युः णत्वम् । रामेण ।

सुपि च ७ । ३ । १०२ ॥ [6]यञादौ सुप्यतोऽङ्गस्य दीर्घः स्यात् रामाभ्याम् ।

अतो भिस ऐस् ७ । १ । ९ ॥ [7]अकारान्तादङ्गाद्भिस ऐस् स्यात् अनेकाल्शित्सर्वस्य । रामैः ।

ङेर्यः ७ । १ । १३ ॥ [8]अतोऽङ्गात्परस्य ङेर्यादेशः स्यात् ।

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ १ । १ । ५६ ॥ [9]आदेशः स्थानिवत्स्यान्न

रामेण—'राम' शब्दस्य प्रातिपदिकत्वेन टा विभक्तावनुबन्धलोपे, 'टाङसिङसामिनात्स्याः' इति-इनादेशे, गुणे, 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति नस्व णत्वे कृते रूपसिद्धिः ।

१—तद्धित को छोड़कर जो प्रत्यय के आदि में लकार, शकार और कवर्ग (क, ख, ग, घ, ङ) उनकी इत्संज्ञा होती है । २–पूर्वसवर्णदीर्घ से परे जो शस् का सकार उसको नकार आदेश होता है, पुंल्लिङ्ग में । ३–समान पद (किसी एक पद) में अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम् इनमें से किसी एक का अथवा यथा–सम्भव सन्मिलित बहुतों का व्यवधान होने पर भी रेफ और षकार से परे नकार को णकार होता है । ४–पद के अन्त में जो नकार (न्) उसको णकार (ण्) नहीं होता है । ५–अदन्त अङ्ग से परे जो टा, ङसि, ङस् उनके स्थान में क्रम से इन, आत्, स्य आदेश होते हैं । ६–यञादि सुप् पर में हो तो अदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है । ७–अदन्त अङ्ग से परे 'भिस्' को 'ऐस्' आदेश होता है । ८–अदन्त अङ्ग से परे जो 'ङे' उसको 'य' आदेश होता है । ९–आदेश स्थानिवत् (स्थानिनिष्ठधर्मवान्) होता

स्थान्यलाश्रयविधौ । इति स्थानिवत्त्वात् सुपि चेति दीर्घः । रामाय । रामाभ्याम् ।

बहुवचने झल्येत् ७ । ३ । १०३ ॥ [1]झलादौ बहुवचने सुप्यतोऽङ्गस्यैकारः स्यात् । रामेभ्यः । सुपि किम् ? पचध्वम् ।

वाऽवसाने ८ । ४ । ५६ ॥ [2]अवसाने झलां चरो वा स्युः । रामात्, रामाद् । रामाभ्याम् । रामेभ्यः । रामस्य ।

ओसि च ७ । ३ । १०४ ॥ [3]ओसि परेऽतोऽङ्गस्यैकारः स्यात् । रामयोः ।

ह्रस्वनद्यापो नुट् ७ । १ । ५४ ॥ [4]ह्रस्वान्तान्नद्यन्तादावन्ताच्चाङ्गात्परस्यामो नुडागमः स्यात् ।

नामि ६ । ४ । ३ ॥ [5]नामि परेऽजन्ताङ्गस्य दीर्घः स्यात् । रामाणाम् । रामे । रामयोः । सुपि एत्वे कृते ।

आदेशप्रत्यययोः ८ । ३ । ५९ ॥ [6]इण्कवर्गाभ्यां परस्याऽपदान्तस्याऽऽदेशः प्रत्ययावयवश्च यः सकारस्तस्य मूर्धन्यादेशः स्यात् । ईषद्विवृतस्य सस्य तादृश एव षः । रामेषु । एवं कृष्णादयोऽप्यदन्ताः ।

रामाय—'राम' शब्दस्य प्रातिपदिकत्वेन 'ङे' विभक्तौ 'ङेर्यः' इति 'ङे' इत्यस्य यादेशे, '**स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ**' इति स्थानिवत्वेन यकारे, सुप्त्वमादाय 'सुपि च' इति दीर्घे '**रामाय**' इति सिद्धम् ।

ईषदिति—तत्र ऋटुरषाणां मूर्धस्थानिकत्वात्सर्वेषां प्राप्तौ उच्यते ईषदिति । यतो हि ईषद्विवृतमूष्मणाम् ।

	एकव०	द्विव०	बहुव०		एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०	रामः	रामौ	रामाः	तृ०	रामेण	रामाभ्यां	रामैः
द्वि०	रामम्	रामौ	रामान्	च०	रामाय	रामाभ्याम्	रामेभ्यः

है, किन्तु स्थानिसम्बन्धी जो 'अल्' उसको मानकर कोई विधि करनी हो तो नहीं।

१–झलादि बहुवचन पर में रहे तो अदन्त अङ्ग के स्थान में एकार आदेश होता है। (सुपि पद नहीं रखते तो 'पचध्वम्' इस तिङन्त प्रयोग में भी सूत्र प्रवृत्त हो जाता, क्योंकि पचध्वम् में भी झलादिबहुवचन है) । २–अवसान में जो झल् वे चर् होते हैं, विकल्प से। ३—ओस् विभक्ति पर में रहे तो अदन्त अङ्ग को एकार आदेश होता है। ४—ह्रस्वान्त, नद्यन्त और आबन्त अङ्ग से परे जो 'आम्' उसको नुट् का आगम होता है। ५—'नाम्' पर में हो तो अदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है। ६—इण्, और कवर्ग से परे जो अपदान्त

सर्वादीनि सर्वनामानि १ । १ । २७ ॥ [1]सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसंज्ञानि स्युः । सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर, डतम, अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम, सम, सिम । [2]**पूर्वपराऽवरदक्षिणोत्तराऽपराऽधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्** । [3]**स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्** । [4]**अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः** । त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम् ।

जसः शी ७ । १ । १७ ॥ [5]अदन्तात्सर्वनाम्नो जसः शीस्यात् । अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः । सर्वे ।

सर्वनाम्नः स्मै ७ । १ । १४ ॥ [6]अतः सर्वनाम्नो ङे इत्यस्य स्मै स्यात् । सर्वस्मै ।

ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ ७ । १ । १५ ॥ [7]अतः सर्वनाम्न एतयोरेतौ स्तः । सर्वस्मात् ।

प०	रामात्-द्	रामाभ्यां	रामेभ्यः	स०	रामे	रामयोः	रामेषु
ष०	रामस्य	रामयोः	रामाणाम्	सं०	हे राम	हे रामौ	हे रामाः

(एवं गोविन्द, मुकुन्द, कृष्ण, बालकादयोऽपि अदन्तशब्दा बोध्याः)

सर्वे—'सर्वादीनि सर्वनामानि' इति विहितसर्वनाम-संज्ञक-सर्व-शब्दस्मैय प्रातिपदिकत्वेन जसि, 'जसः शी' इति सूत्रेण अनेकाल्त्वात् जसः स्थाने 'शी' इत्यादेशे, शकारस्य 'लशक्वतद्धिते' इति इत्संज्ञायां, 'तस्य लोपः' इति लोपे, 'आद् गुणः' इति गुणे 'सर्वे' इति सिद्धम् ।

आदेशस्वरूप सकार और प्रत्यय का अवयव जो सकार उसको मूर्धन्य (षकार) आदेश होता है । कृष्णः-भगवान् श्रीकृष्णजी ।

१—'सर्व शब्द है आदि में जिनके वा सर्व, विश्व आदि शब्द, सर्वनाम संज्ञक होते हैं । सर्व—सभी । विश्व-संसार । उभ, उभय-दो । डतर-दो में एक । डतम-अनेक में या तीन में एक । अन्य, अन्यतर—दूसरा । इतर-भिन्न । नेम-आधा । सम-सम्पूर्ण । २—व्यवस्था और असंज्ञा अर्थ में पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर शब्दों की सर्वनाम संज्ञा होती है । ३—ज्ञाति (जाति) और धन से भिन्न (आत्मीय आदि) अर्थ में 'स्व' शब्द सर्वनामसंज्ञक होता है । ४—बहिर्योग और उपसंव्यान (पहनने के) अर्थ में अन्तरशब्द सर्वनाम-संज्ञक होता है । त्यद्, तद्-वह । यद्-जो । एतद्, इदम्-यह । एक-एक । द्वि-दो । युष्मद्—तू । अस्मद्-मैं । भवतु-आप । किम्-कौन । ५-अदन्त सर्वनाम शब्द से परे जस् के स्थान में शी आदेश होता है । ६—अदन्त सर्वनाम से परे ङे के उसके स्थान में स्मै आदेश होता है । ७—अदन्त सर्वनाम से परे जो ङसि और ङि उनके स्थान में क्रम से (ङसि को) स्मात् और (ङि को) स्मिन् आदेश होते हैं ।

आमि सर्वनाम्नः सुट् ७ । १ । ५२ ॥ [1]अवर्णान्तात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्याऽऽमः सुडागमः स्यात् । एत्वषत्वे । सर्वेषाम् । सर्वस्मिन् । शेषं रामवत् । एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः । [2]**उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः ।** उभौ, उभौ । उभाभ्याम्, उभाभ्याम्, उभाभ्याम् । उभयोः, उभयोः । तस्येह पाठोऽकजर्थः । उभशब्दस्य द्विवचनं नास्ति । उभयः, उभये । उभयम्, उभयान् । उभयेन, उभयैः । उभयस्मै, उभयेभ्यः । उभयस्मात्, उभयेभ्यः । उभयस्य, उभयेषाम् । उभये, उभयेषु । [3]डतरडतमौ प्रत्ययौ । [4]प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणमिति तदन्ता ग्राह्याः । [5]नेम इत्यर्धे । [6]समः सर्वपर्यायः, तुल्यपर्यायस्तु न, यथासङ्ख्यमनुदेशः समानामिति ज्ञापकात् ।

सर्वेषाम्—सर्वशब्दस्य प्रातिपदिकत्वेनामि, 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति सुडागमे, अनुबन्धलोपे 'सर्व स् आम्' इति स्थिते 'बहुवचने झल्येत्' इत्येत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'सर्वेषाम्' इति सिद्धम् ।

	एकव०	द्विव०	बहुव०		एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०	सर्वः	सर्वौ	सर्वे	पं०	सर्वस्मात्-द्	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः
द्वि०	सर्वम्	सर्वौ	सर्वान्	ष०	सर्वस्य	सर्वयोः	सर्वेषाम्
तृ०	सर्वेण	सर्वाभ्याम्	सर्वैः	स०	सर्वस्मिन्	सर्वयोः	सर्वेषु
च०	सर्वस्मै	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः	सं०	हे सर्व !	हे सर्वौ !	हे सर्वे !

(एवं विश्व, कतर, अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, सम, सिमादयोऽपि बोध्याः) ।

ननु सर्वनामसंज्ञाकार्यमेकवचनबहुवचनयोर्दृष्टम्, उभशब्दस्तु केवलं द्विवचन इति इह तस्य पाठो व्यर्थः इत्यत आह-**तस्येह पाठोऽकजर्थः** इति ।

उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्ति—अयं भावः 'उभयो मणिः, उभये देवमनुष्याः' इत्येवमेव भाष्यकृता स्वीकृतस्तेनैकवचनबहुवचनयोरेव तत्प्रयोगः । द्विवचने तु तयप्रत्ययान्तस्य प्रयोगः । यथा—उभयः, उभयतयौ, उभये इत्यादि बोध्यम् ।

'तदन्ताः' इति—डतर-डतम-प्रत्ययान्ताः । कतर, कतम, यतर, यतम, ततर, ततम, एकतर, एकतम (आदि) शब्दाः सर्वनामसंज्ञका इति भावः ।

'समः' इति । समशब्दः सर्वपर्यायः तुल्यपर्यायश्च, किन्त्वत्र (सर्वादिगणे)

१—अवर्णान्त अङ्ग से परे सर्वनाम शब्द से किया गया जो आम् उसको सुट् का आगम होता है । २—उभ शब्द सदा द्विवचनान्त होता है । ३—डतर और डतम प्रत्यय (होते) हैं । ४—प्रत्यय के ग्रहण में तदन्त का ग्रहण होता है (अर्थात् तत्प्रत्ययान्त शब्द लिया जाता है) । ५—नेम शब्द का अर्थ आधा है । ६—सर्वार्थवाची सम शब्द की सर्वनामसंज्ञा

पूर्वपराऽवरदक्षिणोत्तराऽपराऽधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम् । १ । १ । ३४ ॥ [1]एतेषां व्यवस्थायामसञ्ज्ञायां सर्वनामसंज्ञा गणसूत्रात्सर्वत्र या प्राप्ता सा जसि वा स्यात् । पूर्वे, पूर्वाः । असंज्ञायां किम् ? उत्तराः कुरवः । [2]**स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था** । व्यवस्थायां किम् ? दक्षिणा गाथकाः । कुशला इत्यर्थः ।

स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् । १ । १ । ३५ । [3]ज्ञातिधनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य या प्राप्ता संज्ञा सा जसि वा स्यात् । स्वे, स्वाः । आत्मीया आत्मान इति वा । ज्ञातिधनवाचिनस्तु—स्वाः । ज्ञातयोऽर्था वा ।

अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः । १ । १ । ३६ । [4]बाह्ये परिधानीये चार्थेऽन्तरशब्दस्य या प्राप्ता संज्ञा सा जसि वा स्यात् । अन्तरे अन्तरा वा गृहाः । बाह्या इत्यर्थः । अन्तरे अन्तरा वा शाटकाः । परिधानीया इत्यर्थः ।

सर्वपर्यायस्यैव ग्रहणमन्यथा यथासंख्यमनुदेशः समानामिति सूत्रे समानामित्यस्य स्थाने समेषामिति स्यात् ।

स्वशब्दस्य चत्वारोऽर्थाः—आत्मा-आत्मीय-ज्ञाति-धन-रूपाः । तत्र 'आत्मनि आत्मीयार्थे' एव सर्वनामसंज्ञा नान्यद्वयार्थे ।

होनी है (वही यहाँ गृहीत है) तुल्यार्थवाची की नहीं, क्योंकि यदि तुल्यार्थवाची की भी सर्वनाम संज्ञा होती तो 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' मे समानाम् के स्थान में 'समेषाम्' होना चाहिए था ।

१—व्यवस्था और असंज्ञा अर्थ में "पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर" शब्दों की सर्वत्र गणसूत्र से प्राप्त सर्वनाम संज्ञा जस् (प्रत्यय) पर में हो तो विकल्प से होती है । पूर्वः—पहिला । परः—अन्य । अवरः—निकृष्ट । दक्षिण, उत्तर दिशा-भेद । अपरः—दूसरा । उत्तराः कुरवः—उत्तर कुरु नाम देश । २—स्व (पूर्व, पर आदि शब्द) के अभिधेय (वाच्य अर्थ) से अपेक्ष्यमाण (अर्थात् किस के पूर्व, किस के अन्त तक इस प्रकार का) अवधि का जो नियम वही व्यवस्था पद से कहा जाता है । व्यवस्था पद नहीं रहता तो 'दक्षिणा गाथकाः' यहाँ भी सर्वनाम संज्ञा होने लगती । दक्षिणा गाथकाः—चतुर गायक । ३—ज्ञाति (जाति) और धन से भिन्न आत्मा और आत्मीय अर्थ में 'स्व' शब्द को गणसूत्र से प्राप्त जो नित्य सर्वनामसंज्ञा वह जस् परे रहते विकल्प से होती है । केवल 'स्वाः' का अर्थ है जाति या धन । स्वे, स्वाः का अर्थ है आत्मीय (अपना) वा आप । ४—बाह्य (बाहर) और परिधानीय (पहनने योग्य) अर्थ में अन्तर शब्द को गणसूत्र से प्राप्त जो नित्य सर्वनामसंज्ञा वह जस् परे रहते विकल्प से होती है । 'अन्तरे, अन्तरा वा' इसके बाद 'गृहाः' कहने पर बाहर अर्थ होगा । 'शाटकाः' कहनेपर पहनने योग्य साड़ी कपड़ा ।

पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ७ । १ । १६ ॥ [1]एभ्यो ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ वा स्तः । पूर्वस्मात्, पूर्वात् । पूर्वस्मिन्, पूर्वे । एवं परादीनाम् । शेषं सर्ववत् ।

प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च । १ । १ । ३३ ॥ [2]एते जसि उक्तसंज्ञा वा स्युः । प्रथमे, प्रथमाः । तयः प्रत्ययः । द्वितये, द्वितयाः । शेषं रामवत् । नेमे, नेमाः । शेषं सर्ववत् । [3]***तीयस्य ङित्सु वा ।** द्वितीया-येत्यादि । एवं तृतीयः । निर्जरः ।

पूर्वादिभ्यो नवभ्य इति । पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर, स्व, अन्तर—इत्येते नव पूर्वादयः । संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः, अस्याः प्राप्त-विभाषात्वात् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
पूर्वः	पूर्वौ	पूर्वे, पूर्वाः	पूर्वस्मात्, पूर्वात्	पूर्वाभ्याम्	पूर्वेभ्यः
पूर्वम्	पूर्वौ	पूर्वान्	पूर्वस्य	पूर्वयोः	पूर्वेषाम्
पूर्वेण	पूर्वाभ्याम्	पूर्वैः	पूर्वस्मिन्, पूर्वे	पूर्वयोः	पूर्वेषु
पूर्वस्मै	पूर्वाभ्याम्	पूर्वेभ्यः	हे पूर्व !	हे पूर्वौ !	हे पूर्वे, हे पूर्वाः !

एवमेव पर-अवर-दक्षिण-उत्तर-अपर-अधर-शब्दानामपि रूपाणि ज्ञेयानि ।

तयः प्रत्ययः—'संख्याया अवयवे तयप्' इति विहितः । प्रत्ययग्रहणपरि-भाषया तदन्तस्य ग्रहणाद् द्वितय, द्वय, त्रितय, त्रय, चतुष्टय, पञ्चतय इत्यादीनां ग्रहणं ज्ञेयम् । प्रथम-चरम-द्वितीय-तृतीय-चतुष्टय-अल्प-अर्ध-कतिपयशब्दाः 'राम'-शब्दवद् बोध्याः । केवलं जसि विशेषः । यथा 'प्रथमे, प्रथमाः' इत्यादि बोध्यम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
द्वितीयः	द्वितीयौ	द्वितीयाः	द्वितीयस्मात्-द्, द्वितीयात्-द्	द्वितीया०	द्वितीयेभ्यः
द्वितीयम्	द्वितीयौ	द्वितीयान्	द्वितीयस्य	द्वितीययोः	द्वितीयानाम्
द्वितीयेन	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयैः	द्वितीयस्मिन्, द्वितीये	द्वितीययोः	द्वितीयेषु
द्वितीयस्मै, द्वितीयाय	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयेभ्यः	हे द्वितीय !	हे द्वितीयौ !	हे द्वितीयाः !

१–पूर्व पर आदि नौ शब्दोंसे ङसि या ङि विभक्ति पर में रहे तो ङसि को स्मात् और ङि को स्मिन् आदेश होता है, विकल्प से । २–(प्रथम, चरम, तय-प्रत्यान्त, अल्प, अर्ध, कतिपय और नेम) इन शब्दों की सर्वनामसंज्ञा विकल्प से होती हैं जस् परे रहते । प्रथमः–पहिला । चरमः–अन्तिम । कतिपयः–कई एक । द्वितीयः–दूसरा । अल्पः–थोड़ा । अर्धः–आधा । तृतीयः–तीसरा । ३–ङित् (ङकार इत्संज्ञक–ङे, ङसि, ङस् प्रत्यय पर में हो तो तीय

जराया जरसन्यतरस्याम् । ७ । २ । १०१ ॥ [1]जराशब्दस्य जरस् वा स्यादजादौ विभक्तौ ।

❀[2]पदाङ्गाधिकारे तस्य तदन्तस्य च। [3]निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति। [4]एकदेशविकृतमनन्यवदिति जर-शब्दस्य जरस्। निर्जरसौ, निर्जरस इत्यादि । पक्षे हलादौ च रामवत् । विश्वपाः ।

निर्जरसौ—जरायाः–निर्गत इति विग्रहात्मक (जराविशिष्ट) निर्जर शब्दस्य प्रातिपदिकत्वेन 'औ' विभक्तौ 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इति जरसादेशेन तत्सिद्धिः । पक्षे 'निर्जरौ' इति रूपम् । ननु सूत्रे 'जरा' शब्दस्यैव जरसादेशनियमः, अत्र तु 'निर्जर' शब्द इति कथम् जरसादेश इत्यत आह–'पदाङ्गाधिकारे तस्य०–' इति। तेन तस्य सूत्रोच्चारित 'जरा' शब्दस्य तदन्तस्य निर्जर, परमजर–शब्दस्य च ग्रहणेन दोषाभावः । 'पदाङ्गाधिकारे०' परिभाषया तदन्तग्रहणेन निर्जरेति सम्पूर्णस्य स्यादित्यपि न शङ्क्यम्-निर्दिश्यमानस्यैवादेशाः भवन्तीति स्वीकारात् । ननु सूत्रे तु जराशब्दः उपदिष्टो न तु जर-शब्द इत्यपि न शङ्क्यम्, एकदेशविकृतस्यानन्यत्वस्वीकारात् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
निर्जरः	निर्जरसौ / निर्जरौ	निर्जरसः / निर्जराः	निर्जरसा / निर्जरेण	निर्जराभ्याम्	निर्जरैः
निर्जरसम् / निर्जरम्	निर्जरसौ / निर्जरौ	निर्जरसः / निर्जरान्	निर्जरसे / निर्जराय	निर्जराभ्याम्	निर्जरेभ्यः

प्रत्ययान्त (द्वितीय आदि) शब्दों को विकल्प से सर्वनामसंज्ञा होती है । जराया निर्गतः निर्जरः–देवता ।

१–अजादि विभक्ति पर में रहे तो जरा शब्द को जरस् आदेश होता है विकल्प से। प्रश्न यह होता है कि सूत्र में जरा शब्द पठित है और आप निर्जर शब्द से जरस् आदेश करना चाहते हैं कैसे होगा ? उ० 'पदाङ्गाधिकारे–इति । अतः कोई दोष नहीं है । २–पदाधिकार में और अङ्गाधिकार में किये जाने वाले कार्य उच्चारित शब्द के तथा वह शब्द जिसके अन्त में हो उसके स्थान में भी होते हैं । तब प्रश्न यह होता है कि–निर्जर शब्द अनेकाल् है, इस लिये सम्पूर्ण (निर्जर) के स्थान में जरस् आदेश प्राप्त होगा । उ०–यह भी नियम है कि ३–उच्चारण कर के किया जाने वाला कार्य उच्चारित पद को ही होता है, अतः निर्जर के स्थान पर न होकर जरा के स्थान में जरस् होगा । ४–पुनः यह प्रश्न होता है कि यह तो निर्जर शब्द है न कि जरा शब्द; इस दशा में उ०–"एकदेशविकृतमनन्यवद्

दीर्घाज्जसि च । ६ । १ । १०५ ॥ [1]दीर्घाज्जसि इचि च परे प्रथमयोः पूर्वसवर्णदीर्घो न स्यात् । विश्वपौ । विश्वपाः । हे विश्वपाः । विश्वपाम् । विश्वपौ ।

सुडनपुंसकस्य । १ । १ । ४३ ॥ [2]स्वादिपञ्च वचनानि सर्वनामस्थान-संज्ञानि स्युरक्लीबस्य ।

स्वादिष्वसर्वनामस्थाने । १ । ४ । १७ ॥ [3]कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्व-सर्वनामस्थानेषु पूर्वं पदं स्यात् ।

यचि भम् । १ । ४ । १८ ॥ [4]यकारादिष्वजादिषु च कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं भसंज्ञं स्यात् ।

आकडारादेका सञ्ज्ञा । १ । ४ । १ ॥ [5]इत ऊर्ध्वं 'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्रागेकस्यैकैव संज्ञा ज्ञेया । या पराऽनवकाशा च ।

आतो धातोः । ६ । ४ । १४० ॥ [6]आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य

निर्जरसः निर्जरात्-द्	निर्जराभ्याम्	निर्जरेभ्यः	निर्जरसि निर्जरे	निर्जरसोः निर्जरयोः	निर्जरेषु
निर्जरसः निर्जरस्य	निर्जरसोः निर्जरयोः	निर्जरसाम् निर्जराणाम्	हे निर्जर !	हे निर्जरौ ! हे निर्जरसौ !	हे निर्जराः हे निर्जरसः

इति । एकदेश की विकृति से स्वरूपभिन्नता नहीं मानी जाती (जैसे कुत्ते की "पूँछ कट जाने पर भी कुत्ता कुत्ता ही कहा जाता है न कि शृगाल) अर्थात् निर्जर को भी जरा मानकर कार्य किया जायगा । विश्वं पाति रक्षति-इति विश्वपाः—संसार का रक्षक ।

१—दीर्घ से जस् और इच् पर में रहे तो पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश नहीं होता है । २—नपुंसकलिङ्ग को छोड़कर स्वादि (सु, औ, जस्, अम्, औट्) पाँच वचन सर्वनामस्थान-संज्ञक होते हैं । ३—सु से लेकर कप् प्रत्यय पर्यन्त जो सर्वनामस्थान भिन्न प्रत्यय वे (कोई) पर में हों तो पूर्व की पदसंज्ञा होती है । ४—'सु' से लेकर कप् प्रत्यय पर्यन्त जो सर्वनामस्थान-भिन्न यकारादि और अजादि प्रत्यय वे (कोई) पर में रहें तो पूर्व की भ-संज्ञा होती है । ५—पहले अध्याय के चौथे चरण से लेकर "कडाराः कर्मधारये" सूत्र तक एक की एक ही संज्ञा होती है । प्रश्न—कौन हो ? उ०—जो पर तथा अनवकाश हो (सावकाश अनवकाश का अर्थ यह है कि सूत्र या संज्ञा जब कहीं चरितार्थ रहती है तो उसे सावकाश कहते हैं । अचरितार्थ को अनवकाश कहते हैं) । ६—आकारान्त जो धातु तदन्त भ-संज्ञक अङ्ग का लोप होता है । शङ्खध्माः-शङ्ख बजाने वाला । हाहा गन्धर्वों का भेद होता है ।

भस्याङ्गस्य लोपः स्यात् । **अलोऽन्त्यस्य** । विश्वपः । विश्वपा । विश्वपाभ्यामित्यादि । एवं शङ्खध्मादयः । धातोः किम् ? हाहान् । हरिः । हरी ।

जसि च । ७।३।१०९ ॥ [१]ह्रस्वान्तस्याऽङ्गस्य गुणः स्याज्जसि । हरयः ।

ह्रस्वस्य गुणः । ७ । ३ । १०८ ॥ [२]ह्रस्वस्य गुणः स्यात्सम्बुद्धौ । हे हरे । हरिम् । हरी । हरीन् ।

शेषो घ्यसखि । १ । ४ । ७ ॥ 'शेष' इति स्पष्टार्थम् । [३]अनदीसंज्ञौ ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्तं सखिवर्जं घिसञ्ज्ञं स्यात् ।

आङो नाऽस्त्रियाम् । ७ । ३ । १२० ॥ [४]घेः परस्याङो ना स्यादस्त्रियाम् । आङिति टासञ्ज्ञा । हरिणा । हरिभ्याम् । हरिभिः ।

विश्वपः—विश्वं पाति-इति विश्वपाशब्दस्य प्रातिपदिकत्वेन शसि अनुबन्धलोपे, 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति प्राप्तां पदसंज्ञां प्रबाध्य, 'आकडारादेका संज्ञा' इति सूत्रसहकारेण परत्वानवकाशत्वाभ्यां 'यचि भम्' इति भसंज्ञायां, 'अलोऽन्त्यस्य' इति सहकारेण—'आतो धातोः' इति—आकारलोपे, सकारस्य रुत्वे विसर्गे च तत्सिद्धम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०
विश्वपाः	विश्वपौ	विश्वपाः
विश्वपाम्	विश्वपौ	विश्वपः
विश्वपा	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभिः
विश्वपे	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्यः
विश्वपः	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्यः
विश्वपः	विश्वपोः	विश्वपाम्
विश्वपि	विश्वपोः	विश्वपासु
हे विश्वपाः !	हे विश्वपौ !	हे विश्वपाः !

एवं शङ्खध्मा, अग्निध्मा, धनपा-आदि शब्दानामपि रूपाणि बोध्यानि ।

हे हरे—प्रातिपदिक-हरि-शब्दस्य सम्बुद्ध्येकवचने—'सौ' विभक्तौ 'एकवचनं सम्बुद्धिः' इति सम्बुद्धिसंज्ञाया 'हे' इत्यस्य प्राक्प्रयोगः । 'ह्रस्वस्य गुणः' इति–इकारस्य गुणे, 'एङ्ह्रस्वात्संबुद्धेः' इति सस्य लोपे तत्सिद्धम् ।

हरिणा—हरिशब्दात् प्रातिपदिकत्वेन 'टा' विभक्तौ, 'चुटू' इति टकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे च कृते, 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायां 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इति नादेशे, 'अट्कुप्वाङ्–' इति नस्य णत्वे च कृते तत्सिद्धम् ।

१–जस् पर में ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण होता है । २–सम्बुद्धि (सम्बोधन के प्रथम का एकवचन) पर में रहे तो ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण होता है । ३–सखि शब्द को छोड़कर नदी-संज्ञा से भिन्न ह्रस्व इकारान्त तथा उकारान्त शब्द घि-संज्ञक होता है । ४–घि-संज्ञावाले शब्द से परे जो आङ् (टा विभक्ति) उनको 'ना' आदेश होता है स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर ।

घेर्ङिति । ७ । ३ । १११ ॥ [1]घिसंज्ञकस्य ङिति सुपि गुणः स्यात् । हरये । हरिभ्याम् । हरिभ्यः ।

ङसिङसोश्च । ६ । १ । ११० ॥ [2]एङो ङसिङसोरति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । हरेः । हरेः । हर्योः । हरीणाम् ।

अच्च घेः । ७ । ३ । ११९ ॥ [3]इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत् स्यात्, घेरन्तादेशश्चाऽकारः । हरौ । हरिषु । एवं कव्यादयः ।

अनङ् सौ । ७ । १ । ९३ ॥ [4]सख्युरङ्गस्याऽनङादेशः स्यादसम्बुद्धौ सौ ।

अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा । १ । १ । ५६ ॥ [5]अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधासंज्ञः स्यात् ।

सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ । ६ । ४ । ८ ॥ [6]नान्तस्योपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने ।

अपृक्त एकाल्प्रत्ययः । १ । २ । ४१ ॥ [7]एकाल्प्रत्ययो यः सोऽपृक्तसञ्ज्ञः स्यात् ।

हरौ—हरिशब्दात् प्रातिपदिकत्वेन 'ङि' विभक्तौ, अनुबन्धलोपे, 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायाम् 'अच्च घेः' इति ङेरौकारादेशे, घिसंज्ञकेकारस्य चाकारे वृद्धौ च तत्सिद्धम् ।

एक०	द्वि०	बहु०	एक०	द्वि०	बहु०
हरिः	हरी	हरयः	हरेः	हरिभ्याम्	हरिभ्यः
हरिम्	हरी	हरीन्	हरेः	हर्योः	हरीणाम्
हरिणा	हरिभ्याम्	हरिभिः	हरौ	हर्योः	हरिषु
हरये	हरिभ्याम्	हरिभ्यः	हे हरे !	हे हरी !	हे हरयः !

एवमेव प्रायो ह्रस्वेकारान्तानाम्—भूपति, श्रीपति, रवि, वह्नि, कवि, कपि, सन्धि, विधि—आदीनां शब्दानां रूपाणि ज्ञेयानि ।

१—ङित् सुप् पर में हो तो घि-संज्ञावाले शब्द को गुण होता है । २—एङ् से ङसि-ङस्-सम्बन्धी अकार पर में रहे तो पूर्व और पर के स्थान में पूर्वरूप (एङ् के समान रूप) एकादेश होता है । ३—इकार उकार से परे जो 'ङि' उसके स्थान में औत् और घि-संज्ञा के स्थान में अत् (अकार) अन्तादेश भी आदेश होता है । ४—सम्बुद्धि से भिन्न सु विभक्ति पर में रहे तो अङ्ग-संज्ञक सखि शब्द को अनङ् आदेश होता है । ५—किसी भी वर्ण के अन्त्य अल् से अव्यवहित पूर्ववर्ण की उपधासंज्ञा होती है । ६—सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनाम-स्थान पर में रहे तो नान्त पद की उपधा को दीर्घ होता है । ७—एक अल् वाला प्रत्यय-अपृक्त संज्ञक होता है ।

हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् ६ । १ । ६८ ॥ [1]हलन्तात्परं दीर्घौ यौ ङ्यापौ तदन्ताच्च परं सुतिसीत्येतदपृक्तं हल्लुप्यते ।

नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य । ८ । २ । ७ ॥ [2]प्रातिपदिकसंज्ञकं यत्पदं तदन्तस्य नस्य लोपः स्यात् । सखा ।

सख्युरसम्बुद्धौ । ७ । १ । ९२ ॥ [3]सख्युरङ्गात्परं सम्बुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं णिद्वत्स्यात् ।

अचो ञ्णिति । ७ । २ । ११५ ॥ [4]अजन्ताङ्गस्य वृद्धिः स्यात् ञिति णिति च परे । सखायौ । सखायः । हे सखे । सखायम् । सखायौ । सखीन् । सख्या । सख्ये ।

ख्यत्यात्परस्य । ६ । १ । ११२ ॥ [5]खितिशब्दाभ्यां खीतीशब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसिङसोरत उत्स्यात् । सख्युः । सख्युः ।

सखा—प्रातिपादिकसखिशब्दात् 'सौ', अङ्गसंज्ञायां 'ङिच्च' इति सहकारेण 'अनङ् सौ' इति–इकारस्थाने अनङादेशे, अनुबन्धलोपे, 'अलोऽन्त्यात्पूर्वं उपधा' इति सूत्रेण नकारात्पूर्वस्याकारस्य उपधासंज्ञायां 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति दीर्घे, 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' इति अपृक्तसंज्ञां कृत्वा 'हल्ङ्याब्भ्यो–' इति सोः सकारस्य लोपे, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इत्यनेन नलोपे सिद्धम् 'सखा' इति रूपम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
सखा	सखायौ	सखायः	सख्युः	सखिभ्याम्	सखिभ्यः
सखायम्	सखायौ	सखीन्	सख्युः	सख्योः	सखीनाम्
सख्या	सखिभ्याम्	सखिभिः	सख्यौ	सख्योः	सखिषु
सख्ये	सखिभ्याम्	सखिभ्यः	हे सखे !	हे सखायौ !	हे सखायः !

१–हलन्त से परे जो सु, ति, सि सम्बन्धी अपृक्त हल् और दीर्घ जो ङी आप्, तदन्त से परे जो सु-सम्बन्धी अपृक्त हल् उसका लोप होता है। २–प्रातिपादिक संज्ञावाले पद के अन्तिम नकार का लोप होता है । सखा=मित्र । ३–अङ्ग संज्ञक सखि शब्द से परे सम्बुद्धि-भिन्न जो सर्वनामस्थान वह णिद्वत् (णित् के समान) माना जाता है (अर्थात् जो कार्य णित् को विहित हैं वे उससे भी होते हैं) । ४–ञित् (ञ इत्संज्ञक) या णित् (ण इत्संज्ञक) प्रत्यय पर में रहे तो अजन्त अङ्ग को वृद्धि होती है । ५–कर दिया गया हो यणरूपी आदेश जिनको ऐसे ह्रस्व खि, ति शब्द और दीर्घ खी, ती शब्द से परे जो ङसि या ङस् सम्बन्धी अकार उसको उत् (उकार) आदेश होता है ।

औत् । ७ । ३ । ११८ ॥ [1]इदुद्भ्यां परस्य ङेरौत्स्यात् । सख्यौ । शेषं हरिवत् ।

पतिः समास एव । १ । ४ । ८ ॥ [2]पतिशब्दः समास एव घिसञ्ज्ञः स्यात् । पत्ये । पत्युः । पत्यौ । शेषं हरिवत् । समासे तु भूपतये । [3]कतिशब्दो बहुवचनान्तः ।

बहुगणवतुडतिसंख्या । १ । १ । २३ ॥ [[4]एते संख्यासञ्ज्ञाः स्युः ।]

डति च । १ । १ । २५ ॥ [5]डत्यन्ता संख्या षट्सञ्ज्ञा स्यात् ।

षड्भ्यो लुक् । ७ । १ । २२ ॥ [6]षड्भ्यः परयोर्जश्शसोर्लुक् स्यात् ।

प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः । १ । १ । ६१ ॥ [7]लुक्श्लुलुप्शब्दैः कृतं प्रत्ययाऽदर्शनं क्रमात्तत्तत्संज्ञं स्यात् ।

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् । १ । १ । ६२ ॥ [8]प्रत्यये लुप्तेऽपि तदाश्रितं कार्यं स्यात् । इति जसि चेति गुणे प्राप्ते ।

पतिशब्दः समासे–एव घिसंज्ञको भवति ।

पत्युः—पतिशब्दात्-ङसि, अनुबन्धलोपे, 'पतिः समास एव' इति नियमेनास्य केवल–पतिशब्दस्य घिसंज्ञाभावात् 'इको यणचि' इति यणि, 'ख्यत्यात्परस्य' इति–अकारस्योकारे, सस्य रुत्वे, विसर्गे च तत्सिद्धम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
पतिः	पती	पतयः	पत्युः	पतिभ्याम्	पतिभ्यः
पतिम्	पती	पतीन्	पत्युः	पत्योः	पतीनाम्
पत्या	पतिभ्याम्	पतिभिः	पत्यौ	पत्योः	पतिषु
पत्ये	पतिभ्याम्	पतिभ्यः	हे पते !	हे पती !	हे पतयः !

भूपति, रमापति, श्रीपति-आदि—शब्दानां रूपाणि 'हरि'शब्दवद् बोध्यानि ।

१–ह्रस्व इकार, उकार से परे ङि को औत् (औकार) आदेश होता है । २–पति शब्द की घि-संज्ञा केवल समास में ही होती है । पतिः=स्वामी । भूपतिः—राजा । ३–'कति' शब्द नित्य (सदा) बहुवचनान्त ही होता है । ४–बहु शब्द, गण शब्द, वतु-प्रत्ययान्त शब्द और डति–प्रत्यान्त शब्दों की संख्या संज्ञा होती हैं । ५–डतिप्रत्ययान्त संख्यावाचक शब्द की षट् संज्ञा होती है । ६–षट्-संज्ञाले शब्दों से परे जो जस् और शस् उनका लुक् (लोप) हो जाता हैं । ७–लुक् , श्लु और लुप् शब्दोच्चारणपूर्वक किया गया जो अदर्शन (लोप) वह क्रम से लुक् , श्लु , लुप् संज्ञक होता है । ८–प्रत्यय के लोप हो जानेपर भी तदाश्रित (प्रत्ययनिमित्तक) कार्य होता है ।

न लुमताङ्गस्य । १ । १ । ६३ ॥ [1]लुमता शब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यं न स्यात्। कति। कति। कतिभिः। कतिभ्यः। कतिभ्यः। कतीनाम्। कतिषु। **युष्मदस्मत्षट्संज्ञकास्त्रिषु सरूपाः।** त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। त्रयः। त्रीन्। त्रिभिः। त्रिभ्यः। त्रिभ्यः।

त्रेस्त्रयः। ७। १। ५३॥ [2]त्रिशब्दस्य त्रयादेशः स्यादामि। त्रयाणाम्। त्रिषु। गौणत्वेऽपि। प्रियत्रयाणाम्।

त्यदादीनामः। ७। २। १२२॥ [3]एषामकारोऽन्तादेशः स्याद्विभक्तौ। [4]**द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः।** द्वौ। द्वौ। द्वाभ्याम्। द्वाभ्याम्। द्वाभ्याम्। द्वयोः। द्वयोः। पाति लोकमिति पपीः—सूर्यः।

दीर्घाज्जसि च। ६। १। १०५॥ [5]दीर्घाज्जसि इचि च परे न पूर्वसवर्णदीर्घः। पप्यौ। पप्यौ। पप्यः। हे पपीः। पपीम्। पपीन्। पप्या। पपीभ्याम्। पपीभ्याम्। पपीभ्याम्। पपीभिः। पप्ये। पपीभ्यः। पपीभ्यः। पप्यः। पप्यः। पप्योः। दीर्घत्वान्न नुट्। पप्याम्। ङौ तु सवर्णदीर्घः। पपी। पप्योः। पपीषु। एवं वातप्रम्यादयः। बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी।

कति—कतिशब्दाज्जसि 'बहुगणवतुडतिसङ्ख्या' इति संख्यासज्ञां तथा 'डति च' इत्यनेन षट्संज्ञां च कृत्वा 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' इति लुक्संज्ञायां, 'षड्भ्यो लुक्' इति जसो लुकि (लोपे) सति 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' इति सूत्रसहकारेण जस्निमित्तको गुणः प्राप्तो 'न लुमताङ्गस्य' इति प्रत्ययलक्षणनिषेधे सिद्धं रूपं 'कति' इति।

युष्मदस्मदिति—युष्मद्, अस्मद् तथा षट्संज्ञकाश्च शब्दाः त्रिषु 'पुँल्लिङ्गस्त्रीलिङ्गनपुंसकलिङ्गेषु' समानरूपाः (भवन्ति)। यथा-कति पुरुषाः? कति स्त्रियः? कति पुष्पाणि? इत्यादि।

त्रेस्त्रयः—त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्त इति नियमोऽर्थपरोऽतस्त्रिशब्दस्वरूपकत्रिशब्दस्य 'त्रेः' रूपस्य प्रतिपादने न कश्चिद्दोषः।

त्रयः	(प्र०)	त्रीन्	(द्वि०)	त्रिभ्यः	(प०)	त्रयाणाम्	(षष्ठी)
त्रिभिः	(तृ०)	त्रिभ्यः	(च०)	त्रिषु	(स०)	हे त्रयः!	(सम्बो०)

१—जहाँ लुमान् (लुक्, श्लु, लुप्) शब्दों द्वारा लोप हुआ रहता है, वहाँ तन्निमित्तिक कार्य नहीं होता। कति-कितने। त्रयः—तीन। २—आम् विभक्ति पर में रहे तो 'त्रि' शब्द को त्रय आदेश होता है। ३—विभक्ति पर में हो तो त्यदादियों (के अन्त) को अकार अन्तादेश होता है। ४—'त्यद्' से लेकर 'द्वि' शब्द पर्यन्त ही त्यदादि शब्द हैं, क्योंकि भाष्यकार को ऐसा ही इष्ट है। पपीः—सूर्य। ५—दीर्घ से जस् और इच् पर में रहे तो पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश नहीं होता है। वातप्रमीः—मृग। बहुश्रेयसी—बहुत-कल्याण चाहनेवाली नारियों का पुरुष।

यू स्त्र्याख्यौ नदी १।४।३॥ [1]ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसंज्ञौ स्तः। ❋[2]**प्रथमलिङ्गग्रहणं च।** पूर्वं स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः।

अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ७।३।१०७॥ [3]अम्बार्थानां नद्यन्तानाञ्च ह्रस्वः स्यात्सम्बुद्धौ। हे बहुश्रेयसि।

आण्नद्याः ७।३।११२॥ [4]नद्यन्तात्परेषां ङितामाडागमः स्यात्।

आटश्च ६।१।९०॥ [5]आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। बहुश्रेयस्यै। बहुश्रेयस्याः। बहुश्रेयस्याः। बहुश्रेयसीनाम्।

ङेराम्नद्याम्नीयः ७।३।११६॥ [6]नद्यन्तादाबन्तान्नीशब्दाच्च परस्य ङेराम् स्यात्। बहुश्रेयस्याम्। शेषं पपीवत्। अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः। अतिलक्ष्मीः। शेषं बहुश्रेयसीवत्। प्रधीः।

प्रथमलिङ्गेति—समासादिवृत्तेः प्राक् नित्यस्त्रीलिङ्गस्य शब्दस्य वृत्तौ उपसर्जनत्वेऽपि नदीसंज्ञा भवतीत्यर्थः।

अम्बार्थेति—अम्बार्थानां नद्यन्तानाञ्च ह्रस्वः स्यात् सम्बुद्धौ—इत्यर्थः।

बहुश्रेयस्याम्—बहुश्रेयसीशब्दात् प्रातिपदिकत्वेन 'ङि' विभक्तौ, अनुबन्धलोपे च 'यू स्त्राख्यौ नदी' इति सूत्रेण नदीसंज्ञायाम, 'आण् नद्याः' इत्यनेनाटि, 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इति ङेरामि, 'इको यणचि' इति यणादेशे वृद्धौ च कृते तत्सिद्धम्।

एकव०	द्विव०	बहुव०
बहुश्रेयसी	बहुश्रेयस्यौ	बहुश्रेयस्यः
बहुश्रेयसीम्	बहुश्रेयस्यौ	बहुश्रेयसीः
बहुक्षेयस्या	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभिः
बहुश्रेयस्यै	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभ्यः
बहुश्रेयस्याः	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभ्यः
बहुश्रेयस्याः	बहुश्रेयस्योः	बहुश्रेयसीनाम्
बहुश्रेयस्याम्	बहुश्रेयस्योः	बहुश्रेयसीषु
हे बहुश्रेयसि	हे बहुश्रेयस्यौ	हे बहुश्रेयस्यः

न सुलोप इति—अत्रायं विशेषसंग्रहः पूर्वैराचरितः—

अवी-तन्त्री-तरी-लक्ष्मी-धी-ह्री-श्रीणामुणादिषु।
सप्तानामपि शब्दानां सोर्लोपो न कदाचन॥

१-नित्य स्त्रीलिङ्ग इकारान्त, ऊकारान्त शब्दों की नदी-संज्ञा होती है। २-जो शब्द पहले स्त्रीलिङ्ग हो और उपसर्जनवश अन्यलिङ्ग भी हो गया तो उसको नदी-संज्ञा कहनी चाहिए (होती है)। ३-सम्बुद्धि पर में रहे तो अम्बार्थक (अम्बा शब्द के अर्थवाले) और उन संज्ञावाले शब्दों को ह्रस्व होता है। ४-नद्यन्त शब्द से परे जो ङित् (ङे, ङसि, ङस्, ङि) उनको आट् का आगम होता है। ५-आट् से अच् पर में रहे तो पूर्व और उनके स्थान में वृद्धि एकादेश होता है। ६-नद्यन्त, आबन्त और नी शब्द से परे जो

अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ६।४।७७॥ [1]श्नुप्रत्ययान्तस्येवर्णोवर्णान्तस्य धातोर्भ्रू इत्यस्य चाऽङ्गस्येयङुवङौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे। इति प्राप्ते।

एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ६।४।८२॥ [2]धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य इवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण्स्यादजादौ प्रत्यये। प्रध्यौ। प्रध्यः। प्रध्यम्। प्रध्यौ। प्रध्यः। प्रध्यि। शेषं पपीवत्। एवं ग्रामणीः। ङौ तु ग्रामण्याम्। अनेकाचः किम्?। नीः। नियौ। नियः। अमि शसि च परत्वादियङ्। नियम्। ङेराम्। नियाम्। असंयोगपूर्वस्य किम्? सुश्रियौ। यवक्रियौ।

अतिलक्ष्मी-शब्दस्य सौ 'अतिलक्ष्मीः' इति। शेषरूपाणि बहुश्रेयसीवद् बोध्यानि।

प्रध्यि—प्रधी-शब्दात्प्रातिपदिकत्वेन 'ङि'विभक्तौ, अनुबन्धलोपे, 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' इति यण् प्राप्तस्तं प्रबाध्य 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति यणि कृते सिद्धं रूपं "प्रध्यि" इति।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्रधीः	प्रध्यौ	प्रध्यः	प्रध्यः	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्यः
प्रध्यम्	प्रध्यौ	प्रध्यः	प्रध्यः	प्रध्योः	प्रध्याम्
प्रध्या	प्रधीभ्याम्	प्रधीभिः	प्रध्यि	प्रध्योः	प्रधीषु
प्रध्ये	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्यः	हे प्रधीः!	हे प्रध्यौ!	हे प्रध्यः

प्रधीवत् ग्रामणीशब्दस्यापि रूपाणि। केवलं ङौ भेदः—'ग्रामण्याम्' इति।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
सुश्रीः	सुश्रियौ	सुश्रियः	सुश्रियः	सुश्रीभ्याम्	सुश्रीभ्यः
सुश्रियम्	सुश्रियौ	सुश्रियः	सुश्रियः	सुश्रियोः	सुश्रियाम्
सुश्रिया	सुश्रीभ्याम्	सुश्रीभिः	सुश्रियि	सुश्रियोः	सुश्रीषु
सुश्रिये	सुश्रीभ्याम्	सुश्रीभ्यः	हे सुश्रीः!	हे सुश्रियौ!	हे सुश्रियः!

'ङि' उसको आम् आदेश होता है। लक्ष्मीमतिक्रान्तोऽतिलक्ष्मीः, लक्ष्मी को अतिक्रमण करने वाला। प्रकृष्टा धी बुद्धिर्यस्य सः प्रधीः—अति बुद्धिमान्।

१—'श्नु' प्रत्ययान्त और इवर्णान्त तथा उवर्णान्त धातु को तथा 'भ्रू' शब्द के अङ्ग को इयङ्, उवङ् आदेश होते हैं अजादि प्रत्यय परे रहते। २—धातु का अवयव संयोग से पूर्व

गतिश्च १ । ४ । ४० ॥ [1]प्रादयः क्रियायोगे गतिसञ्ज्ञाः स्युः । ❀ [2]**गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते** । शुद्धधियौ ।

न भूसुधियोः ६ । ४ । ८५ ॥ [3]एनयोरचि सुपि यण्न स्यात् । सुधियौ । सुधियः इत्यादि । सुखमिच्छतीति सुखीः । सुतीः । सुख्यौ । सुख्यौ । सुत्यौ । सुत्यौ । सुख्युः । सुख्युः । सुत्युः । सुत्युः । शेषं प्रधीवत् । शम्भुर्हरिवत् । एवं भान्वादयः ।

तृज्वत्क्रोष्टुः ७ । १ । ९५ ॥ [4]क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तवद्रूपं लभते असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे । क्रोष्टुशब्दस्य स्थाने क्रोष्टृशब्दः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः ।

ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ७ । ३ । ११० ॥ [5]ऋतोऽङ्गस्य गुणः स्यात् ङौ सर्वनामस्थाने च परे । इति प्राप्ते ।

ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च ७ । १ । ७४ ॥ [6]ऋदन्तानामुशनसादीनां चानङ् स्यादसम्बुद्धौ सौ ।

अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तॄणाम् ६ । ४ । ११ ॥ [7]अवादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । क्रोष्टा । क्रोष्टारौ । क्रोष्टारः । क्रोष्टून् ।

एवमेव यवक्री, शुद्धधी, धान्यक्री, सुधी, लब्धधी—आदि शब्दानामपि रूपाणि बोध्यानि । सुखी, सुती—आदि शब्दाः उक्तादन्याः प्रधीवत् ज्ञेयाः । शम्भु, भानु, विष्णु, मनु—आदि—शब्दास्तत्सदृशाश्च हरिशब्दवत्—ज्ञेयाः ।

क्रोष्टा—क्रोष्टुशब्दात्प्रातिपदिकत्वेन सौ, 'तृज्वत्क्रोष्टुः' इत्यनेन तृज्वद्भावेन

में न हो ऐसा जो इवर्ण, तदन्त अनेकाच् अङ्ग को यण् आदेश होता है अजादि प्रत्यय परे रहते । ग्रामणीः—गाँव का अफसर, मुखिया । नीः—पहुचानेवाला । सुश्रीः—सुन्दर शोभावाला । यवक्रीः—यव (जव) खरीदनेवाला ।

१—क्रिया के योग में प्रादियों की गति-संज्ञा होती है । २—गति और कारक से भिन्न पूर्वपद रहे तो यण् नहीं होता है । शुद्धधीः—निर्मल बुद्धिवाला । ३—भू और सुधी शब्द को अजादि सुप् प्रत्यय परे रहते यण् नहीं होता है । सुखीः—सुख चाहनेवाला । सुतीः—पुत्र की इच्छा करनेवाला । शम्भुः—श्री शिवजी । भानुः—सूर्य । ४—सम्बुद्धि से भिन्न सर्वनामस्थान विभक्ति पर मे रहे तो क्रोष्टु शब्द के स्थान मे क्रोष्टृ आदेश होता है । ५—ङि या सर्वनाम-स्थानसंज्ञक विभक्ति पर मे रहे तो ऋदन्त अङ्ग को गुण होता है । ६—सम्बुद्धि से भिन्न 'सु' विभक्ति पर मे रहे तो ऋदन्तो और उशनसादिको को अनङ् आदेश होता है । ७—सम्बुद्धि से भिन्न सर्वनाम स्थान पर में रहे तो अप्, तृन्, तृच् आदि शब्दो की उपधा को दीर्घ

विभाषा तृतीयादिष्वचि ७ । १ । ९७ ॥ [1]अजादिषु तृतीयादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत् । क्रोष्ट्रा । क्रोष्ट्रे ।

ऋत उत् ६ । १ । १११ ॥ [2]ऋतो ङसिङसोरति उदेकादेशः स्यात् । रपरः ।

रात्सस्य ८ । २ । २४ ॥ [3]रेफात्संयोगान्तस्य सस्यैव लोपो नान्यस्य । रस्य विसर्गः । क्रोष्टुः । क्रोष्टुः । क्रोष्ट्रोः । क्रोष्ट्रोः । ॐ[4]**नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन** । क्रोष्टूनाम् । क्रोष्टरि । पक्षे हलादौ च शम्भुवत् ।

क्रोष्टुशब्दस्य क्रोष्टृभावे जाते, 'ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः' इत्यनेन प्राप्तं गुणं बाधित्वा 'ऋदुशनस्पुरुदंसो—०' इति सूत्रेणोपधादीर्घे, नकारस्य लोपे च कृते 'क्रोष्टा' इति सिद्धम् ।

क्रोष्टुः—क्रोष्टुशब्दात्—ङसि, अनुबन्धलोपे, 'विभाषा तृतीयादिषु' इति सहकारेण वैकल्पिके तृज्वद्भावे, 'ऋत उत्' इति पूर्व-परयोः उत्वे रपत्वे च, 'रात्सस्य' इति सस्य लोपे, खरवसानयोरिति रेफस्य विसर्गे च 'क्रोष्टुः' इति सिद्धयति । तृज्वद्भावाभावे—घिसंज्ञायां घेर्ङितीति गुणे ङसिङसोश्चेति पूर्वरूपे च 'क्रोष्टोः' इति सिद्धयति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०
क्रोष्टा	क्रोष्टारौ	क्रोष्टारः
क्रोष्टारम्	क्रोष्टारौ	क्रोष्टॄन्
क्रोष्ट्रा / क्रोष्टुना	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभिः
क्रोष्ट्रे / क्रोष्टवे	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभ्यः

एकव०	द्विव०	बहुव०
क्रोष्टुः / क्रोष्टोः	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभ्यः
क्रोष्टुः / क्रोष्टोः	क्रोष्ट्रोः / क्रोष्ट्वोः	क्रोष्टूनाम्
क्रोष्टरि / क्रोष्टौ	क्रोष्ट्रोः / क्रोष्ट्वोः	क्रोष्टुषु
हे क्रोष्टो !	हे क्रोष्टारौ !	हे क्रोष्टारः !

पूर्वविप्रतिषेधेन—विप्रतिषेधे परं कार्यमिति सूत्रे 'अपरम्' इति छेदः

होता है । क्रोष्टा–शृगाल, गीदड़ ।

१–अजादि तृतीयादि विभक्तियाँ पर में हों तो क्रोष्टु शब्द को तृज्वद्भाव विकल्प से होता है । २–ऋदन्त अङ्ग से ङसि या ङस सम्बन्धी अकार पर में हो तो पूर्वपर के स्थान में ह्रस्व उकार आदेश होता है । ३–रेफ से परे यदि संयोगान्त-लोप होवे तो केवल सकार का ही हो, अन्य का नहीं । ४–नुम् और अच् पर में हो तो रभाव एवं तृज्वद्भावो की

हूहूः। हूह्वौ। हूह्वः। हूहूम्-इत्यादि। अतिचमूशब्दे तु नदीकार्यं विशेषः। हे अतिचमु। अतिचम्वै। अतिचम्वाः। अतिचम्वाः। अतिचमूनाम्। खलपूः।

ओः सुपि ६।४।८३॥ [1]धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति च उवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्याऽनेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादचि सुपि। खलप्वौ। खलप्वः। एवं सुल्वादयः। स्वभूः। स्वभुवौ। स्वभुवः। वर्षाभूः।

वर्षाभ्वश्च ६।४।८४॥ [2]अस्योवर्णस्य यण् स्यादचि सुपि। वर्षाभ्वावित्यादि। दृन्भूः। ॐ[3]**दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः।** दृन्भ्वौ। एवं करभूः। धाता। हे धातः। धातारौ। धातारः। [4]**ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्।** धातॄणाम्। एवं नप्त्रादयः। नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमा-

क्रियते तेन 'पूर्वं कार्यं स्यात्' इत्यर्थो लभ्यते। वार्तिककाराद्यभिमतस्थलेष्वेव पूर्वविप्रतिषेधनियमो यथोत्तरं मुनीना प्रामाण्यात्।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
धाता	धातारौ	धातारः	धातुः	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
धातारम्	धातारौ	धातॄन्	धातुः	धात्रोः	धातॄणाम्
धात्रा	धातृभ्याम्	धातृभिः	धातरि	धात्रोः	धातृषु
धात्रे	धातृभ्याम्	धातृभ्यः	हे धातः	हे धातारौ	हे धातारः

एवमेव नप्त्रादयोऽपि शब्दा ज्ञेयाः।

नियमार्थम्—उणादि-निष्पन्नानां तृन्तृच्प्रत्यान्तानां संज्ञाशब्दानामुपधादीर्घश्चेत्तर्हि नप्त्रादीनामेवेति नियमाकारः। एवञ्च पित्रादिशब्दानां नप्त्रादिभिन्नतया नानेन दीर्घः।

अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध (के नियम) से नुट् ही होता है। हूहूः—गन्धर्व। अतिचमूः—सेना को अतिक्रमण करनेवाला। खलपूः—खलिहान, सफाई करनेवाला।

१—धातु का अवयव संयोगपूर्व में न हो ऐसा जो उवर्णान्त धातु, तदन्त अनेकाच् अङ्ग को यण् होता है अजादि सुप् प्रत्यय परे रहते। सुलूः—अच्छा काटनेवाला। स्वभूः—ब्रह्मा। वर्षाभूः—मेंढक। २—'वर्षाभू' शब्दावयव उकार के स्थान में यण् आदेश होता है, अजादि सुप् परे रहते। दृन्भूः—वानर, सांप, वज्र, सूर्य। ३—दृन् कर और पुनःपूर्वक भू के उवर्ण को यण् होता है अजादि सुप् परे रहते। करभूः—हाथ से उत्पन्न हुआ। धाता—ब्रह्मा। ४—ऋवर्ण से परे जो नकार उसको णकार होता है। नप्ता—नाती, पौत्र।

र्थम् । नेनेह न । पिना । पितरौ । पितरः । पितरम् । शेषं धातृवत् । एवं जामात्रादयः । ना । नरौ ।

नृ च ६ । ४ । ६ ॥ 'नृ'[1] इत्येतस्य नामि वा दीर्घः स्यात् । नृणाम् । नृणाम् ।

गोतो णित् ७ । १ । ९० ॥ [2]ओकाराद्विहितं सर्वनामस्थानं णिद्वत्स्यात् । गौः । गावौ । गावः ।

औतोऽम्शसोः ६ । १ । ९३ ॥ [3]ओकारादम्शसोरचि परे आकार एकादेशः स्यात् । गाम् । गावौ । गाः । गवा । गवे । गोः-इत्यादि ।

रायो हलि ७ । २ । ८५ ॥ [4]रैशब्दस्याकारोऽन्तादेशः स्याद्धलि विभक्तौ । राः । रायौ । रायः । राभ्यामित्यादि । ग्लौः । ग्लावौ । ग्लावः । ग्लौभ्यामित्यादि ।

॥ इत्यजन्ताः पुँल्लिङ्गाः ॥



एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
पिता	पितरौ	पितरः	पितुः	पितृभ्याम्	पितृभ्यः
पितरम्	पितरौ	पितॄन्	पितुः	पित्रोः	पितॄणाम्
पित्रा	पितृभ्याम्	पितृभिः	पितरि	पित्रोः	पितृषु
पित्रे	पितृभ्याम्	पितृभ्यः	हे पितः !	हे पितरौ !	हे पितरः !

एवमेव भ्रातृ-जामात्रादीनामपि रूपाणि बोध्यानि ।

इत्यजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम् ।



जामाता—दामाद । ना-मनुष्य ।

१—नाम् पर में हो तो नृ शब्द को दीर्घ होता है, विकल्प से । २—ओकार से विहित (किया गया) जो सर्वनामस्थान वह णिद्वत् (णित् के समान) होता है । ३—औकार से अम् और शस् सम्बन्धी अच् पर में रहे तो पूर्व-पर के स्थान में आकार एकादेश होता है । ४—हलादि विभक्ति पर में रहे तो 'रै' शब्द को आकार अन्तादेश होता है (अर्थात् 'ऐ' को "आ" हो जाता है) ।

* अजन्तपुंल्लिङ्ग-प्रकरण समाप्त *



अथाजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।

रमा ।

औङ आपः ७ । १ । १८ ॥ [1]आबन्तादङ्गात्परस्यौङः शी स्यात् । औङित्यौकारविभक्तेः संज्ञा । रमे । रमाः ।

सम्बुद्धौ च ७ । ३ । १०६ ॥ [2]आप एकारः स्यात्सम्बुद्धौ । एङ्ह्रस्वादिति सम्बुद्धिलोपः । हे रमे । हे रमे । हे रमाः । रमाम् । रमे । रमाः ।

आङि चाऽऽपः ७ । ३ । १०५ ॥ [3]आङि ओसि च परे आबन्तस्याऽङ्गस्य एकारः स्यात् । रमया । रमाभ्याम् । रमाभिः ।

याडापः ७ । ३ । ११३ ॥ [4]आपः परस्य ङिद्वचनस्य याडागमः स्यात् । वृद्धिः । रमायै । रमाभ्याम् । रमाभ्यः । रमायाः । रमायाः । रमयोः । रमयोः । रमाणाम् । रमायाम् । रमासु । एवं दुर्गाम्बिकादयः ।

रमा—रमते विष्णुना सह—इति विग्रहे पचाद्यच्, 'अजाद्यतष्टाप्' इति टापि—अनुबन्धलोप, हल्ङ्यादिना सार्लोपे तत्सिद्धम् ।

रमायै—रमा-शब्दात् प्रातिपदिकत्वेन 'ङे' विभक्तौ, अनुबन्धलोपे, 'याडापः' इति याडागमे, अनुबन्धलोपे, 'वृद्धिरेचि' वृद्धौ कृतायां तत्सिद्धिः । अत्र आटश्चेति वृद्धिस्तु न शङ्क्या, प्रकृते आटोऽभावात् । 'सर्वस्यै' इत्यादावपि वृद्धिरेचीत्यनेनैव वृद्धिर्ज्ञेया । 'रमायाः' इत्यादावपि 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घ एव ज्ञेयः ।

रमायाम्—रमाशब्दात्-'ङि' विभक्तौ 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इति ङेरामि, 'याडापः' इति याटि, टकारस्य लोपे, 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धो कृतायां तत्सिद्धम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
रमा	रमे	रमाः	रमायाः	रमाभ्याम्	रमाभ्यः
रमाम्	रमे	रमाः	रमायाः	रमयोः	रमाणाम्
रमया	रमाभ्याम्	रमाभिः	रमायाम्	रमयोः	रमासु
रमायै	रमाभ्याम्	रमाभ्यः	हे रमे !	हे रमे !	हे रमाः !

एवं दुर्गा-अम्बिका-खट्वा-शाला-माला-बाला-श्रद्धा-मेधादीनामपि रूपाणि बोध्यानि ।

१—आबन्त अङ्ग से परे जो औङ् (औकार विभक्ति) उसको शी आदेश होता है । रमा—लक्ष्मी । २—सम्बुद्धि (सम्बोधन) परे रहे तो आबन्त अङ्ग के आकार को एकार होता है । ३—आङ् (टा) या ओस् विभक्ति पर मे हो तो आबन्त अङ्ग के आकार को एकार होता है । ४—आबन्त अङ्ग से पर मे जो ङिद्वचन (ङे, ङसि, ङस् , ङि) उनको याट्का आगम होता है ।

सर्वनाम्नः स्याड्-ह्रस्वश्च ७ । ३ । ११४ ॥ [1]आवन्तात्सर्वनाम्नः परस्य ङितः स्याट् स्यादापश्च ह्रस्वः । सर्वस्यै । सर्वस्याः । सर्वस्याः । सर्वासाम् । सर्वस्याम् । शेषं रमावत् । एवं विश्वादय आवन्ताः ।

विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ १ । १ । २८ ॥ [2]अत्र सर्वनामता वा स्यात् । उत्तरपूर्वस्यै । उत्तरपूर्वायै । तीयस्येति वा सर्वनामसंज्ञा । द्वितीयस्यै, द्वितीयायै । एवं तृतीया । अम्बार्थेति ह्रस्वः । हे अम्ब ! हे अक्क ! हे अल्ल ! जरा । जरसौ । जरे । इत्यादि । पक्षे रमावत् । गोपा विश्वपावत् । मतीः । मत्या ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
सर्वा	सर्वे	सर्वाः	सर्वस्याः	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्यः
सर्वाम्	सर्वे	सर्वाः	सर्वस्याः	सर्वयोः	सर्वासाम्
सर्वया	सर्वाभ्याम्	सर्वाभिः	सर्वस्याम्	सर्वयोः	सर्वासु
सर्वस्यै	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्यः	हे सर्वे !	हे सर्वे !	हे सर्वाः !

एवं विश्वा-आदयोऽपि बोध्याः ।

'विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ' इति वैकल्पिकसर्वनामसंज्ञाविधानेन–उत्तर-पूर्वा–शब्दात् सर्वनामसंज्ञापक्षे ङिति श्रामि स्याट्–सुटौ भविष्यतः । पक्षे च रमावत् रूपाणि बोध्यानि । यथा–उत्तरपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वायै इत्यादि । एवमेव द्वितीया, तृतीया–आदि-शब्दानामपि रूपाणि भवन्ति । 'अम्बा' शब्दः-रमावत् ।

आबन्त-स्त्रीलिङ्गो जरा शब्दः—

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
जरा	जरे जरसौ	जराः जरसः	जरायाः, जरसः	जराभ्याम्	जराभ्यः
जराम् जरसम्	जरे जरसौ	जराः जरसः	जरायाः जरसः	जरयोः जरसोः	जराणाम् जरसाम्
जरया जरसा	जराभ्याम्	जराभिः	जरायाम् जरसि	जरयोः जरसोः	जरासु
जरायै, जरसे	जराभ्याम्	जराभ्यः	हे जरे !	हे जरे ! हे जरसौ !	हे जराः ! हे जरसः !

१–आवन्त सर्वनाम से परे ङिद्वचन को स्याट् का आगम होता है और आप् को ह्रस्व भी हो जाता है । सर्वा—सब (स्त्री सामग्री इत्यादि) २–दिशावाची शब्दों को बहुव्रीहि समास में सर्वनामसंज्ञा विकल्प से होती है । उत्तरपूर्वा–ईशानकोण । द्वितीया–दूसरी । तृतीया–तीसरी । अम्बा–माता वा दुर्गा । अल्ला–माता । जरा–बुढ़ापा । गोपा–गोपी।

ङिति ह्रस्वश्च १।४।६॥ [1]इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ ह्रस्वौ च इवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदीसंज्ञौ स्तो ङिति। मत्यै, मतये। मत्याः। मत्याः। मतेः। मतेः।

इदुद्भ्याम् ७।३।११७॥ [2]नदीसंज्ञकाभ्यामिदुद्भ्यां परस्य ङेराम् स्यात्। मत्याम्, मतौ। शेषं हरिवत्। एवं बुद्ध्यादयः।

त्रि-चतुरोः स्त्रियां तिसृ-चतसृ ७।२।९९॥ [3]स्त्रीलिङ्गयोरेतावादेशौ स्तो विभक्तौ।

अचि र ऋतः ७।२।१००॥ [4]'तिसृ' 'चतसृ' एतयोर्ऋकारस्य

मत्याम्—मतीत्यस्य प्रातिपदिकत्वेन ङौ, अनुबन्धलोपे च कृते 'ङिति ह्रस्वश्च' इति नदीसंज्ञायाम् 'इदुद्भ्याम्—' इति ङेरामि कृते 'इको यणचि' इति यणादेशे तत्सिद्धम्। ननु मत्यामित्यत्र नदीसंज्ञापक्षे 'ङेराम्-नद्याम्नीभ्यः' इत्यनेनैव आमि सिद्धे इदुद्भ्यामित्यस्यारम्भो व्यर्थ इति नाशङ्कनीयम्, ङेरामित्यस्य गौर्यामित्यत्र, 'औत्' इत्यस्य च सख्यौ पत्यौ इत्यादौ चारितार्थ्येन प्रकृते 'औत्' इत्यस्य प्रवृत्त्यापत्तेः। सति त्वस्मिन् निरवकाशेनानेन औदित्यस्य बाध इति अभिप्रायेणास्यारम्भ इति।

एकव०	द्विव०	बहुव०
मतिः	मती	मतयः
मतिम्	मती	मतीः
मत्या	मतिभ्याम्	मतिभिः
मत्यै, मतये	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
मत्याः, मतेः	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
मत्याः, मतेः	मत्योः	मतीनाम्
मत्याम्, मतौ	मत्योः	मतिषु
हे मते !	हे मती !	हे मतयः !

एवमेव गति-भूति-धृति-कान्ति-दीप्ति-स्मृति-रुचि-बुद्धि-स्तुत्यादयो ह्रस्व-इकारान्ताः स्त्रीलिङ्गाः शब्दाः ज्ञेयाः।

१—ङिद्वचन विभक्ति पर में रहे तो इयङ् या उवङ् के स्थानी, स्त्रीशब्दावयव ईकार से भिन्न एवं नित्य स्त्रीलिङ्ग जो दीर्घ ईकार ऊकार और ह्रस्व जो इकार उकार, उनकी नदीसंज्ञा स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से होती है। २—नदीसंज्ञक ह्रस्व इकार, उकार से परे जो 'ङि' उसको आम् होता है। ३—विभक्ति पर मे रहे तो स्त्रीलिङ्ग में त्रि शब्द को तिसृ और चतुर् शब्द को चतसृ आदेश होता है। ४—अच् पर मे रहे तो तिसृ, चतसृ शब्दों के ऋकार के स्थान

रेफादेशः स्यादचि । गणदीर्घोत्वानामपवादः । तिस्रः । तिसृभिः । तिसृभ्यः । तिसृभ्यः । आमि नुट् ।

न तिसृचतसृ ६ । ४ । ४ ॥ [1]एतयोर्नामि दीर्घो न स्यात् । तिसृणाम् । तिसृषु । द्वे । द्वे । द्वाभ्याम् । द्वाभ्याम् । द्वाभ्याम् । द्वयोः । द्वयोः । गौरी । गौर्यौ । गौर्यः । हे गौरि ! गौर्यै-इत्यादि । एवं नद्यादयः । लक्ष्मीः । शेषं गौरीवत् । एवं तरीतन्त्र्यादयः । स्त्री । हे स्त्रि !

स्त्रियाः ६ । ४ । ७९ ॥ [2]स्त्रीशब्दस्येयङ् स्यादजादौ प्रत्यये परे । स्त्रियौ । स्त्रियः ।

वाऽम्शसोः ६ । ४ । ८० ॥ [3]अमि शसि च स्त्रिया इयङ् वा स्यात् । स्त्रियम्, स्त्रीम् । स्त्रियः, स्त्रीः । स्त्रिया । स्त्रियै । स्त्रियाः । स्त्रियाः । परत्वान्नुट् । स्त्रीणाम् । स्त्रियाम् । स्त्रीषु । श्रीः । श्रियौ । श्रियः ।

नेयङुवङ्स्थानावस्त्री १ । ४ । ४ ॥ [4]इयङुवङोः स्थितिर्ययोस्तावीदूतौ नदीसंज्ञौ न स्तो न तु स्त्री । हे श्रीः । श्रियै, श्रिये । श्रियाः, श्रियः ।

गुणदीर्घोत्वानामपवाद.— प्रथमायां 'ऋतो ङि–०' इति 'जसि च' इति वा प्राप्तं गुणं बाधते । एवं द्वितीयायां 'प्रथमयो. पूर्वसवर्णः' इति प्राप्तं दीर्घं बाधते । प्रियतिस्रः इत्यादौ 'ऋत उत्' इति प्राप्तं उत्वं बाधते इत्यर्थः ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
गौरी	गौर्यौ	गौर्यः	गौर्याः	गौरीभ्याम्	गौरीभ्यः
गौरीम्	गौर्यौ	गौरीः	गौर्याः	गौर्योः	गौरीणाम्
गौर्या	गौरीभ्याम्	गौरीभिः	गौर्याम्	गौर्योः	गौरीषु
गौर्यै	गौरीभ्याम्	गौरीभ्यः	हे गौरि !	हे गौर्यौ !	हे गौर्यः !

लक्ष्मी-शब्दस्यापि रूपाणि–एवंविधानि । केवलं 'सौ' विशेषो 'लक्ष्मीः' इति । एवमेव सरस्वती-नदी-ब्राह्मणी-कुमारी-सारङ्गी-कौष्ठी-दरी-सुन्दरी-वानरी-सखी-पुत्री-त्यादयः शब्दाः दीर्घेकारान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ज्ञेयाः ।

में रेफादेश होता है । तिस्रः–तीन स्त्रियां । चतस्रः–चार स्त्रियां ।

१–नाम् परे रहते तिसृ, चतसृ शब्दों के दीर्घ नहीं होता । द्वे–दो (स्त्रियां) । गौरी–शिवपत्नी (पार्वती) । तरीः–नौका । तन्त्री–वीणा । २–अजादि प्रत्यय पर में रहे तो 'स्त्री' शब्द के ईकार को इयङ् आदेश होता है । ३–अम् या शस् विभक्ति पर में रहे तो स्त्री शब्दावयव ईकार को इयङ विकल्प से होता है । श्रीः–लक्ष्मी । ४–स्त्री शब्द को छोड़कर (अलावा) इयङ् उवङ्स्थानीय एवं नित्यस्त्रीलिङ्ग जो दीर्घ ईकार ऊकार उनकी नदी-संज्ञा होती है ।

वाऽऽमि १।४।५॥ [1]इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा नदीसंज्ञौ स्तो न तु स्त्री । श्रीणाम्, श्रियाम् । श्रियि, श्रियाम् । धेनुर्मतिवत् ।

स्त्रियाञ्च ७।१।९६॥ [2]स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तवद्रूपं लभते ।

ऋन्नेभ्यो ङीप् ४।१।५॥ [3]ऋदन्तेभ्यो नान्तेभ्यश्च स्त्रियां ङीप् स्यात् । क्रोष्ट्री । गौरीवत् । भ्रूः—श्रीवत् । स्वयंभूः—पुंवत् ।

न षट्स्वस्रादिभ्यः ४।१।१०॥ [4]षट्सञ्ज्ञकेभ्यः स्वस्रादिभ्यश्च ङीप्टापौ न स्तः ।

स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा ।
याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः ॥

स्वसा । स्वसारौ । माता—पितृवत् । शसि मातॄः । द्यौर्गोवत् । राः—पुंवत् । नौर्ग्लौवत् ।

॥ इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥



अथाजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ।

अतोऽम् ७।१।२४॥ [5]अतोऽङ्गात् क्लीबात्स्वमोरम् स्यात् । **अमि पूर्वः** । ज्ञानम् । एङ्ह्रस्वादिति **हल्लोपः** । हे ज्ञान !

हल्लोपः—अत्र परत्वात् सोः—अमादेशपूर्वरूपयोः कृतयोः 'एङ्ह्रस्वादिति' मकारस्य लोप इत्यर्थः ।

इत्यजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।



१—आम् विभक्ति पर में रहे तो स्त्री-शब्द से भिन्न इयङ्—उवङ् स्थानी नित्यस्त्रीलिङ्ग जो ईकार, ऊकार उनकी नदीसंज्ञा विकल्प से होती है । धेनुः—नई ब्याई गाय । २—स्त्रीवाची (स्त्रीलिङ्ग में होनेवाला) क्रोष्टु शब्द तृजन्त के समान रूप को प्राप्त करता है । ३—स्त्रीलिङ्ग में ऋदन्त एवं नकारान्त शब्दों से ङीप् प्रत्यय होता है । क्रोष्ट्री—सिआरिन (गीदड़ी) । भ्रूः—भ्रुकुटि । स्वयम्भूः—परमेश्वर वा मायी । ४—षट्-संज्ञक एवं स्वस्रादि शब्दों से ङीप् और टाप् प्रत्यय नहीं होते हैं । स्वसा—बहिन (भगिनी) । तिस्रः—तीन । चतस्रः—चार । ननान्दा ननद (पतिभगिनी) । दुहिता (पुत्री) । याता—देवरानी, जेठानी—(देवर की या बड़ेकी स्त्री) माता—प्रसिद्ध हैं । ये सात स्वस्रादि हैं ।

* अजन्तस्त्रीलिङ्ग-प्रकरण समाप्त *



५—नपुंसक अदन्त अङ्ग से परे सु और अम् को अम् होता है ।

नपुंसकाच्च ७।१।१९॥ [1]क्लीबात्परस्यौङः शी स्यात्। भसंज्ञायाम्।

यस्येति च ६।४।१४८॥ [2]ईकारे तद्धिते च परे भस्येवर्णाऽवर्णयोर्लोपः स्यात्। इत्यल्लोपे प्राप्ते ❀ [3]**औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः।** ज्ञाने।

जश्शसोः शिः ७।१।२०॥ [4]क्लीबादनयोः शिः स्यात्।

शि सर्वनामस्थानम् १।१।४२॥ '[5]शि' इत्येतदुक्त—[सर्वनामस्थान] संज्ञं स्यात्।

नपुंसकस्य झलचः ७।१।७२॥ [6]झलन्तस्याऽजन्तस्य च क्लीबस्य नुम् स्यात् सर्वनामस्थाने।

मिदचोऽन्त्यात्परः १।१।४७॥ [7]अचां मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात्परस्तस्यैवान्तावयवो मित्स्यात्। उपधादीर्घः। ज्ञानानि। पुनस्तद्वत्। शेषं पुंवत्। एवं धनवनफलादयः।

ज्ञानानि—प्रातिपदिक-ज्ञानशब्दाज्जसि—'जश्शसोः शिः' इति जसः स्थाने श्यादेशे, 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञाया, 'मिदचोऽन्त्यापरः' इति बलेन 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमागमेऽनुबन्धलोपे, 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति दीर्घे सिद्धं रूपं ज्ञानानीति।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि	ज्ञानात्-द्	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानेभ्यः
ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि	ज्ञानस्य	ज्ञानयोः	ज्ञानानाम्
ज्ञानेन	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानैः	ज्ञाने	ज्ञानयोः	ज्ञानेषु
ज्ञानाय	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानेभ्यः	हे ज्ञान !	हे ज्ञाने !	हे ज्ञानानि !

एवमेव धन-वन-फल-पुष्प-मुख-वचन-आदयः शब्दाः ज्ञेयाः।

१–नपुंसक अङ्ग से पर मे जो औङ् (औ या औट्) उनको 'शी' आदेश होता है। २–ईकार और तद्धित पर में रहे तो भसंज्ञक इवर्ण और उवर्ण का लोप हो जाता है। ३–औङ् के स्थान में जो 'शी' वह पर मे रहे तो (भसंज्ञक इवर्ण, अवर्ण के) लोप का प्रतिषेध (निषेध) कहना चाहिये। ४–नपुंसक अङ्ग से परे जस् और शस् को 'शि' का आदेश होता है। ५–'शि' यह सर्वनामस्थानसंज्ञक होता है। ६–सर्वनामस्थान पर मे रहे तो झलन्त एवं अजन्त अङ्ग को नुम् का आगम होता है। ७–अचों के मध्य के अन्त्य अच् से परे और उसी (अन्त्य अच्) का अन्तिम अवयव मित्–संज्ञक होता है। धन, वन, फल—तीनों का अर्थ प्रसिद्ध है।

अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः ७ । १ । २५ ॥ [1]एभ्यः क्लीबेभ्यः स्वमोरद्-ड्डादेशः स्यात् ।

टेः ६ । ४ । १४३ ॥ [2]डिति भस्य टेर्लोपः स्यात् । कतरत्, कतरद् । कतरे । कतराणि । हे कतरत् । शेषं पुंवत् । एवं कतमत् । इतरत् । अन्यत् । अन्यतरत् । अन्यतमस्य त्वन्यतममित्येव । [3]**एकतरात्प्रतिषेधो वक्तव्यः**॥ । एकतरम् ।

ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य १ । २ । ४७ ॥ [4]अजन्तस्येत्येव [क्लीबे प्रातिपदिकस्याऽजन्तस्य ह्रस्वः स्यात्] । श्रीपं ज्ञानवत् ।

स्वमोर्नपुंसकात् ७ । १ । २३ ॥ [5]क्लीबादङ्गात्परयोः स्वमोर्लुक् स्यात् । वारि ।

इकोऽचि विभक्तौ ७ । १ । ७३ ॥ [6]इगन्तस्य क्लीबस्य नुम् स्यादचि

कतरत्-द्—कतरशब्दात् सौ, 'अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' इति सोरद्ड्डादेशे, अनुबन्धलोपे, 'यचि भम्' इति भसंज्ञायां, 'टेः' इत्यनेन टिलोपे 'कतरद्' इति । 'वावसाने' इति दस्य तकारेण 'कतरत्' इति सिद्ध्यति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
कतरत्, कतरद्	कतरे	कतराणि	कतरस्मात्, कतरस्माद्	कतराभ्याम्	कतरेभ्यः
कतरत्-द्	कतरे	कतराणि	कतरस्य	कतरयोः	कतरेषाम्
कतरेण	कतराभ्याम्	कतरैः	कतरस्मिन्	कतरयोः	कतरेषु
कतरस्मै	कतराभ्याम्	कतरेभ्यः	हे कतरत्-द् !	हे कतरे !	हे कतराणि !

एवमेव कतमत्-इतरत्-अन्यत्-अन्यतरच्छब्दानामपि रूपाणि बोध्यानि ।

'इकोऽचि विभक्तौ' इत्यत्राजग्रहणम् 'न लुमतेत्यस्या'नित्यत्वज्ञापकम् । तेन

१—नपुंसक लिङ्ग में डतर-आदि पाँचों से परे सु और अम् के स्थान में अद्ड् आदेश होता है । २–डित् (डकार इत्संज्ञक) प्रत्यय पर में रहे तो भसंज्ञक 'टि' का लोप होता है । कतरत्-दो मे से कौन । कतमत्—तीन या बहुतो मे से कौन । इतरत्-दूसरा । अन्यत्—अन्य । अन्यतरत्—दो में से एक । अन्यतमम्—इनमें से कोई एक । ३–एकतर शब्द से परे सु और अम् के स्थान मे अम् का निषेध कहना । ४—क्लीब में अजन्त प्रातिपदिक को ह्रस्व होता है । श्रीपम्—धन का रक्षक । ५—नपुंसक अङ्ग से पर में जो सु और अम् उनका लोप होता है । वारि-जल (पीना) । ६—अजादि विभक्ति पर में रहे तो नपुंसक

विभक्तौ । वारिणी । वारीणि । न लुमतेत्यस्यानित्यत्वात्पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः । हे वारे, हे वारि । घेर्ङितीति गुणे प्राप्ते—[१]**वृद्ध्यौत्त्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन।** वारिणे । वारिणः । वारिणः । वारिणोः । वारिणोः । नुमचिरेति नुट् । वारीणाम् । वारिणि । हलादौ हरिवत् ।

अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः ७ । १ । ७५ ॥ [२]एषामनङ् स्याट्टादावचि [स चोदात्तः] ।

अल्लोपोऽनः ६ । ४ । १३४ ॥ [३]अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपः स्यात् । दध्ना । दध्ने । दध्नः । दध्नः । दध्नोः । दध्नोः । दध्नाम् ।

पक्षे प्रत्ययलक्षणेन नुत्वमादाय 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इति गुणे सति 'हे वारे' इति सिद्धं रूपम्भवति । पक्षे 'हे वारि !' इति ।

वारिणे—वारि-शब्दात्-'ङे' विभक्तौ अनुबन्धलोपे 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायां 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमागमे प्राप्ते, 'घेर्ङिति' इति गुणे च प्राप्ते, परत्वाद्-घेर्ङितीति गुण एव प्राप्तः, 'वृद्ध्यौत्त्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वप्रतिषेधेन' इति वार्तिकबलेन पूर्वविप्रतिषेधेन नुमागमे, नकारस्य णत्वे च 'वारिणे' इति सिद्धम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
वारि	वारिणी	वारीणि	वारिणः	वारिभ्याम्	वारिभ्यः
वारि	वारिणी	वारीणि	वारिणः	वारिणोः	वारिणाम्
वारिणा	वारिभ्याम्	वारिभिः	वारिणि	वारिणोः	वारिषु
वारिणे	वारिभ्याम्	वारिभ्यः	हे वारे !, हे वारि !	हे वारिणी	हे वारीणि!

दध्ना—दधिशब्दात्-टा विभक्तौ-अनुबन्धलोपे, 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' इति-अनङि, अनुबन्धलोपे, 'दधन् आ' इति स्थिते, 'अल्लोपोऽनः' इत्यकारलोपे 'दध्ना' इति सिद्ध्यति ।

इगन्त अङ्ग से नुम् का आगम होता है ।

१—वृद्धि, औत्व, तृज्वद्भाव और गुण इन सबों की अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध (के नियम) से अर्थात् इनको बाधकर नुम् ही होता है । २—टा आदि अच् (टा आदि अच् इसलिए हैं कि टकारादि की चुटू आदि से इत्संज्ञा हो जाती है, अच् अवशिष्ट रह जाता है, यह नियम सर्वत्र है) पर में रहे तो अस्थि, दधि आदि शब्दों के अन्तावयव को अनङ् आदेश होता है और वह उदात्तसंज्ञक होता है । ३—अङ्ग का अवयव सर्वनामस्थान से भिन्न यजादि और स्वादिपरक जो 'अन्' उसके अकार का लोप होता है ।

विभाषा ङिश्योः ६।४।१३६॥ [1]अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरो योऽन् तस्याऽकारस्य लोपो वा स्यात् ङिश्योः परयोः। दध्नि, दधनि। शेषं वारिवत्। एवमस्थिसक्थ्यक्षि। सुधि। सुधिनी। सुधीनि। हे सुधे हे सुधि।

तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य ७।१।७४॥ [2]प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कमिगन्तं क्लीबं पुंवद्वा स्याट्टादावचि। सुधिया, सुधिनेत्यादि। मधु। मधुनी। मधूनि। हे मधो, हे मधु। सुलु। सुलुनी।

दध्नि, दधनि—दधि शब्दात्-ङौ, अनुबन्धलोपे, 'अस्थिदधि-०' इत्यादिना अनङि, अनुबन्धलोपे, 'विभाषा ङिश्योः'रित्यकारलोपे दध्नि, लोपाभावे 'दधनि' इति रूपद्वयं सिद्ध्यति।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
दधि	दधिनी	दधीनि	दध्नः	दध्नोः	दध्नाम्
दधि	दधिनी	दधीनि	दध्नि दधनि	दध्नोः	दधिषु
दध्ना	दधिभ्याम्	दधिभिः			
दध्ने	दधिभ्याम्	दधिभ्यः	हे दधि ! हे दधे !	हे दधिनी !	हे दधीनि !
दध्नः	दधिभ्याम्	दधिभ्यः			

एवमेव-अस्थि, सक्थि, अक्षि-आदि शब्दानामपि रूपाणि बोध्यानि।

एकव०	द्विव०	बहु०	एकव०	द्विव०	बहु०
सुधि	सुधिनी	सुधीनि	सुधियः सुधिनः	सुधिभ्याम्	सुधिभ्यः
सुधि	सुधिनी	सुधीनि	सुधियः सुधिनः	सुधियोः सुधिनोः	सुधियाम् सुधीनाम्
सुधिया सुधिना	सुधिभ्याम्	सुधिभिः	सुधियि सुधिनि	सुधियोः सुधिनोः	सुधिषु
सुधिये सुधिने	सुधिभ्याम्	सुधिभ्यः	हे सुधि ! हे सुधे !	हे सुधिनी !	हे सुधीनि !

१—ङि या शी पर मे रहे तो अङ्ग का अवयव यजादि, स्वादि-परक जो 'अन्' उसके अकार का विकल्प से लोप होता है। अस्थि—हड्डी। सक्थि—जङ्घा। अक्षि—आंख। सुधि—बुद्धिमान् कुल। २—प्रवृत्ति का निमित्त (कारण) एक हो तो भाषितपुंस्क (पुंल्लिङ्ग मे

मृदूनि। मृद्वा, मृदुनेत्यादि। धातृ। धातृणी। धातॄणि। हे धातः, हे धातृ। धात्रा, धातृणा। धातॄणाम्। एवं ज्ञात्रादयः।

एच इग्घ्रस्वादेशे १।१।४८॥ [1]आदिश्यमानेषु ह्रस्वेषु एच इगेव स्यात्। प्रद्यु। प्रद्युनी। प्रद्यूनि। प्रद्युनेत्यादि। प्ररि। प्ररिणी। प्ररीणि। प्ररिणा। **एकदेशविकृतमनन्यवत्।** प्रराभ्याम्। प्ररीणाम्। सुनु। सुनुनी। सुनूनि। सुनुनेत्यादि।

* इत्यजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् *

अथ हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम्।

हो ढः ८।२।३१॥ [2]हस्य ढः स्याज्झलि पदान्ते च। लिट्, लिड्। लिहौ। लिहः। लिहा। लिड्भ्याम्। लिट्त्सु, लिट्सु।

धातृशब्दस्य टा-ङसि-ङस्-ओस्-ङि विभक्तिषु सम्बोधने च विशेषो यथा—धातृणा—धात्रा। धात्रे—धातृणे। धातुः—धातृणः। धात्रोः—धातृणोः। धातरि—धातृणि। हे धातः, हे धातृ! इति।

इत्यजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

लिट्-लिड्—'लिह्' आस्वादने क्विपि, हल्ङ्यादिलोपे, पदान्तत्वाड्ढत्वे, 'वावसाने' इति चर्त्वविकल्पः। सपादसप्ताध्यायीस्थकार्यत्वात्प्रथमं हल्ङ्यादिलोपः।

लिट्त्सु—लिह्—शब्दात् सुपि, अनुबन्धलोपे, 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे, ढकारस्य जश्त्वेन डकारे, 'डःसि धुट्' इति धुडागमेऽनुबन्धलोपे, 'खरि च' इति चर्त्वेण धस्य तकारे, पुनः 'खरि च' इत्यनेन डस्य टकारे सिद्धं रूपं 'लिट्त्सु' इति। 'धुडभावे लिट्सु' इति।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
लिट् लिड्	लिहौ	लिहः	लिहा	लिड्भ्याम्	लिड्भिः
लिहम्	लिहौ	लिहः	लिहे	लिड्भ्याम्	लिड्भ्यः

कहे गये) इगन्त (इक् हो अन्त में जिसके ऐसे) नपुंसक शब्दस्वरूप को पुंवद्भाव (पुंल्लिङ्ग के समान रूप तथा कार्य) होता है। सुलु—अच्छा काटनेवाला, नाऊ वा खेतीहर। धातृ—धारण या पालन पोषण करनेवाला। ज्ञातृ—ज्ञानी कुल। १—आदिश्यमान ह्रस्वों के मध्य में एच् के स्थान में ह्रस्व इक् ही होता है। प्ररि—धनी कुल। सुनु—सुन्दर नौकायुक्त कुल।

२—झल्परक एवं पदान्त 'हकार' के स्थान में 'ढकार' होता है। लिट्—चाटनेवाला।

दादेर्धातोर्घः ८ । २ । ३२ ॥ [1]उपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः स्याज्झलि पदान्ते च ।

एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः ८ । २ । ३७ ॥ [2]धात्ववयवस्यैकाचो झषन्तस्य बशो भष् स्यात् से ध्वे पदान्ते च । धुक्, धुग् । दुहौ । दुहः । धुग्भ्याम् । धुक्षु ।

वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् ८ । २ । ३३ ॥ एषां हस्य वा घः स्याज्झलि पदान्ते च । ध्रुक्, ध्रुग्, ध्रुट्, ध्रुड् । द्रुहौ । द्रुहः । ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम् । ध्रुक्षु, ध्रुट्सु, [3]ध्रुट्त्सु । एवं—मुक्, मुग्, मुट्, मुड् इत्यादि ।

लिह.	लिड्भ्याम्	लिड्भ्यः	लिहि	लिहो.	लिट्त्सु-लिट्सु
लिहः	लिहोः	लिहाम्	हे लिट्-ड् !	हे लिहौ !	हे लिहः !

धुक्षु—दुह्शब्दात् सुपि, अनुबन्धलोपे, 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे, 'एकाचो-०' इत्यादिना दकारस्य धकारे, 'खरि च' इति चर्त्वेन घस्य ककारे, 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य षकारे, कषसंयोगेन क्षत्वे जाते सिद्धं रूपम् 'धुक्षु' इति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
धुक्-धुग्	दुहौ	दुहः	दुहः	धुग्भ्याम्	धुग्भ्यः
दुहम्	दुहौ	दुहः	दुहः	दुहोः	दुहाम्
दुहा	धुग्भ्याम्	धुग्भिः	दुहि	दुहोः	धुक्षु
दुहे	धुग्भ्याम्	धुग्भ्यः	हे धुक्, हे धुग् !	हे दुहौ !	हे दुहः !

ध्रुक्षु—इत्यादि । द्रुह् शब्दात्सुप्यनुबन्धलोपे 'वा द्रुह'-० इत्यादिना वैकल्पिकेन हकारस्य घकारे, 'खरि च' इति चर्त्वेन घस्य ककारे, 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे, 'ध्रुक्षु' इति । घकाराभावपक्षे 'होढः' इति हस्य ढत्वे, 'एकाचो-०' इति भष्भावे 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन ढस्य डकारे, तस्य चर्त्वे ध्रुट्सु । धुट्पक्षे 'ध्रुट्त्सु' इति त्रीणि रूपाणि भवन्ति ।

एक०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
ध्रुक्-ध्रुग्, ध्रुट्, ध्रुड्	द्रुहौ	द्रुहः	द्रुहा	ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्	ध्रुग्भिः, ध्रुड्भिः
द्रुहम्	द्रुहौ	द्रुहः	द्रुहे	ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्	ध्रुग्भ्यः, ध्रुड्भ्यः

१—झल् परे या पदान्त मे उपदेश अवस्था (प्रथम उच्चारणावस्था) मे जो दादि धातु का अवयव हकार उसको घकार होता है । २—सकार या ध्व परे या पदान्त मे जो धातु का अवयव एकाच्, झषन्त, तदवयव बश् को भष्भाव होता है । धुक्—दूहनेवाला । ३—झल्

धात्वादेः षः सः ६ । १ । ६४ ॥ [1]धातोरादेः षस्य सः स्यात् । स्नुक्, स्नुग् । स्नुट्, स्नुड् । एवं–स्निक्, स्निग् । स्निट्, स्निड् । विश्ववाट्, विश्ववाड् । विश्ववाहौ । विश्ववाहः । विश्ववाहम् । विश्ववाहौ ।

इग्यणः सम्प्रसारणम् १ । १ । ४५ ॥ [2]यणः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक् स सम्प्रसारणसंज्ञः स्यात् ।

वाह ऊठ् ६ । ४ । १३२ ॥ [3]भस्य वाहः सम्प्रसारणमूठ् स्यात् ।

सम्प्रसारणाच्च ६ । १ । १०८ ॥ [4]सम्प्रसारणादचि परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । एत्येधत्यूठ्स्विति वृद्धिः । विश्वौहः इत्यादि ।

चतुरनडुहोरामुदात्तः ७ । १ । ९८ ॥ [5]अनयोराम् स्यात्सर्वनामस्थाने परे ।

द्रुहः	घ्रुग्भ्याम् / घ्रुड्भ्याम्	घ्रुग्भ्यः / घ्रुड्भ्यः	द्रुहि	द्रुहोः	घ्रुक्षु-घ्रुट्त्सु-घ्रुट्सु
द्रुहः	द्रुहोः	द्रुहाम्	हे घ्रुक् ! हे घ्रुग् ! / हे घ्रुट् ! हे घ्रुड् !	हे द्रुहौ !	हे द्रुहः !

एवमेव ष्णुह् ष्णिह्-शब्दावपि ज्ञेयौ ।

विश्वौहः— विश्ववाह्–शब्दाच्छसि, 'वाह ऊठ्' इत्यनेन-ऊठि, सम्प्रसारणे, 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे, 'एत्येधत्यूठ्सु' इति वृद्धौ, सस्य रुत्वे विसर्गे च तत्सिद्धिः ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
विश्ववाट्-ड्	विश्ववाहौ	विश्ववाहः	विश्वौहः	विश्वौहोः	विश्वौहाम्
विश्ववाहम्	विश्ववाहौ	विश्वौहः	विश्वौहि	विश्वौहोः	विश्ववाट्त्सु / विश्ववाट्सु
विश्वौहा	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भिः			
विश्वौहे	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भ्यः	हे विश्ववाट् ! / हे विश्ववाट् !	हे विश्ववाहौ	हे विश्ववाहः
विश्वौहः	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भ्यः			

पर में हो या पदान्त में जो द्रुह्, मुह्, ष्णुह् या ष्णिह् सम्बन्धी हकार उसको घकार विकल्प से होता है । ध्रुक् वैर करनेवाला । मुक्–मोहनेवाला ।

१—धातु के आदि के षकार का सकार होता है । स्निक्–प्यार करनेवाला । विश्ववाट्–संसारका भार ढोनेवाला । २–यण् के स्थान में प्रयुज्यमान (किया गया) 'इक्' सम्प्रसारण-संज्ञक होता है । ३—भसंज्ञक वाह् शब्दावयव वकार को ऊठ् सम्प्रसारण होता है । ४—सम्प्रसारण से अच् पर में हो तो पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है । ५—सर्वनामस्थान पर में रहे तो चतुर् और अनडुह् शब्द को आम् होता है (मित् होने से अन्त्य अच् से पर में होता है) ।

सावनडुहः ७ । १ । ८२ ॥ [1]अस्य नुम् स्यात् सौ परे । अनड्वान् ।

अम् सम्बुद्धौ ७ । १ । ९९ ॥ [2]चतुरनडुहोरम् स्यात् सम्बुद्धौ । हे अनड्वन् । हे अनड्वाहौ । हे अनड्वाहः । अनडुहः । अनडुहा ।

वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ८ । २ । ७२ ॥ [3]सान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात्पदान्ते । अनडुद्भ्यामित्यादि । सान्तेति किम् ? विद्वान् । पदान्तेति किम् ? स्रस्तम् । ध्वस्तम् ।

सहेः साडः सः ८ । ३ । ५६ ॥ [4]साड्रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात् । तुराषाट्, तुराषाड् । तुरासाहौ । तुरासाहः । तुराषाड्भ्यामित्यादि ।

दिव औत् ७ । १ । ८४ ॥ [5]दिविति प्रातिपदिकस्यौत्स्यात्सौ परे । सुद्यौः । सुदिवौ ।

अनड्वान्—अनडुह् शब्दात् सौ 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इति—आमि, 'सावनडुहः' इति नुमि, अनुबन्धलोपे, 'अनडुह् आन् सु' इति स्थिते विभक्तेरुकारस्य लोपे, हल्ङ्याादिना सस्य लोपे, 'संयोगशास्त्रस्य दृष्ट्या 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति शास्त्रबलेन संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपाभावे 'इको यणचि' इति यणा वकारे कृते तत्सिद्धम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
अनड्वान्	अनड्वाहौ	अनडवाहः	अनडुहः	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भ्यः
अनड्वाहम्	अनड्वाहौ	अनडुहः	अनडुहः	अनडुहोः	अनडुहाम्
अनडुहा	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भिः	अनडुहि	अनडुहोः	अनडुत्सु
अनडुहे	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भ्यः	हे अनड्वन् !	हे अनड्वाहौ !	हे अनड्वाहः !
एकव०	द्विव०	बहु०	एकव०	द्विव०	बहुव०
सुद्यौः	सुदिवौ	सुदिवः	सुदिवः	सुद्युभ्याम्	सुद्युभ्यः
सुदिवम्	सुदिवौ	सुदिवः	सुदिवः	सुदिवोः	सुदिवाम्
सुदिवा	सुद्युभ्याम्	सुद्युभिः	सुदिवि	सुदिवोः	सुद्युषु
सुदिवे	सुद्युभ्याम्	सुद्युभ्यः	हे सुद्यौः !	हे सुदिवौ !	हे सुदिवः !

१—'सु' विभक्ति पर में रहे तो अनडुह् शब्द को नुम् का आगम होता है। अनड्वान्-बैल। २—सम्बुद्धि पर में रहे तो चतुर् और अनडुह् शब्द को 'अम्' का आगम होता है। ३—पदान्त में वर्तमान जो सान्त (सकारान्त) वसु—प्रत्ययान्त तथा स्रंस्वादियों को दकार होता है। विद्वान्—पण्डित। स्रस्तम्—गिरा पड़ा। ध्वस्तम्—नष्टभ्रष्ट। ४—साड् रूप सह के सकार के स्थान में मूर्धन्य षकार होता है। तुराषाड्-इन्द्र। ५—सु परे रहते दिव् शब्द को औकार अन्तादेश होता है (अर्थात् वकार के स्थान में औकार होता है)। सुद्यौः—स्वच्छ आकाश।

दिव उत् ६।१।१३१॥ [1]दिवोऽन्तादेश उकारः स्यात् पदान्ते। मृद्युभ्यामित्यादि। चत्वारः। चतुरः। चतुर्भिः। चतुर्भ्यः। चतुर्भ्यः।

षट्चतुर्भ्यश्च ७।१।५५॥ [2]षट्संज्ञकेभ्यश्चतुरश्च परस्याऽऽमो नुडागमः स्यात्।

रषाभ्यां नो णः समानपदे ८।४।१॥ [[3]रेफषकाराभ्यां परस्य नस्य णः स्यादेकपदे]।

अचो रहाभ्यां द्वे ८।४।४६॥ [4]अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः। चतुर्ण्णाम्। चतुर्णाम्।

रोः सुपि ८।३।१६॥ [5]सप्तमीबहुवचने रोरेव विसर्जनीयो नान्यरेफस्य। षत्वम्। षस्य द्वित्वे प्राप्ते।

शरोऽचि ८।४।४९॥ [6]अचि परे शरो न द्वे स्तः। चतुर्षु।

मो नो धातोः ८।२।६४॥ [7]धातोर्मस्य नः स्यात् पदान्ते। प्रशान्।

किमः कः ७।२।१०३॥ [8]किमः कः स्याद्विभक्तौ। कः। कौ।

चतुर्णाम्—चतुर्शब्दात् आमि, 'षट्चतुर्भ्यश्च' इति नुडागमे अनुबन्धलोपे, 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' इति नस्य णत्वे, 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति णकारस्य द्वित्वपक्षे चतुर्ण्णाम्, द्वित्वाभावे तु 'चतुर्णाम्' इति रूपद्वयं भवति।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
कः	कौ	के	कस्मात्-द्	काभ्याम्	केभ्यः
कम्	कौ	कान्			
केन	काभ्याम्	कैः	कस्य	कयोः	केषाम्
कस्मै	काभ्याम्	केभ्यः	कस्मिन्	कयोः	केषु

स्यदादीनां सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः (पूर्वमेवोक्तः)।

१—पदान्त में स्थित दिव् शब्द के वकार के स्थान में उकार अन्तादेश होता है। २—षट् संज्ञक शब्दों से और चतुर् शब्द से परे आम् को नुट् का आगम होता है। ३—समानपद (एक पद) में स्थित रेफ और षकार से परे जो नकार उसको णकार होता है। ४—अच् से पर में स्थित रेफ या हकार से परे यर् को विकल्प से द्वित्व होता है। ५—सप्तमी का बहुवचन सुप् पर में रहे तो रु के ही रेफ का विसर्ग होता है, अन्य रेफ का नहीं। ६—'अच्' पर में रहे तो 'शर्' को द्वित्व नहीं होता। ७—पदान्त में स्थित धातु सम्बन्धी मकार को नकार होता है। प्रशान्–शान्त। ८—विभक्ति पर में रहे तो 'किम्' के स्थान में 'क' आदेश होता है। कः–कौन।

के । [कम् । कौ । कान्] इत्यादि । शेषं सर्ववत् ।

इदमो मः ७ । २ । १०८ ॥ [1]इदमो दस्य मः स्यात् सौ परे । त्यदाद्यत्वापवादः ।

इदोऽय् पुंसि ७ । २ । १११ ॥ [2]इदम इदोऽय् स्यात् सौ पुंसि । [मोर्लोपः] । अयम् । त्यदाद्यत्वे ।

अतो गुणे ६ । १ । ९७ ॥ [3]अपदान्तादतो गुणे परतः पररूपमेकादेशः स्यात् ।

दश्च ७ । २ । १०९ ॥ [4]इदमो दस्य मः स्याद्विभक्तौ । इमौ । इमे । त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः ।

अनाप्यकः ७ । २ । ११२ ॥ [5]अककारस्येदम इदोऽन् स्यादापि विभक्तौ । आविति प्रत्याहारः । अनेन ।

हलि लोपः ७ । २ । ११३ ॥ [6]अककारस्येदम इदो लोपः स्यादापि हलादौ । [7]**नाऽनर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे ।**

आद्यन्तवदेकस्मिन् १ । २ । २१ ॥ [8]एकस्मिन्क्रियमाणं कार्यमादाविवाऽन्त इव स्यात् । सुपि चेति दीर्घः । आभ्याम् ।

अनेन—इदं शब्दात्–'टा' विभक्तौ 'त्यदादीनामः' इत्यत्वे, पररूपे, 'अनाप्यकः' इति इद्भागस्यानादेशे, 'अतो गुणे' इति पररूपे, 'टाङसिङसामिनात्स्याः' इति टा–इत्यस्येनादेशे गुणे कृते 'अनेन' इति सिद्धं भवति ।

नाऽनर्थके—अनर्थकेऽलोन्त्यसूत्रं न प्रवर्तते, अभ्यासविकारे तु–अनर्थके प्रवर्तते । यथा 'बिभर्ति'—इति ।

आभ्याम्—इद शब्दाद् भ्यामि, त्यदाद्यत्वे पररूपे च कृते, 'हलि लोपः'

१—'सु' विभक्ति पर मे रहे तो इदम् के दकार को मकार होता है (त्यदादीनामः का बाधक सूत्र है)। २—'सु' विभक्ति पर मे हो तो 'इदम्' शब्दावयव इद् को 'अय्' आदेश होता है। अयम्–यह। ३—पदान्तभिन्न अकार से गुण पर में रहे तो पूर्व-पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है। ४—विभक्ति पर में रहे तो इदम् के दकार को मकार होता है। इमौ–ये दोनों। इमे–ये सब। ५–आप् (अर्थात् तृतीया के टा से सुप् तक की कोई विभक्ति) पर में रहे तो ककाररहित इदम् शब्द के 'इद्' के स्थान मे अन् आदेश होता है। ६—हलादि आप् (तृतीयादि) विभक्ति पर में रहे तो ककार-रहित 'इदम्' शब्द के इद् का लोप होता है। ७—अभ्यास के विकार (रूपान्तरोत्पत्ति) को छोड़कर अनर्थक में अलोऽन्त्यस्य सूत्रादिष्ट विधि नहीं होती है। ८—एकी (असहाय) के विषय में किया जाने वाला कार्य आदि की तरह और अन्त की तरह होता है।

नेदमदसोरकोः ७ । १ । ११ ॥ [1]अककारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न स्यात् । एभिः । अस्मै । [आभ्याम्] । एभ्यः । अस्मात् । [अभ्याम् । एभ्यः] । अस्य । अनयोः । एषाम् । अस्मिन् । अनयोः । एषु ।

द्वितीयाटौस्स्वेनः २ । ४ । ३४ ॥ [2]द्वितीयायां टौसोश्च परत इदमेतदोरेनादेशः स्यादन्वादेशे । किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानमन्वादेशः[3] । यथा अनेन व्याकरणमधीतमेनं छन्दोऽध्यापयेति । अनयोः पवित्रं कुलमेनयोः प्रभूतं स्वमिति । एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एनयोः । एनयोः । राजा ।

न ङिसम्बुद्धयोः ८ । २ । ८ ॥ [4]नस्य लोपो न स्यान्ङौ सम्बुद्धौ च । हे राजन् । ॐ[5]**ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः ।** ब्रह्मनिष्ठः । राजानौ । राजानः । राज्ञः ।

इतीद्मागस्य लोपे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इति बलेनान्त्यस्यैव स्यादित्याशङ्कायां नानर्थके लोन्त्यविधिरिति नियमेनालोन्त्यस्याप्राप्तौ–इद्मागस्य लोपे, अवशिष्टाकारस्य 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति सहकारेण सुपि चेति दीर्घे सिद्धम् आभ्यामिति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
अयम्	इमौ	इमे	अस्मात् / अस्माद्	आभ्याम्	एभ्यः
इमम्	इमौ	इमान्			
अनेन	आभ्याम्	एभिः	अस्य	अनयोः	एषाम्
अस्मै	आभ्याम्	एभ्यः	अस्मिन्	अनयो.	एषु

अन्वादेशे–अमौट्छस्टा–ओस् विभक्तिषु भिन्नान्यपि रूपाणि—

एनम्, एनौ, एनान्, एनेन, एनयोः, एनयोः ।

१—ककार-रहित इदम् और अदस् शब्द से पर मे जो भिस् उसको ऐस् आदेश नहीं होता । २—द्वितीया विभक्ति या टा या ओस् पर में रहे तो इदम् और एतद् शब्द के स्थान में एन आदेश होता है अन्वादेश में । ३—अनु-पश्चाद् आदेशः-अन्वादेशः । किसी कार्य के करने में किसी को प्रवृत्त करा दिया जाय (और वह उसमे लग गया हो) फिर उसी को अन्य कार्य के लिए आज्ञा देने का नाम अन्वादेश है । जैसे—इसने व्याकरण पढ़ लिया इसको छन्दःशास्त्र पढाओ । ४—ङि या सम्बुद्धि पर में रहे तो नकार का लोप नहीं होता है । ५—जिस ङि विभक्ति से पर में कोई पद (उत्तरपद) हो, ऐसी ङि विभक्ति पर में रहे तो नकारलोपके निषेध का प्रतिषेध कहना चाहिये । अर्थात् 'न ङिसम्बुद्धयोः' निषेध नहीं होता किन्तु लोप ही हो जाता है । ब्रह्मनिष्ठः–ब्रह्म-ईश्वर में प्रेम करनेवाला ।

नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति ८ । २ । २ ॥ [1]सुब्विधौ स्वरविधौ संज्ञाविधौ कृति तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धो नान्यत्र—राजाश्व इत्यादौ । इत्यसिद्धत्वादात्वमेत्वमैस्त्वञ्च न । राजभ्याम् । राजभिः । राजभ्यः । राज्ञि, राजनि । राजसु । यज्वा । यज्वानौ । यज्वानः ।

न संयोगाद्वमन्तात् ६ । ४ । १३७ ॥ [2]वकारमकारान्तसंयोगात्परस्याऽनोऽकारस्य लोपो न स्यात् । यज्वनः । यज्वना । यज्वभ्याम् । ब्रह्मणः । ब्रह्मणा ।

इन्हन्पूषार्यम्णां शौ ६ । ४ । १२ ॥ [3]एषां शावेवोपधाया दीर्घो नाऽन्यत्र । इति निषेधे प्राप्ते ।

आत्वमेत्वमैस्त्वं च न—राजभ्यामित्यत्रात्वम् । राजभिरित्यत्रैत्वम् । राजभ्यः इत्यत्रैस्त्वं च नेत्यर्थः ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
राजा	राजानौ	राजानः	राज्ञः	राजभ्याम्	राजभ्यः
राजानम्	राजानौ	राज्ञः	राज्ञः	राज्ञोः	राज्ञाम्
राज्ञा	राजभ्याम्	राजभिः	राज्ञि, राजनि	राज्ञोः	राजसु
राज्ञे	राजभ्याम्	राजभ्यः	हे राजन् !	हे राजानौ !	हे राजानः !

यज्वनः—यज्वन्–शब्दात् प्रातिपदिकत्वेन शसि अनुबन्धलोपे, 'यचि भम्'—इति भत्वेन 'अल्लोपोऽनः' इत्यनोऽकारस्य लोपे प्राप्ते, 'न संयोगाद् वमन्तात्' इति निषेधे, शकारस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'यज्वनः' इति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
यज्वा	यज्वानौ	यज्वानः	यज्वनः	यज्वभ्याम्	यज्वभ्यः
यज्वानम्	यज्वानौ	यज्वनः	यज्वनः	यज्वनोः	यज्वनाम्
यज्वना	यज्वभ्याम्	यज्वभिः	यज्वनि	यज्वनोः	यज्वसु
यज्वने	यज्वभ्याम्	यज्वभ्यः	हे यज्वन् !	हे यज्वानौ !	हे यज्वानः

एवमेव ब्रह्मन्–शब्दस्यापि बोध्यानि ।

१—सुप्–विधि, स्वर–विधि, संज्ञा–विधि और कृत्–प्रत्यय सम्बन्धी तुग्–विधि में भी नकार का लोप असिद्ध होता है किन्तु अन्यत्र नहीं । यज्वा—यज्ञकर्ता । २—वकारान्त, मकारान्त संयोग से परे जो 'अन्'–सम्बन्धी अकार, उसका लोप नहीं होता है । ३—केवल 'शि' पर में हो तो इन्, हन्, पूषन् और अर्यमन् शब्दों की उपधा को दीर्घ होता है, अन्यत्र नहीं ।

सौ च ६ । ४ । १३ ॥ [1]इन्नादीनामुपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सौ परे । वृत्रहा । हे वृत्रहन् ।

एकाजुत्तरपदे णः ८ । ४ । १२ ॥ [2]एकाजुत्तरपदं यस्य तस्मिन्समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिस्थस्य नस्य णः स्यात् । वृत्रहणौ ।

हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ७ । ३ । ५४ ॥ [3]ञिति णिति च प्रत्यये नकारे च परे हन्तेर्हकारस्य कुत्वं स्यात् । वृत्रघ्नः—इत्यादि । एवं शार्ङ्गिन् । यशस्विन् । अर्यमन् । पूषन् ।

मघवा बहुलम् ६ । ४ । १२८ ॥ [4]मघवन्शब्दस्य वा 'तृ' इत्यन्तादेशः स्यात् । ऋ इत् ।

उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ७ । १ । ७० ॥ [5]अधातोरुगितो नलोपिनोऽञ्चतेश्च नुमागमः स्यात्सर्वनामस्थाने परे । मघवान् । मघवन्तौ ।

वृत्रघ्नः—वृत्रहन्-शब्दात्-शसि-अनुबन्धलोपे, 'अल्लोपोऽनः' इति हकारोत्तरवर्त्यकारस्य लोपे, 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' इति हस्य घकारे, सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'वृत्रघ्नः' इति सिद्धम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
वृत्रहा	वृत्रहणौ	वृत्रहणः	वृत्रघ्नः	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभ्यः
वृत्रहणम्	वृत्रहणौ	वृत्रघ्नः	वृत्रघ्नः	वृत्रघ्नोः	वृत्रघ्नाम्
वृत्रघ्ना	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभिः	वृत्रघ्नि, वृत्रहणि	वृत्रघ्नोः	वृत्रहसु
वृत्रघ्ने	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभ्यः	हे वृत्रहन् !	हे वृत्रहणौ !	हे वृत्रहणः !

एवमेव शार्ङ्गिन्-यशस्विन्-अर्यमन्-पूषन्-शब्दानामपि रूपाणि ज्ञेयानि ।

मघवान्, मघवा—मघवन्-शब्दात् सौ 'मघवा बहुलम्' इति 'तृ' अन्तादेशे, 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमि, अनुबन्धलोपे, हल्ङ्यादिना सोर्लोपे,

---

१—सम्बुद्धि निमित्तक 'सु' पर मे रहे तो इन्, हन् आदि की उपधा को दीर्घ होता है । वृत्रहा—इन्द्र । २—एक अच् है उत्तरपद मे जिसके, ऐसे समास के पूर्वपद मे स्थित जो निमित्त (रेफ, षकार) उससे परे प्रातिपदिकान्त नुम् और विभक्तिस्थ नकार को णकार होता है समानपद (एकपद) मे । ३—ञित (ञकार इत्संज्ञक) णित् (णकार इत्संज्ञक) प्रत्यय पर में रहे या नकार पर हो तो हन् धातु के हकार को कुत्व होता है । शार्ङ्गी—धनुर्धारी भगवान् । अर्यमा देवविशेष । पूषा—सूर्य । ४—मघवन् शब्द को विकल्प से 'तृ' अन्तादेश होता है । ५—सर्वनामस्थान-संज्ञक कोई विभक्ति पर में रहे तो धातु से भिन्न

मघवन्तः । हे मघवन् । मघवद्भ्याम् । तृत्वाऽभावे मघवा । सुटि—राजवत् ।

श्वयुवमघोनामतद्धिते ६ । ४ । १३३ ॥ [1]अन्नन्तानां भसंज्ञकानामेषामतद्धिते परे सम्प्रसारणं स्यात् । मघोनः । मघवभ्याम् । एवं श्वन् । युवन् ।

न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् ६ । १ । ३७ ॥ [2]सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न स्यात् । इति यकारस्य नेत्वम् । अत एव ज्ञापकादन्त्यस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणम् । यूनः । यूना । युवभ्याम् इत्यादि ।

'संयोगान्तस्य लोपः' इति तकारलोपे, तस्य च बहुलग्रहणादसिद्धत्वाभावेन 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति दीर्घे 'मघवान्' इति । तृत्वाभावे तु नलोपेन 'मघवा' इति सिद्धयति ।

मघोनः—मघवन्-शब्दाच्छसि अनुबन्धलोपे, 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इति सम्प्रसारणे, सम्प्रसारणाच्चेति पूर्वरूपे, 'आद् गुणः' इति गुणे, तस्य रुत्वे विसर्गे च मघोनः इति ।

मघवन्-शब्दस्य तृत्वे, तृत्वाभावे च सर्वविभक्तिषु रूपाणि भवन्ति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
मघवान्	मघवन्तौ	मघवन्तः	मघवा	मघवानौ	मघवानः
मघवन्तम्	मघवन्तौ	मघवतः	मघवानम्	मघवानौ	मघोनः
मघवता	मघवद्भ्याम्	मघवद्भिः	मघोना	मघवभ्याम्	मघवभिः
मघवते	मघवद्भ्याम्	मघवद्भ्यः	मघोने	मघवभ्याम्	मघवभ्यः
मघवतः	मघवद्भ्याम्	मघवद्भ्यः	मघोनः	मघवभ्याम्	मघवभ्यः
मघवनः	मघवतोः	मघवताम्	मघोनः	मघोनोः	मघोनाम्
मघवति	मघवतोः	मघवत्सु	मघोनि	मघोनोः	मघवसु
हे मघवन् !	हे मघवन्तौ !	हे मघवन्तः !	हे मघवन् !	हे मघवानौ !	हे मघवानः !

एवं श्वन्-युवन् शब्दयोरपि रूपाणि । तथाहि—श्वा, श्वानौ, श्वानः । श्वानम्, श्वानौ, शुनः । शुना, श्वभ्याम् इत्यादि ।

युवा, युवानौ, युवानः । युवानम्, युवानौ, यूनः । यूना, युवभ्याम्, युवभिः । यूने इत्यादि बोध्यम् ।

यूनः—युवन् शब्दाच्छसि-अनुबन्धलोपे, 'युवन्-अस्' इति स्थिते, 'श्वयुवम-

---

उगित् और नलोपी अञ्च् धातु से नुम् का आगम होता है । मघवान्—इन्द्र ।

१—तद्धित से भिन्न प्रत्यय पर में रहे तो अन्नन्त भसंज्ञक श्वन्, युवन्, मघवन् शब्दों (शब्दनिष्ठ वकारों) को सम्प्रसारण होता है । श्वा—कुत्ता । युवा—युवक । २—सम्प्रसारण

अर्वा । हे अर्वन् ।

अर्वणस्त्रसावनञः ६ । ४ । १२७ ॥ [1]नञा रहितस्याऽर्वन्नित्यस्याऽङ्गस्य 'तृ' इत्यन्तादेशः स्यात् सौ । अर्वन्तौ । अर्वन्तः । अर्वद्भ्यामित्यादि ।

पथिमथ्यृभुक्षामात् ७ । १ । ८५ ॥ [2]एषामाकारः स्यात् सौ परे ।

इतोऽत्सर्वनामस्थाने ७ । १ । ८६ ॥ [3]पथ्यादेरिकारस्याऽकारः स्यात्सर्वनामस्थाने परे ।

थो न्थः ७ । १ । ८७ ॥ [4]पथिमथोस्थस्य न्थादेशः स्यात् सर्वनामस्थाने परे । पन्थाः । पन्थानौ । पन्थानः ।

भस्य टेर्लोपः ७ । १ । ८८ ॥ [5]भसञ्ज्ञकस्य पथ्यादेष्टेर्लोपः स्यात् । पथः । पथा । पथिभ्याम् । एवं मथिन् । ऋभुक्षिन् ।

घोनामतद्धिते' इति वकारस्य सम्प्रसारणे, सम्प्रसारणाच्चेति पूर्वरूपे, 'अकः सवर्णे दीर्घः'-इति दीर्घे, 'यून्-अस्' इत्यवस्थायां पुनः यकारस्य रुत्वे प्राप्तस्य सम्प्रसारणस्य न 'सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इति निषेधे, रुत्वे विसर्गे च 'यूनः' इति सिद्धम् ।

पन्थाः—पथिन्-शब्दात्सौ 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' इति नकारस्यात्वे, 'इतोत्सर्वनामस्थाने' इति थकारोत्तरनिष्ठ-इकारस्य अकारे, 'थो न्थः' इति थस्य न्थादेशे, 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे, सकारस्य रुत्वे विसर्गे च पन्थाः इति सिद्धम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
पन्थाः	पन्थानौ	पन्थानः	पथः	पथिभ्याम्	पथिभ्यः
पन्थानम्	पन्थानौ	पथः	पथः	पथोः	पथाम्
पथा	पथिभ्याम्	पथिभिः	पथि	पथोः	पथिषु
पथे	पथिभ्याम्	पथिभ्यः	हे पन्थाः !	हे पन्थानौ !	हे पन्थानः

एवं मथिन्, ऋभुक्षिन्-आदि शब्दानामपि रूपाणि बोध्यानि ।

पर में हो तो पूर्व यण् को सम्प्रसारण नहीं होता है। अर्वा–घोड़ा।

१–'सु' विभक्ति को छोड़कर (अन्यत्र) नञ्-रहित 'अर्वन्' शब्द को 'तृ' अन्तादेश होता है। २–'सु' विभक्ति पर में पथिन्, मथिन् और ऋभुक्षिन् शब्दों को आकार अन्तादेश होता है। ३—सर्वनामस्थानसंज्ञक विभक्ति पर में रहे तो पथिन् आदि शब्दों के इकार को अकार अन्तादेश होता है। ४—सर्वनामस्थान विभक्ति पर में रहे तो पथिन् और मथिन् के 'थकार' के स्थान में 'न्थ' आदेश होता है। पन्थाः–रास्ता। ५—भसंज्ञा वाले पथिन् आदि शब्दों की 'टि' (अन्त्य अच्) का लोप होता है। मन्थाः—मथनी, 'रही'। ऋभुक्षा–इन्द्र।

ष्णान्ता षट् १ । १ । २४ ॥ [1]षान्ता नान्ता च सङ्ख्या षट्संज्ञा स्यात् । पञ्चन्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । पञ्च । पञ्च । पञ्चभिः । पञ्चभ्यः । पञ्चभ्यः । नुट् ।

नोपधायाः ६ । ४ । ७ ॥ [2]नान्तस्योपधायाः दीर्घः स्यादामि परे । पञ्चानाम् । पञ्चसु ।

अष्टन आ विभक्तौ ७ । २ । ८४ ॥ [3]अष्टन आत्वं वा स्याद्धलादौ विभक्तौ ।

अष्टाभ्य औश् ७ । १ । २१ ॥ [4]कृताऽऽकारादष्टनः परयोर्जश्शसोरौश् स्यात् । 'अष्टभ्य' इति वक्तव्ये कृताऽऽत्वनिर्देशो जश्शसोर्विषये आत्वं ज्ञापयति । अष्टौ । अष्टौ । अष्टाभिः । अष्टाभ्यः । अष्टाभ्यः । अष्टानाम् । अष्टासु । आत्वाऽभावे अष्ट, अष्ट इत्यादि पञ्चवत् ।

ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च ३ । २ । ५९ ॥ [5]एभ्यः क्विन् स्यात्, अञ्चेः सुप्युपपदे, युजिक्रुञ्चोः केवलयोः । क्रुञ्चेर्नलोपाऽभावश्च निपात्यते । कनावितौ ।

अष्टौ—अष्टन्-शब्दात्-जसि 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यात्वे, अष्ट + आ + जस् इति स्थिते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे 'अष्टाभ्य औश्' इति जसः औशि, अनुबन्धलोपे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ कृतायां तत्सिद्धिः ।

अष्टानाम्—अष्टन् शब्दाद् आमि 'ष्णान्ता षट्' इति षट्संज्ञा, षट्चतुर्भ्यश्चेति नुडागमे, अनुबन्धलोपे, 'नोपधाया.' इत्युपधादीर्घे, नलोपः प्रातिपदिकान्तस्येति नकारलोपे 'अष्टानाम्' इति ।

प्र०	द्वि०	तृ०
अष्टौ (अष्ट)	अष्टौ (अष्ट)	अष्टाभिः (अष्टभिः)

च०	पं०	ष०	स०	सं०
अष्टाभ्यः अष्टभ्यः	अष्टाभ्यः अष्टभ्यः	अष्टानाम्	अष्टासु अष्टसु	हे अष्टौ ! हे अष्ट !

१—षान्त (षकारान्त) और नान्त (नकारान्त) जो संख्यावाची शब्द उनकी षट्-संज्ञा होती है। पञ्च—पाँच। २—नाम् पर में रहे तो नान्त पद की उपधा को दीर्घ होता है। ३—हलादि विभक्ति पर में रहे तो विकल्प से अष्टन् शब्द को आत्व होता है। ४—कर दिया गया है आकार जिसको ऐसे अष्टन् शब्द से परे जस् और शस् के स्थान में औश् आदेश होता है। ५—ऋत्विक्, दधृक्, स्रक्, दिक, उष्णिक्, अञ्चु, युजि और क्रुञ्च से क्विन् प्रत्यय होता है। सुप् (सुबन्त) उपपद (पद के समीप) रहे तो अञ्चु धातु से, और केवल युज्,

कृदतिङ् ३ । १ । ९३ ॥ [1]अत्र सन्निहिते धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्संज्ञः स्यात् ।

वेरपृक्तस्य ६ । १ । ६७ ॥ [2]अपृक्तस्य वस्य लोपः स्यात् ।

क्विन्प्रत्ययस्य कुः ८ । २ । ६२ ॥ [3]क्विन्प्रत्ययो यस्मात्तस्य कवर्गोऽन्तादेशः स्यात् पदान्ते । अस्याऽसिद्धत्वाच्चोः कुरिति कुत्वम् । ऋत्विक्, ऋत्विग् । ऋत्विजौ । [ऋत्विजः] । ऋत्विग्भ्याम् ।

युजेरसमासे ७ । १ । ७१ ॥ [4]युजेः सर्वनामस्थाने नुम् स्यादसमासे । सुलोपः । संयोगान्तलोपः । कुत्वेन नस्य ङः । युङ् । अनुस्वारपरसवर्णौ । युञ्जौ । युञ्जः । युग्भ्याम् ।

ऋत्विक्—ऋतु-उपपद-यज् धातोः 'ऋत्विग्दधृक्–' इत्यादिना क्विनि, अनुबन्धलोपे, इकारस्योच्चारणार्थकत्वे, यणः सम्प्रसारणे, यणि वेरपृक्तस्येति वस्य लोपे, 'कृदतिङ्' इति कृत्संज्ञायां, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सौ, उकारलोपे, हल्ङ्यादिना सोर्लोपे, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वस्यासिद्धत्वात् चोः कुरिति कुत्वेन गकारे, 'वाऽवसाने' इति चर्त्वविकल्पेन 'ऋत्विक्—ऋत्विग्' इति सिद्धयतः ।

ऋत्विक् ग्	ऋत्विजौ	ऋत्विजः
ऋत्विजम्	ऋत्विजौ	ऋत्विजः
ऋत्विजा	ऋत्विग्भ्याम्—	इत्यादि ।

युङ्—युज् धातोः ऋत्विग्दधृक् इत्यादिना क्विनि अनुबन्धलोपे, वेरपृक्तस्य इति वकारलोपे-युज् शब्दात् सौ, उकारलोपे, 'युजेरसमासे' इति नुमि-उमावितौ लोपे च, 'हल्ङ्यादिना—सोर्लोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति जलोपे, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति नकारस्य कुत्वेन ङकारे 'युङ्' इति सिद्धम् ।

क्रुञ्च् से भी क्विन् प्रत्यय होता है और क्रुञ्च् धातु मे रहनेवाले 'न' के लोप का अभाव भी निपातन से करते हैं ।

१—यहाँ सन्निकटस्थ धात्वधिकार (धातोः सूत्र के अधिकार) में पढ़े गये तिङ्-भिन्न प्रत्ययों की कृत्-संज्ञा होती है । २—अपृक्त संज्ञक वकार का लोप होता है । ३—क्विन् प्रत्यय जिससे किया जाय, उसको कवर्ग अन्तादेश होता है पदान्त में । ४—समास को छोड़कर (अन्यत्र) सर्वनामस्थानसंज्ञक विभक्ति पर में रहे तो युज् धातु से नुम् होता है । युङ्-योगी ।

चोः कुः ८ । २ । ३० ॥ [1]चवर्गस्य कवर्गः स्याज्झलि पदान्ते च । सुयुक्, सुयुग् । सुयुजौ । सुयुग्भ्याम् । खन् । खञ्जौ । खन्भ्याम् ।

व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः ८ । २ । ३६ ॥ [2]व्रश्चादीनां सप्तानां छशान्तयोश्च षकारोऽन्तादेशः स्यात् झलि पदान्ते च । जश्त्व-चर्त्वे । राट्, राड् । राजौ । राजः । राड्भ्याम् । एवं विभ्राट् । देवेट् । विश्वसृट् । ॐ**परौ व्रजेः षः पदान्ते ।** [3]परावुपपदे व्रजेः क्विप् स्याद्दीर्घश्च । पदान्ते षत्वमपि । परिव्राट् । परिव्राजौ ।

विश्वस्य वसुराटोः ६ । ३ । १२८ ॥ [4]विश्वशब्दस्य दीर्घोऽन्तादेशः स्याद्वसौ राट्शब्दे च परे । विश्वाराट्, विश्वाराड । विश्वराजौ । विश्वाराड्भ्याम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
युङ्	युञ्जौ	युञ्जः	युजः	युग्भ्याम्	युग्भ्यः
युञ्जम्	युञ्जौ	युजः	युजः	युजोः	युंजाम्
युजा	युग्भ्याम्	युग्भिः	युजि	युजोः	युक्षु
युजे	युग्भ्याम्	युग्भ्यः	हे युङ् !	हे युञ्जौ !	हे युञ्जः !

एवं सुयुक्-ग्, सुयुजौ, सुयुजः—इत्यादीनामपि रूपाणि ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
राट्-ड्	राजौ	राजः	राजः	राड्भ्याम्	राड्भ्यः
राजम्	राजौ	राजः	राजः	राजोः	राजाम्
राजा	राड्भ्याम्	राड्भिः	राजि	राजोः	राट्त्सु-राट्सु
राजे	राड्भ्याम्	राड्भ्यः	हे राट्-ड् !	हे राजौ !	हे राजः !

राडिव विभ्राट्, देवेट्, विश्वसृट्, विश्वाराट्, परिव्राट्-शब्दा ज्ञेयाः ।

१—झल् प्रत्याहार पर में हो या पदान्त मे स्थित जो चवर्ग उसको कवर्ग आदेश होता है । सुयुक्—सुयोगी । खन्—लँगड़ा । २—झल् (प्रत्याहार) पर में हो या पदान्त में वर्तमान, व्रश्च आदि सातो को तथा छकारान्तों को एवं शकारान्तों को षकार अन्तादेश होता है । राट्—राजा । विभ्राट्—अत्यन्त शोभायुक्त । देवेट्—देवपूजक । विश्वसृट्—ब्रह्मा, संसार के सृष्टिकर्ता । ३—परि उपपद व्रज् धातु से क्विप् प्रत्यय और दीर्घ भी होता है, एवं पदान्त में षत्व भी होता है । परिव्राट्—संन्यासी । ४—वसु या राट् शब्द पर में रहे तो विश्व शब्द को दीर्घ अन्तादेश होता है । विश्वाराट्—विश्वप्रकाशक, सूर्य ।

स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ८ । २ । २९ ॥ [1]पदान्ते झलि च परे यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयोर्लोपः स्यात् । भृट् । सस्य श्चुत्वेन शः । झलाञ्जश् झशीति शस्य जः । भृज्जौ । भृड्भ्याम् । त्यदाद्यत्वं च ।

तदोः सः सावनन्त्योः ७ । २ । १०६ ॥ [2]त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात्सौ । स्यः । त्यौ । त्ये । सः । तौ । ते । यः । यौ । ये । एषः । एतौ । एते ।

ङे प्रथमयोरम् ७ । १ । २८ ॥ [3]युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङे इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चाऽमादेशः स्यात् ।

त्वाहौ सौ ७ । २ । ९४ ॥ [4]अनयोर्मपर्यन्तस्य त्वाहावादेशौ स्तः सौ परे ।

शेषे लोपः ७ । २ । ९० ॥ [5]आत्वयत्वनिमित्तेतरविभक्तौ परतो युष्मदस्मदोरन्त्यस्य लोपः स्यात् । त्वम् । अहम् ।

भृट्-भृड्—भृस्ज् सु इति दशायां हल्ङ्यादिना सोर्लोपे 'स्कोः—०' इत्यादिना सकारलोपे 'व्रश्च–०' इत्यादिना षकारे, 'झला–जशाऽन्ते' इति जश्त्वे 'वाऽवसाने इति चर्त्वविकल्पे, भृट्, भृड् इति रूपद्वयं सिद्धम् ।

भृट्-भृड्, भृज्जौ, भृज्जः । भृज्जम्, भृज्जौ, भृज्जः । भृजा इत्यादि ।

त्यद्-शब्दस्य—स्यः, त्यौ, त्ये । त्यम्, त्यौ, त्यान्–इत्यादि रामवत् ।

तद्-शब्दस्य—

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
सः	तौ	ते	तस्मात्-द्	ताभ्याम्	तेभ्यः
तम्	तौ	तान्	तस्य	तयोः	तेषाम्
तेन	ताभ्याम्	तैः	तस्मिन्	तयोः	तेषु
तस्मै	ताभ्याम्	तेभ्यः	त्यदादेः सम्बोधनं नास्ति-इति स्मरं ।		

यः, यौ, ये । यम्, यौ, यान् । येन, याभ्यां, यैः—इत्यादि तद्वत् ।

१—पदान्त में स्थित या झल् हो पर में जिसके ऐसा जो 'संयोग' उसके आदि के सकार और ककार का लोप होता है । २—'सु' विभक्ति पर में हो तो त्यदादियों के अनन्त्य (अर्थात् अन्त्य में नहीं ऐसे) तकार, एवं दकार को सकार होता है । स्यः, सः–वह । यः–जो । एषः–यह । ३–युष्मद् और अस्मद् शब्द से पर में जो ङे और प्रथमा, द्वितीया विभक्ति उसको अम् आदेश होता है । ४—'सु' विभक्ति पर में रहे तो युष्मद्, अस्मद् के मपर्यन्त (युष्म, अस्म) को (क्रम से) 'त्व' 'अह' आदेश होते हैं । ५—आत्व या यत्व के निमित्त से भिन्न 'विभक्ति' पर में रहे तो युष्मद्, अस्मद् शब्द के अन्त भाग का लोप होता है । त्वम्–तू । अहम्–मैं ।

युवावौ द्विवचने ७ । २ । ९२ ॥ [1]द्वयोरुक्तौ युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ ।

प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् ७ । २ । ८८ ॥ [2]औङ्येतयोरात्वं लोके । युवाम् । आवाम् ।

यूयवयौ जसि ७ । २ । ९३ ॥ [3]अनयोर्मपर्यन्यस्य यूयवयौ स्तो जसि । यूयम् । वयम् ।

त्वमावेकवचने ७ । २ । ९७ ॥ [4]एकस्योक्तौ युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ ।

द्वितीयायां च ७।२।८७ ॥ [5]अनयोरात्स्यात् [द्वितीयायाम्] । त्वाम् । माम् ।

शसो न ७ । १ । २९ ॥ [6]आभ्यां परस्य शसो नः स्यात् । अमोऽपवादः । आदेः परस्य । संयोगान्तलोपः । युष्मान् । अस्मान् ।

योऽचि ७ । २ । ८९ ॥ [7]अनयोर्यकारादेशः स्यादनादेशेऽजादौ परतः । त्वया । मया ।

आवाम्—अस्मद्-शब्दात् औ विभक्तौ 'ङे प्रथमयोरम्' इत्यमादेशे, 'युवावौ द्विवचने' इति मपर्यन्तस्य 'आव' आदेशे, अतो गुणे, पररूपे, 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' इति दस्यात्वे, 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे, 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे 'आवाम्' इति । युवादेशे 'युवाम्' इति ।

युष्मान्—युष्मच्छब्दाच्छसि 'द्वितीयायाञ्च' इति आत्वे दीर्घे च 'युष्मा अस्' इति स्थिते, 'आदेः परस्ये'ति साहाय्येन 'शसो नः' इति शसोऽकारस्य नकारे, सकारस्य च संयोगान्तलोपे, 'युष्मान्' इति सिद्धम् ।

त्वया—युष्मद् शब्दात् 'टा' विभक्तौ, अनुबन्धलोपे, 'त्वमावेकवचने' मपर्यंस्य त्वादेशे, 'योऽचि' इति यकारादेशे सिद्धम् 'त्वया' इति ।

१—द्वित्व की उक्ति (दो व्यक्तियो की प्रतिपादनेच्छा) में विभक्ति पर रहे तो युष्मद् शब्द को युव और अस्मद् शब्द को आव आदेश होता है । २—प्रथमा का द्विवचन पर रहे तो युष्मद्, अस्मद् शब्द को आकार अन्तादेश होता है भाषा (लोक) में । ३—जस् (विभक्ति) पर रहे तो युष्मद् अस्मद् के मपर्यन्त को (क्रम से) यूय , वय आदेश होते हैं । ४—एकत्व की विवक्षा होने पर विभक्ति पर रहे तो युष्मद्, अस्मद् को 'त्व' 'म' आदेश होते हैं । ५—द्वितीया विभक्ति पर रहे तो युष्मद् , अस्मद् को आकार (अन्तादेश) होता है । ६—युष्मद्, अस्मद् शब्द से परे 'शस्' को नकार आदेश होता है । ७—आदेश से रहित अजादि विभक्ति पर रहे तो युष्मद्, अस्मद् शब्द को यकार आदेश होता है ।

युष्मदस्मदोरनादेशे ७ । २ । ८६ ॥ [1]अनयोरात्स्यादनादेशे हलादौ विभक्तौ । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्माभिः । अस्माभिः ।

तुभ्यमह्यौ ङयि ७ । २ । ९५ ॥ [2]अनयोर्मपर्यन्तस्य तुभ्यमह्यौ स्तो ङयि । टिलोपः । तुभ्यम् । मह्यम् ।

भ्यसोऽभ्यम् ७ । १ । ३० ॥ [3]आभ्यां परस्य भ्यसोऽभ्यम् इत्यादेशः स्यात् । युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् ।

एकवचनस्य च ७ । १ । ३२ ॥ [4]आभ्यां पञ्चम्येकवचनस्य ङसेरत् स्यात् । त्वत् । मत् ।

पञ्चम्या अत् ७ । १ । ३१ ॥ [5]आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत्स्यात् । युष्मत् । अस्मत् ।

तवममौ ङसि ७ । २ । ९६ ॥ [6]अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तौ ङसि ।

युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् ७ । १ । २७ ॥ [7][युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङसोऽशादेशः स्यात्] । तव । मम । युवयोः । आवयोः ।

साम आकम् ७ । १ । ३३ ॥ [8]आभ्यां परस्य साम आकम् स्यात् । युष्माकम् । अस्माकम् । त्वयि । मयि । युवयोः । आवयोः । युष्मासु । अस्मासु ।

युष्मभ्यम्—युष्मद्-शब्दात् भ्यसि दकारलोपे, 'भ्यसोऽभ्यम्' इत्यभ्यमादेशे, 'अतो गुणे' इति पररूपे युष्मभ्यमिति ।

युष्माकम्—युष्मच्छब्दादामि आमः साम् बुद्धया 'साम आकम्' इत्याकमादेशे, 'शेषे लोपः' इति टिलोपे 'युष्माकम्' इति ।

१—आदेश-रहित हलादि विभक्ति पर मे रहे तो युष्मद्, अस्मद् को आकार अन्तादेश होता है । २—'ङे' विभक्ति पर में रहे तो युष्मद्, अस्मद् के म-पर्यन्त को (क्रम से) तुभ्य, मह्य आदेश होते हैं । ३—युष्मद् और अस्मद् शब्द से परे 'भ्यम्' को ('भ्यम्' अथवा) 'अभ्यम्' आदेश होता है । ४—युष्मद्, अस्मद् शब्द से परे पञ्चमी के एकवचन 'ङसि' को अत् आदेश होता है । ५—युष्मद्, अस्मद् शब्द से परे पञ्चमी के भ्यस् को अत् आदेश होता है । ६—'ङस्' विभक्ति पर रहे तो युष्मद्, अस्मद् के म-पर्यन्त को तव, मम आदेश होते हैं । ७—युष्मद्, अस्मद् शब्द से परे ङस्, को 'अश्' आदेश होता है । ८—युष्मद्, अस्मद् से परे 'साम्' को आकम्' आदेश होता है ।

युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ ८ । १ । २० ॥ [1]पदात्परयोरपादादौ स्थितयोरनयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्वाम् नौ इत्यादेशौ स्तः ।

बहुवचनस्य वस्नसौ ८ । १ । २१ ॥ [2]उक्तविधयोरनयोः षष्ठ्यादिबहुवचनान्तयोर्वस्नसौ स्त. ।

तेमयावेकवचनस्य ८ । १ । २२ ॥ [3]उक्तविधयोरनयोः षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोस्ते मे एतौ स्तः ।

त्वामौ द्वितीयायाः ८ । १ । २३ ॥ [4]द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा मा इत्यादेशौ स्तः ।

[5]श्रीशस्त्वाऽवतु मापीह दत्तात्ते मेऽपि शर्म सः ।
स्वामी ते मेऽपि स हरिः, पातु वामपि नौ विभुः ॥ १ ॥

युष्मच्छब्दः—			अस्मच्छब्दः—		
एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
त्वम्	युवाम्	यूयम्	अहम्	आवाम्	वयम्
त्वाम्	युवाम्	युष्मान्	माम्	आवाम्	अस्मान्
त्वया	युवाभ्याम्	युष्माभिः	मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः
तुभ्यम्	युवाभ्याम्	युष्मभ्यम्	मह्यम्	आवाभ्याम्	अस्मभ्यम्
त्वत्	युवाभ्याम्	युष्मत्	मत्	आवाभ्याम्	अस्मत्
तव	युवयोः	युष्माकम्	मम	आवयोः	अस्माकम्
त्वयि	युवयोः	युष्मासु	मयि	आवयोः	अस्मासु

१—पद से पर मे हो और किसी पाद के आदि में स्थित न हो ऐसे षष्ठी, चतुर्थी, द्वितीया विशिष्ट युष्मद्, अस्मद् शब्द को (क्रम से) वाम्, नौ आदेश होते हैं। २—उक्त विधि से परे अपादादिमे (पाद के आदि में नहीं) स्थित षष्ठी, चतुर्थी, द्वितीया के बहुवचनान्त से विशिष्ट युष्मद्, अस्मद् शब्द को (क्रम से) वस्, नस् आदेश होते हैं। ३—पद से परे एवं अपादादि मे स्थित (अर्थात् पाद के आदि मे नहीं रहनेवाले) षष्ठी, चतुर्थी के एकवचनान्त युष्मद्, अस्मद् शब्द को (क्रम से) ते, मे आदेश होते हैं। ४—पद से परे अपादादि में स्थित (अर्थात् पाद के आदि मे नहीं रहनेवाले) द्वितीया के एकवचनान्त युष्मद्, अस्मद् शब्द को (क्रम से) त्वा, मा आदेश होते हैं। ५—श्रीशः–लक्ष्मीपति

[1]सुखं वां नौ ददात्वीशः पतिर्वामपि नौ हरिः।
सोऽव्याद्वो नः शिवं वो नो दद्यात्सेव्योऽत्र वः स नः॥ २॥

❀ [2]समानवाक्ये युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः। ❀एकतिङ् वाक्यम्❀। तेनेह न। ओदनं पच, तव भविष्यति। इह तु स्यादेव। शालीनां ते ओदनं दास्यामि।

❀ [3]एते वान्नावादय आदेशा अनन्वादेशे वा वक्तव्याः। अन्वादेशे तु नित्यं स्युः। धाता ते भक्तोऽस्ति, धाता तव भक्तोऽस्ति वा। तस्मै ते नम इत्येव। सुपात्, सुपाद्। सुपादौ।

भगवान्। इह–इस जगत् में। त्वा–तुमको (तेरी)। मा–मुझको (मेरी)। अपि–भी। अवतु–रक्षा करें। सः–वह, भगवान्। ते–तुम्हारे लिए। मे–मेरे लिए। अपि–भी। शर्म–सुख को। दत्तात्–देवें। स हरिः–वह विष्णु। ते–तुम्हारा। मे–मेरा। अपि–भी। स्वामी–प्रभु है। विभुः–वे व्यापक प्रभु। वाम–तुम दोनों को। नौ–हम दोनों को (की)। पातु–रक्षा करें॥१॥

१—ईशः–वह ईश्वर। वाम–तुम दोनों के लिए। नौ–हम दोनो के लिए। सुखं–सुख को ददातु–देवें। हरिः–वे विष्णु। वाम्–तुम दोनों के। नौ–हम दोनो के भी। पतिः–रक्षक हैं। सः–वह प्रभु। वः–तुम सबों को। नः–हम सबों का (की)। अव्यात्–रक्षा करें। सः–वह प्रभु। वः–तुम सबों के लिए। नः–हम सबों के लिए। शिवं–कल्याण को। दद्यात्–दें। अत्र–यहाँ इस संसार मे। सः–वह प्रभु। वः–तुम्हारे। नः–हमारे। सेव्यः–सेवा (उपासना) करने योग्य हैं॥ २॥ २—युष्मद, अस्मद् शब्दों के स्थान में कहे गये आदेश एकवाक्य में ही होते हैं ऐसा कहना चाहिए। 'एक तिङ्' को वाक्य कहते हैं। जैसे–रामः गच्छति, राम जाता है। यह वाक्य है। भात बनाओ, तुम्हारा होगा। यहाँ एक वाक्य नहीं है, 'ते' नहीं होगा। शाली (अगहनी जड़हन) का भात तुम्हे दुगा। यह एक वाक्य है, अतः 'ते' आदेश हो जाता है इति निष्कर्षः। ३—पूर्वोक्त 'वाम्' 'नौ' आदि आदेश अनन्वादेश मे विकल्प से होते हैं और अन्वादेश में नित्य ही होते हैं। जैसे–ब्रह्मा तुम्हारे भक्त हैं, यहाँ 'ते' तव दोनों होते हैं। तस्मै ते नमः मे नित्य ही 'ते' आदेश हो गया। सुपात्, सुपाद्–सुन्दर पैर वाला।

---

*छात्रों को यह ध्यान रखना चाहिए कि इन दोनों पदो में 'युष्मदस्मदोः' सूत्र से लेकर 'त्वामौ द्वितीयायाः' तक के आदेश वर्णित हैं। उन्हें एकवचन, द्विवचन, बहुवचन–क्रम से नीचे दिया जाता है, समझें—द्वितीया के एकवचन में त्वा=त्वाम्। मा=माम्। चतुर्थी में ते=तुभ्यम्। मे=मह्यम्। षष्ठी में ते=तव। मे=मम। द्वितीया के द्विवचन मे वां=युवाम्। नौ=आवाम्। चतुर्थी में वाम्=युवाभ्याम्। नौ=आवाभ्याम्। षष्ठी में वाम्=युवयोः। नौ=आवयोः। द्वितीया के बहुवचन में वः=युष्मान्। नः=अस्मान्। चतुर्थी मे वः=युष्मभ्यम्। नः=अस्मभ्यम्। षष्ठी में=वः युष्माकम्। नः=अस्माकम्।

पादः पत् ६ । ४ । १३० ॥ [1]पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भं तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशः स्यात् । सुपदः । सुपदा । सुपाद्भ्याम् । अग्निमत्, अग्निमद् । अग्निमथौ । अग्निमथः ।

अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ६ । ४ । २४ ॥ [2]हलन्तानामनिदितामङ्गानामुपधाया नस्य लोपः स्यात् किति ङिति च । नुम् । संयोगान्तस्य लोपः । नस्य कुत्वेन ङः । प्राङ् । प्राञ्चौ । प्राञ्चः ।

अचः ६ । ४ । १३८ ॥ [3]लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याऽकारस्य लोपः स्यात् ।

चौ ६ । ३ । १३८ ॥ [4]लुप्ताऽकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याऽणो दीर्घः स्यात् । प्राचः । प्राचा । प्राग्भ्याम् । प्रत्यङ् । प्रत्यञ्चौ । प्रतीचः । प्रत्यग्भ्याम् । उदङ् । उदञ्चौ ।

प्राङ्—प्रकर्षेण अञ्चतीति विग्रहे 'प्र अञ्च्' इत्यस्माद् 'ऋत्विगित्यादिना क्विनि, तस्य सर्वापहारिलोपे, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सौ, 'अनिदितां हल उपाधायाः–०' इति नलोपे, दीर्घे, 'उगिदचाम्'—इति नुमि, हल्ङ्यादिना सोर्लोपे, चकारस्य च संयोगान्तलोपे, नकारस्य कुत्वेन ङकारे 'प्राङ्' इति सिद्धम् । (अयं प्रकारः पूजार्थके न, तत्र तु नाञ्चेः पूजायामिति नलोपनिषेध इति ज्ञेयम्) ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्राङ्	प्राञ्चौ	प्राञ्चः	प्राचः	प्राग्भ्याम्	प्राग्भ्यः
प्राञ्चम्	प्राञ्चौ	प्राचः	प्राचः	प्राचोः	प्राचाम्
प्राचा	प्राग्भ्याम्	प्राग्भिः	प्राचि	प्राचोः	प्राक्षु
प्राचे	प्राग्भ्याम्	प्राग्भ्यः	हे प्राङ् !	हे प्राञ्चौ !	हे प्राञ्चः !

एवं प्रत्यङ्, सध्र्यङ्, उदङ्, सम्यङ्, तिर्य्यङ्, न्यङ्, अर्वाङ्—इत्यादीनां शब्दानां साधुत्वं तथा रूपाणि च बोध्यानि ।

१—पाद् शब्द है अन्त में जिसके ऐसा जो भसंज्ञक अङ्ग तदवयव पाद् शब्द को पद् आदेश होता है। अग्निमत्–यज्ञ में अरणि आदि द्वारा अग्नि को पैदा करनेवाला। २—कित् (ककार इत्संज्ञक) ङित् (ङकार–इत्संज्ञक) पर में रहे तो हलन्त अङ्ग की उपधा के नकार का लोप होता है। प्राङ्–प्राचीन वा सुपूज्य। ३—जिसके नकारका लोप हो गया हो ऐसे अञ्च् धातु के भसंज्ञक अकार का लोप होता है। ४–नकार और अकार का लोप हो गया हो ऐसा अञ्च् धातु पर में रहे तो पूर्व अण् को दीर्घ होता है। प्रत्यङ्—पश्चिम दिशा। उदङ्—उत्तर दिशा।

उद ईत् ६ । ४ । १३९ ॥ [1]उच्छब्दात्परस्य लुप्तनकारस्याऽञ्चतेर्भस्या-ऽकारस्य ईत् स्यात् । उदीचः । उदीचा । उदग्भ्याम् ।

समः समि ६ । ३ । ९३ ॥ [2]वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे [समः सम्यादेशः] । सम्यङ् । सम्यञ्चौ । समीचः । सम्यग्भ्याम् ।

सहस्य सध्रिः ६ । ३ । ९५ ॥ [3]तथा [वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे सहस्य सध्र्यादेशः स्यात्]। सध्र्यङ् ।

तिरसस्तिर्यलोपे ६ । ३ । ९४ ॥ [4]अलुप्ताकारेऽञ्चतौ वप्रत्ययान्ते परे तिरसस्तिर्यादेशः स्यात् । तिर्यङ् । तिर्यञ्चौ । तिर्यञ्चः । तिर्यग्भ्याम् ।

नाञ्चेः पूजायाम् ६ । ४ । ३० ॥ [5]पूजार्थस्याञ्चतेरुपधाया नस्य लोपो न स्यात् । प्राङ् । प्राञ्चौ । नलोपाऽभावादल्लोपो न । प्राञ्चः । प्राङ्भ्याम् ।

उदीचः—उत्पूर्वकादञ्चतेः 'ऋत्विग्—' इत्यादिना क्विनि सर्वापहारिलोपे, 'अनिदिताम्–०' इति नलोपे, 'कृत्तद्धित—०' इति प्रातिपदिकत्वे—शसि अनुबन्ध-लोपे, 'उद ईत्' इति ईत्वे, 'झलां जशोऽन्ते' इति तकारस्य दकारे, सकारस्य रुत्वे विसर्गे च तत्सिद्धिः ।

प्राङ्क्षु—इत्यादि । प्रपूर्वक-पूजार्थक-अञ्चतेः–ऋत्विगित्यादिना क्विनि, तस्य सर्वापहारिलोपे नलोपस्य 'नाञ्चेः पूजायाम्' इति निषेधे प्राञ्च् इत्यस्मात् सुपि, अनुबन्धलोपे, पदत्वेन चकारस्य संयोगान्तलोपे, 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्य-पायः' इति न्यायेनानुस्वारपरसवर्णयोरप्यभावे (अकारणे) नकारस्थितौ प्रान् सु इति दशायां नकारस्य कुत्वेन ङकारे 'ङ्णोः कुक्टुक् शरि' कुगागमे, सकारस्य षत्वे, 'चयो द्वितीयाः०' इत्यादिना ककारस्य खकारे 'प्राङ्ख्षु' इति । द्वितीयाभावे कषसंयोगिक्षत्वे 'प्राङ्क्षु' इति । कुगागमाभावे 'प्राङ्षु' इति रूपत्रयं सम्पद्यते । पूजार्थक-प्रत्यञ्चादिशब्दानामप्येष एव क्रमः । अत्र रूपाणि—

१—जो अञ्च् धातु उद् से पर में हो और उसके नकार का लोप हो गया हो ऐसे (अञ्च्) धातु के भ–संज्ञक अकार को ईकार होता है । २—व–प्रत्ययान्त अञ्च् धातु पर में रहे तो, 'सम्' को समि आदेश होता है । ३—व–प्रत्ययान्त अञ्च् धातु पर में रहे तो 'सह' को 'सध्रि' आदेश होता है । सध्र्यङ्—साथ रहने चलने वाला (मित्र) । ४—जिस अञ्च् धातु के अकार का लोप नहीं हुआ हो ऐसा 'व–प्रत्ययान्त अञ्च् धातु' पर में रहे तो 'तिरस्' शब्द को 'तिरि' आदेश होता है । तिर्यङ्—टेढ़ा-मेढ़ा चलनेवाला, पक्षी, पशु । ५—पूजा अर्थवाले अञ्च् धातु के उपधा के नकार का लोप नहीं होता है । क्रुङ्—क्रौञ्च नामक चिड़िया । पयोमुक्—बादल ।

प्राङ्क्षु । एवं पूजार्थे प्रत्यङ्ङादयः । क्रुङ् । क्रुञ्चौ । क्रुङ्भ्याम् । पयोमुक्, पयोमुग् । पयोमुचौ । पयोमुग्भ्याम् । उगित्त्वान्नुम् ।

सान्तमहतः संयोगस्य ६ । ४ । १० ॥ [1]सान्तसंयोगस्य महतश्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । महान् । महान्तौ । महान्तः । हे महन् । महद्भ्याम् ।

अत्वसन्तस्य चाऽधातोः ६ । ४ । १४ ॥ [2]अत्वन्तस्योपधाया दीर्घो धातुभिन्नाऽसन्तस्य चाऽसम्बुद्धौ सौ परे । उगित्त्वान्नुम् । धीमान् । धीमन्तौ ।

एकव०	द्विव०	बहु०	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्राङ्	प्राञ्चौ	प्राञ्चः	प्राञ्चः	प्राञ्चोः	प्राञ्चाम्
प्राञ्चम्	प्राञ्चौ	प्राञ्चः			
प्राञ्चा	प्राङ्भ्याम्	प्राङ्भिः	प्राञ्चि	प्राञ्चोः	प्राङ्ख्षु / प्राङ्क्षु / प्राङ्षु
प्राञ्चे	प्राङ्भ्याम्	प्राङ्भ्यः			
प्राञ्चः	प्राङ्भ्याम्	प्राङ्भ्यः	हे प्राङ् !	हे प्राञ्चौ !	हे प्राञ्चः !

एवमेव पूजार्थक-प्रत्यञ्चादीनामपि रूपाणि ।

क्रुङ्—क्रुञ्च् धातोः 'ऋत्विग्दधृक्—०' इत्यादिना क्विनि, तद्विधानसामर्थ्यादस्य अकारोपधत्वेन नलोपो न, कृदन्तत्वेन प्रातिपदिकत्वात्सौ हल्ङ्यादिना सोर्लोपः, चस्य च संयोगान्तलोपे, नस्य कुत्वेन ङकारे 'क्रुङ्' इति । पूजार्थक-प्राञ्च्-शब्द-वद् रूपाणि । अस्यापि सुपि त्रीणि रूपाणि बोध्यानि ।

महान्—महच्छब्दात्सौ अनुबन्धलोपे, 'उगिदचाम्—०' नुमागमे, अनुबन्धलोपे, हल्ङ्यादिना सोर्लोपे, तकारस्य च संयोगान्तलोपे, 'सान्तमहतः संयोगस्य' इति उपधादीर्घे 'महान्' इति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
महान्	महान्तौ	महान्तः	महतः	महद्भ्याम्	महद्भ्यः
महान्तम्	महान्तौ	महतः	महतः	महतोः	महताम्
महता	महद्भ्याम्	महद्भिः	महति	महतोः	महत्सु
महते	महद्भ्याम्	महद्भ्यः	हे महन् !	हे महान्तौ !	हे महान्तः !

धीमान्, धीमन्तौ, धीमन्तः । धीमन्तम्, धीमन्तौ, धीमतः । धीमता—आदि महद्वत् ।

१–सम्बुद्धि से भिन्न सर्वनामस्थान पर में रहे तो सकारान्त संयोग के और महत् शब्द के नकार की उपधा को दीर्घ होता है । महान्–श्रेष्ठ, बड़ा । २–सम्बुद्धि–भिन्न 'सु' पर में रहे तो

धीमन्तः । हे धीमान् । शसादौ महद्वत् । [1]डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः । भवान् । भवन्तौ । भवन्तः । शत्रन्तस्य भवन् ।

उभे अभ्यस्तम् ६ । १ । ५ ॥ [2]षाष्ठद्वित्वप्रकरणे ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसंज्ञे स्तः ।

नाभ्यस्ताच्छतुः ७ । १ । ७८ ॥ [3]अभ्यस्तात्परस्य शतुर्नुम् न स्यात् । ददत्, ददद् । ददतौ । ददतः ।

जक्षित्यादयः षट् ६ । १ । ६ ॥ [4]षड् धातवोऽन्ये जक्षितिश्च सप्तम एते अभ्यस्तसञ्ज्ञाः स्युः । जक्षत्, जक्षद् । जक्षतौ । जक्षतः । एवं जाग्रत् । दरिद्रत् । शासत् । चकासत् । गुप्, गुब् । गुपौ । गुपः । गुब्भ्याम् ।

त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च ३ । २ । ६० ॥ [5]त्यदादिषूपपदेष्वज्ञानार्थाद् दृशेः कञ् स्याच्चात् क्विन् ।

आ सर्वनाम्नः ६ । ३ । ९१ ॥ [6]सर्वनाम्न आकारोऽन्तादेशः स्याद् दृग्दृशवतुषु । तादृक्, तादृग् । तादृशौ । तादृशः । तादृग्भ्याम् । व्रश्चेति षः । जश्त्वचर्त्वे । विट्, विड् । विशौ । विशः । विड्भ्याम् ।

भवान्, भवन्तौ, भवन्तः । भवन्तम्, भवन्तौ, भवतः । भवता—इत्यादि महच्छब्दवत् । शत्रन्तस्य त्वन्तत्वाभावान्न दीर्घः । तेन शत्रन्ते भवन्, भवन्तौ, भवन्तः । भवन्तम्, भवन्तौ—इत्यादि ।

तादृक्—'तद्–दृश्' इत्यस्मात् 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च' इति क्विनि, तस्य सर्वापहारिलोपे, 'आ सर्वनाम्नः' इति तदो दकारस्याकारे दीर्घे च, प्रातिपदिकत्वात्सौ सोर्लोपे, शकारस्य व्रश्चेत्यादिना षत्वे, तस्य जश्त्वेन डकारे, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन गकारे, 'वाऽवसाने' इति चर्त्व-विकल्पे 'तादृक्, तादृग्' इति ।

अत्वन्त की उपधा को और धातु-भिन्न असन्त की उपधा को दीर्घ होता है । धीमान्–बुद्धिमान् ।

१—भ-संज्ञा नहीं होने पर भी डकार-इत्संज्ञक होने के कारण टि का लोप होता है । भवान्–आप । भवन्–होता हुआ । २—छठवें अध्याय के द्वित्व विधान प्रकरण मे जो दोनों विहित हैं, वे दोनों समुदाय अभ्यस्त—संज्ञक होते हैं । ३—अभ्यस्त–संज्ञक शब्द से परे जो 'शतृ' उसको नुम् नहीं होता है । ददत्–देता हुआ । ४—छह अन्य धातु और सातवाँ जक्ष धातु ये अभ्यस्त–संज्ञक होते हैं । जक्षत्–खाता हुआ । जाग्रत्–जागता हुआ । दरिद्रत्–दरिद्र होता हुआ । शासत्–शासन करता हुआ । चकासत्–अत्यन्त शोभा युक्त होता हुआ । गुप्–रक्षक । ५—त्यद्–आदि शब्द उपपद (पद के समीप) में रहे तो अज्ञानार्थक दृश् धातु से कञ् तथा चकारात् क्विन् प्रत्यय होता है । ६—दृग्, दृश् या वतु प्रत्यय पर में रहे तो सर्वनाम संज्ञक शब्दों को आकार अन्तादेश होता है । तादृक्–वैसा । विट्–वैश्य ।

नशेर्वा ८ । २ । ६३ ॥ [1]नशेः कवर्गोऽन्तादेशो वा स्यात् पदान्ते । नक्, नग् । नट्, नड् । नशौ । नशः । नग्भ्याम्, नड्भ्याम् ।

स्पृशोऽनुदके क्विन् ३ । २ । ५८ ॥ [2]अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन् स्यात् । घृतस्पृक्, घृतस्पृग् । घृतस्पृशौ । घृतस्पृशः । दधृक्, दधृग् । दधृषौ । दधृषः । दधृग्भ्याम् । रत्नमुट्, रत्नमुड् । रत्नमुषौ । रत्नमुड्भ्याम् । षट्, षड् । षट्, षड । षड्भिः । षड्भ्यः । षड्भ्यः । षण्णाम् । षट्सु । रुत्वं प्रति षत्वस्याऽसिद्धत्वात्ससजुषोरिति रुत्वम् ।

र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ८ । २ । ७६ ॥ [3]रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः स्यात् पदान्ते । पिपठीः । पिपठिषौ । पिपठीर्भ्याम् ।

नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि ८ । ३ । ५८ ॥ [4]एतैः प्रत्येकं व्यवधानेऽपि इण्कुभ्यां परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात् । ष्टुत्वेन पूर्वस्य षः । पिपठीष्षु,

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
तादृक्, तादृग्	तादृशौ	तादृशः	तादृशः	तादृग्भ्याम्	तादृग्भ्यः
			तादृशः	तादृशोः	तादृशाम्
तादृशम्	तादृशौ	तादृशः	तादृशि	तादृशोः	तादृक्षु
तादृशा	तादृग्भ्याम्	तादृग्भिः	हे तादृक् ! हे तादृग् !	हे तादृशौ !	हे तादृशः !
तादृशे	तादृग्भ्याम्	तादृग्भ्यः			

नक्—इत्यत्रापि कुत्वपक्षे षत्व-ढत्व-गत्व-कत्वाना प्रक्रिया तादृग्वज्ज्ञेया । एवं 'घृतस्पृक्' इत्यत्रापि ।

दधृक्—ऋत्विगित्यादिना क्विन्नन्त–दधृष् शब्दात्सौ, तस्य लोपे, षस्य जश्त्वेन डकारे, कुत्वेन गकारे, वैकल्पिके चर्त्वे 'दधृक्, दधृग्' इति रूपद्वयम् ।

पिपठीष्षु, पिपठीःषु—पिपठिष्–शब्दात्सुप्यनुबन्धलोपे, 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदसंज्ञायां 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति षत्वस्यासिद्धत्वात् 'ससजुषो रुः' इति रुत्वेऽनुबन्धलोपे, 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इति दीर्घे, 'रोः सुपि' इति रोर्विसर्गे, तस्य 'वा शरि' इति नियमेन पाक्षिकस्थितौ अभावे विसर्गस्य सकारादेशे, 'नुम्वि-

१—पदान्त मे नश् को कवर्ग अन्तादेश विकल्प से होता है । नक्–नष्ट होने वाला । २—उदक भिन्न सुबन्त उपपद रहे तो स्पृश् धातु से क्विन् प्रत्यय होता है । घृतस्पृक्–घी स्पर्श करनेवाला । रत्नमुट्–रत्न को चुरानेवाला चोर । षट्–छह । ३—पदान्त मे रान्त और वान्त धातुओं की उपधा के इक् को दीर्घ होता है । पिपठीः–पढ़ने की इच्छा करनेवाला । ४—नुम् विसर्ग या शर् प्रत्याहार इनके प्रत्येक के व्यवधान रहने पर भी इण्

पिपठीःषु । चिकीः । चिकीर्षौ । चिकीर्भ्याम् । चिकीर्षु । विद्वान् । विद्वांसौ । हे विद्वन् ।

वसोः सम्प्रसारणम् ६ । ४ । १३१ ॥ [1]वस्वन्तस्य भस्य सम्प्रसारणं स्यात् । विदुषः । वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः । विद्वद्भ्याम् ।

पुंसोऽसुङ् ७ । १ । ८९ ॥ [2]सर्वनामस्थाने विवक्षिते पुंसोऽसुङ् स्यात् । पुमान् । हे पुमन् । पुमांसौ । पुंसः । पुम्भ्याम् । पुंसु । ऋदुशनेत्यनङ् ।

सर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इति सुपः सकारस्य षत्वे, 'पिपठीःषु पिपठीस्षु' इति स्थिते द्वितीयलक्ष्ये ष्टुत्वेन पूर्वसकारस्य षकारे सिद्धं रूपद्वयम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
पिपठीः	पिपठिषौ	पिपठिषः	पिपठिषः	पिपठिषोः	पिपठिषाम्
पिपठिषम्	पिपठिषौ	पिपठिषः	पिपठिषि	पिपठिषोः	पिपठीष्षु / पिपठीःषु
पिपठिषा	पिपठीर्भ्याम्	पिपठीर्भिः			
पिपठिषे	पिपठीर्भ्याम्	पिपठीर्भ्यः	हे पिपठीः !	हे पिपठिषौ !	हे पिपठिषः !
पिपठिषः	पिपठीर्भ्याम्	पिपठीर्भ्यः			

एवं-चिकीः,-चिकीर्षौ, चिकीर्षः-इत्यादि ।

चिकीः—चिकीर्ष्-शब्दात्सौ तस्य लोपे, षत्वस्यासिद्धत्वात् 'रात्सस्य' इति संयोगान्तलोपे, रेफस्य च विसर्गे 'चिकीः' इति ।

विदुषः—विद्वस्-शब्दाच्छसि अनुबन्धलोपे, 'वसोः सम्प्रसारणम्' इति सम्प्रसारणे, सम्प्रसारणाच्चेति पूर्वरूपे, 'आदेशप्रत्यययोः' इति सकारस्य षकारे, विभक्तिसकारस्य रुत्वे विसर्गे च 'विदुषः' इति सिद्ध्यति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहु०
विद्वान्	विद्वांसौ	विद्वांसः	विदुषः	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भ्यः
विद्वांसम्	विद्वांसौ	विदुषः	विदुषः	विदुषोः	विदुषाम्
विदुषा	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भिः	विदुषि	विदुषोः	विद्वत्सु
विदुषे	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भ्यः	हे विद्वन् !	हे विद्वांसौ !	हे विद्वांसः !

पुमान्—पुंस्-शब्दात्सौ 'पुंसोऽसुङ्' इति सस्यासुङि, अनुबन्धलोपे, 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमागमे, अनुबन्धलोपे, 'सान्तमहतः संयोगस्य' इत्युपधा-

---

कवर्ग से परे सकार को मूर्धन्य षकार होता है । चिकीः—(किसी कार्य के) करने की इच्छा करने वाला । विद्वान् पण्डित, जानकार ।

१—वस्वन्त भसंज्ञक अङ्ग को सम्प्रसारण होता है । २—सर्वनामस्थान की विवक्षा (कहने

उशना । उशनसौ । ❀ **अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ् नलोपश्च वा वाच्यः ।** हे उशन, हे उशनन्, हे उशनः । हे उशनसौ । उशनोभ्याम् । उशनस्सु । अनेहा । अनेहसौ । हे अनेहः । वेधाः । वेधसौ । हे वेधः । वेधोभ्याम् ।

अदस औ सुलोपश्च ७ । २ । १०७ ॥ [1]अदस औकारोऽन्तादेशः स्यात् सौ परे, सुलोपश्च । तदोरिति सः । असौ । त्यदाद्यत्वम् । पररूपत्वम् । वृद्धिः ।

अदसोऽसेर्दादु दो मः ८ । २ । ८० ॥ [2]अदसोऽसान्तस्य दात्परस्य उदूतौ स्तो दस्य मश्च । आन्तरतम्याद् ह्रस्वस्य उः, दीर्घस्य ऊः । अमू । जसः शी । गुणः ।

दीर्घे, हल्ङ्यादिना सोर्लोपे, 'संयोगान्तस्य लोपः' सलोपे 'पुमान्' इति सिद्धम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
पुमान्	पुमांसौ	पुमांसः	उशना	उशनसौ	उशनसः
पुमांसम्	पुमांसौ	पुंसः	उशनसम्	उशनसौ	उशनसः
पुंसा	पुम्भ्याम्	पुम्भिः	उशनसा	उशनोभ्याम्	उशनोभिः
पुंसे	पुम्भ्याम्	पुम्भ्यः	उशनसे	उशनोभ्याम्	उशनोभ्यः
पुंसः	पुम्भ्याम्	पुम्भ्यः	उशनसः	उशनोभ्याम्	उशनोभ्यः
पुंसः	पुंसोः	पुंसाम्	उशनसः	उशनसोः	उशनसाम्
पुंसि	पुंसोः	पुंसु	उशनसि	उशनसोः	उशनःसु-उशनस्सु
हे पुमान् !	हे पुमांसौ !	हे पुमांसः !	हे उशन ! हे उशनन् ! हे उशनः !	हे उशनसौ !	हे उशनसः !

एवं—अनेहस् , वेधस् शब्दयोरपि रूपाणि ज्ञेयानि । केवलं सौ सम्बोधने भेदः। हे अनेहः, हे वेधः इति ।

असौ—अदस्–शब्दात्सौ 'अदस औ सुलोपश्च' इति सस्यौत्वे, सोर्लोपे च कृते 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' इति दकारस्य सकारे, 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ कृतायां 'असौ' इति ।

की इच्छा) में 'पुंस्' को 'असुङ्' आदेश होता है । पुमान्–पुरुष । उशनाः–शुक्राचार्य । सम्बोधन में उशना शब्द को अनङ् का आगम विकल्प से होता है और नकार का लोप भी विकल्प से कहना चाहिए । अनेहा–समय । वेधाः–ब्रह्मा ।

१—'सु' पर में रहे तो अदस् शब्द के अन्त्य अल् को औकार आदेश होता है और स का लोप भी हो जाता है । असौ-वह । २—सकारान्त से भिन्न (अर्थात् रूपान्तर को प्राप्त)

एत ईद् बहुवचने ८।२।८१॥ [1]अदसो दात्परस्यैत ईद्स्य च मो बह्वर्थोक्तौ। अमी। पूर्वत्राऽसिद्धमिनि विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चादुत्वमत्वे। अमुम्। अमू। अमून्। मुत्वे कृते घिसंज्ञायां नाभावः।

न मु ने ८।२।३॥ [2]नाभावे कर्तव्ये कृते च मुभावो नाऽसिद्धः। अमुना। अमूभ्याम्। अमूभ्याम्। अमूभ्याम्। अमीभिः। अमुष्मै। अमीभ्यः। अमीभ्यः। अमुष्मात्। अमुष्य। अमुयोः। अमुयोः। अमीषाम्। अमुष्मिन्। अमीषु।

* इति हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम् *



अमुना—अदस्-शब्दात् टा-विभक्तावनुबन्धलोपे, त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे च कृते, 'अदसोऽसेः–०' इति मुत्वे 'अमु आ' इति जाते, घिसंज्ञायां 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इति नाभावे कर्तव्ये मुत्वस्यासिद्धत्वं प्राप्तं 'न मु ने' इत्यनेन निषिध्यते, ततश्च नाभावे कृते 'अमुना' इति सिद्ध्यति। मुत्वस्यासिद्धत्वात् 'सुपि च' इति दीर्घस्तु न शङ्क्यः, तेनैव नाभावे जातेऽपि मुत्वस्यासिद्धत्वनिषेधात्।

असौ	अमू	अमी	अमुष्मै	अमूभ्याम्	अमीभ्यः
			अमुष्मात्	अमूभ्याम्	अमीभ्यः
अमुम्	अमू	अमून्	अमुष्य	अमुयोः	अमीषाम्
अमुना	अमूभ्याम्	अमीभिः	अमुष्मिन्	अमुयोः	अमीषु

* इति हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम् *



अदस् शब्द के दकार से परे ह्रस्व को 'उ' और दीर्घ को 'ऊ' आदेश होता है और 'द' को म आदेश भी होता है।

१–बहुत्व अर्थ के प्रतिपादन (अर्थात् बहुवचन) में अदस् शब्द के दकार से परे एकार को ईकार होता है और द को म भी हो जाता है। २–'ना' भाव करना हो या कर लिया गया हो तो भी 'मु' भाव असिद्ध नहीं होता है।

* इस प्रकार हलन्तपुँल्लिङ्ग–प्रकरण समाप्त हुआ *



अथ हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

नहो धः ८ । २ । ३४ ॥ [1]नहो हस्य धः स्याज्झलि पदान्ते च ।

नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु क्वौ ६ । ३ । ११६ ॥ [2]क्विबन्तेषु परेषु पूर्वपदस्य दीर्घः स्यात् । उपानत्, उपानद् । उपानहौ । उपानत्सु । क्विन्नन्तत्वात्कुत्वेन घः । उष्णिक्, उष्णिग् । उष्णिहौ । उष्णिग्भ्याम् । द्यौः । दिवौ । दिवः । द्युभ्याम् । गीः । गिरौ । गिरः । एवं पूः । चतस्रः । चतसृणाम् । का के । काः । सर्वावत् ।

यः सौ ७ । २ । ११० ॥ [3]इदमो दस्य यः स्यात् सौ । इयम् । त्यदाद्यत्वम् । पररूपत्वम् । टाप् । दश्चेति मः । इमे । इमाः । इमाम् । अनया ।

उपानत्—उपपूर्वक नह् धातोः क्विपि नहिवृति-इत्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घे, क्विपोऽनुबन्धलोपे, 'वेरपृक्तस्य' इति वकारलोपे, प्रातिपदिकत्वेन सौ उकारलोपे, 'नहो धः' इति हस्य धत्वे, हल्ङ्यादिना सोर्लोपे, 'झलां जशोऽन्ते' इति धकारस्य दकारे, 'वावसाने' इति चर्त्वे 'उपानत्' इति ।

उपानत्-द्	उपानहौ	उपानहः	उपानहः	उपानद्भ्याम्	उपानद्भ्यः
उपानहम्	उपानहौ	उपानहः	उपानहः	उपानहोः	उपानहाम्
उपानहा	उपानद्भ्याम्	उपानद्भिः	उपानहि	उपानहोः	उपानत्सु
उपानहे	उपानद्भ्याम्	उपानद्भ्यः	हे उपानत्-द् !	हे उपानहौ !	हे उपानहः !

एवम्—उष्णिह्-शब्दस्यापि रूपाणि । सुपि 'उष्णिक्षु' इति ।

द्यौः	दिवौ	दिवः	गीः	गिरौ	गिरः
दिवम्	दिवौ	दिवः	गिरम्	गिरौ	गिरः
दिवा	द्युभ्याम्	इत्यादि	गिरा	गीर्भ्याम्	गीर्भिः इत्यादि ।
		सुपि—द्युषुइति ।			

चतसृणाम्—चतुर्-शब्दादामि 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' इति चतुरः—चतस्रादेशे, नुडागमे, अनुबन्धलोपे, नामीति दीर्घे प्राप्ते, 'न तिसृचतसृ' इति निषेधे, 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' इति णत्वे 'चतसृणाम्' इति ।

१–झल् पर मे हो या पदान्त मे स्थित जो 'नह्' धातु का हकार उसको धकार होता है । २—क्विप् प्रत्ययान्त नहि, वृति, वृषि, व्यधि, रुचि, सहि तनि–ये पर मे रहें तो पूर्वपद को दीर्घ होता है । उपानत्=जूता । उष्णिक्=मुरेठा, पगड़ी (उष्णिक् छन्द) । द्यौः=आकाश । गीः=वाणी । पूः=नगरी । चतस्रः=चार स्त्रियाँ । का=कौन स्त्री । ३—स्त्रीलिङ्ग में सु विभक्ति पर में रहे तो इदम् शब्द के दकार को यकार आदेश होता है । इयम्=एषा, यह स्त्री

हलि लोपः। आभ्याम्। आभिः। अस्यै। अस्याः। अस्याः। अनयोः। अनयोः। आसाम्। अस्याम्। आसु। त्यदाद्यत्वम्। टाप्। स्या। त्ये। त्याः। एवं तद्, यद्, एतद्। वाक्, वाग्। वाचौ। वाग्भ्याम्। वाक्षु। अप्-शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। अप्तृन्निति दीर्घः। आपः। अपः।

अपो भि ७। ४। ४८॥ [1]अपस्तकारः स्याद्भादौ प्रत्यये परे। अद्भिः। अद्भ्यः। अद्भ्यः। अपाम्। अप्सु। दिक्, दिग्। दिशौ। दिशः। दिग्भ्याम्। त्यदादिष्विनि दृशेः क्विन्विधानादन्यत्रापि कुत्वम्। दृक्, दृग्। दृशौ। दृग्भ्याम्। त्विट्, त्विड्। त्विषौ। त्विड्भ्याम्। ससजुषोरिति रुत्वम्। सजूः। सजुषौ। सजूर्भ्याम्। आशीः। आशिषौ। आशीर्भ्याम्। असौ। उत्वमत्वे। अमू। अमूः। अमुया। अमूभ्याम्। अमूभ्याम्। अमूभ्याम्।

अस्याः—इदम् शब्दात्-ङसि अनुबन्धलोपे, त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे च कृते, '**अजाद्यतष्टाप्**' इति टापि अनुबन्धलोपे, सवर्ण-दीर्घे, '**सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च**' इति स्याडागमे ह्रस्वे च कृते, 'हलि लोपः'-इतीद्भागस्य लोपे, '**अकः सवर्णे दीर्घः**' इति दीर्घे, सत्व रुत्वे विसर्गे च 'अस्याः' इति।

अस्याम्—इदम्-शब्दात् ङौ विभक्तावनुबन्धलोपे, त्यदाद्यत्वे पररूपे च कृते, टापि दीर्घे, 'ङेराम्-' इति ङेरामि 'सर्वनाम्नः स्याड्-' इति स्याडागमे आपश्च ह्रस्वे, हलिलोपे, आमा सह सवर्णदीर्घे 'अस्याम्' इति सिद्धम्।

इयम्	इमे	इमाः	अस्याः	आभ्याम्	आभ्यः
इमाम्	इमे	इमाः	अस्याः	अनयोः	आसाम्
अनया	आभ्याम्	आभिः			
अस्यै	आभ्याम्	आभ्यः	अस्याम्	अनयोः	आसु

अद्भिः—अप्-शब्दाद् भिसि 'अपो भि' इति—अपः पकारस्य तकारे, 'झलां जशोऽन्ते' इति तकारस्य दकारे, विभक्तिसकारस्य रुत्वे विसर्गे च 'अद्भिः' इति।

दिक्—ऋत्विगित्यादिना क्विन्नन्त दिश्-शब्दात् सौ, तस्य लोपे, व्रश्चेत्यादिना शस्य षत्वे, जश्त्वे, क्विन्नन्तत्वात्कुत्वेन गकारे, पक्षे आवसानिकचर्त्वे 'दिक्, दिग्' इति। एवं 'दृक्, दृग्' इत्यपि बोध्यम्।

'आङि चापः' इत्येत्वेऽयादेशे, उत्वमत्वे च कृते '**अमुया**' इति।

(वा सामग्री आदि)। स्या=सा=वह-स्त्री। या=जो, स्त्री। वाक्=वाणी। आपः=जल। अप् शब्द नित्य ही बहुवचनान्त होता है।

१–भादि (भिस्, भ्यस्) प्रत्यय पर में रहे तो अप् शब्द को तकार अन्तादेश होता है।

रित्याम् । स्वनडुवांहि । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् । वाः । वारी । वारि । वार्भ्याम् । चत्वारि । किम् । के कानि इदम् । इमे । इमानि ।

॥ [1]अन्वादेशे नपुंसके वा एनद्वक्तव्यः ॥ । एनत् । एने । एनानि । एनेन । एनयोः । अहः । "विभाषा ङिश्योः" । अह्नी, अहनी अहानि ।

अहन् ८ । २ । ६८ ॥ [2]अहन्नित्यस्य रुः स्यात् पदान्ते । अहोभ्याम् । दण्डि । दण्डिनी । दण्डीनि । दण्डिना । दण्डिभ्याम् । सुपथि । टेर्लोपः । सुपथी । सुपन्थानि । ऊर्क्, ऊर्ग् । ऊर्जी । ऊन्र्जि । न-र-जानां संयोगः ।

वाः	वारी	वारि	वारः	वार्भ्याम्	वार्भ्यः
वाः	वारी	वारि	वारः	वारोः	वाराम्
वारा	वार्भ्याम्	वार्भिः	वारि	वारोः	वार्षु
वारे	वार्भ्याम्	वार्भ्यः	हे वाः !	हे वारी !	हे वारि !

किम्—नात्र किमः कादेशो विभक्तेरभावात् । न लुमतेति निषेधात्प्रत्यय-लक्षणमपि न प्रवर्तते । एवम्–इदम्, त्यद्, तद्, यद्, एतद्—आदिशब्दानामपि स्वमोर्लुकि अत्वसत्वाद्यभावः ।

अहोभ्याम्—अहन्–शब्दात् भ्यामि अहन्नित्यस्य 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदसंज्ञायाम् 'अहन्' इति नकारस्य रुत्वे, 'हशि च' इत्युत्वे, 'आद् गुणः' इति गुणे 'अहोभ्याम्' इति ।

सुपन्थानि—सुपथिन्–शब्दाज्जश्शसोः श्यादेशे, सर्वनामस्थानत्वेन 'इतोत्सर्व-नामस्थाने' इति अत्वे, 'थो न्थः' इति थस्य न्थादेशे, 'सर्वनामस्थाने–०' इत्यादिना दीर्घे 'सुपन्थानि' इति ।

सुपथि, सुपथी, सुपन्थानि । सुपथि, सुपथी, सुपन्थानि । सुपथा, सुपथिभ्याम्–इत्यादि ।

(कुल) । वाः=पानी । चत्वारि=चार (वस्तुएँ) । किम्=कौन (वस्तु) । इदम्=यह (वस्तु कुल आदि) ।

१—नपुंसकलिङ्ग में, अन्वादेश में इदम् शब्द को एनद् आदेश कहना चाहिए (होना है) । एनद्=यह । अहः=दिन । २—पदान्त में अहन् शब्द के न् को रु होता है । दण्डि=दण्डवाला । सुपथि=सुन्दर रास्तावाला (नगर) वा वन । ऊर्क्= बल । तद्=वह । यद्=जो । एतद्=यह । गवाक्= गोपूजक, रक्षक । शकृत्=मल ।

तत् । ते । तानि । यत् । ये । यानि । एतत् । एते । एतानि । गवाक्, गवाग् । गोची । गवाञ्चि । पुनस्तस्त् । गोचा । गवाग्भ्याम् । शकृत् । शकृती । शकृन्ति । ददत् । ददती ।

वा नपुंसकस्य ७ । १ । ७९ ॥ [1]अभ्यस्तात्परो यः शता तदन्तस्य क्लीबस्य वा नुम् स्यात् सर्वनामस्थाने परे । ददन्ति, ददति । तुदत् ।

आच्छीनद्योर्नुम् ७ । १ । ८० ॥ [2]अवर्णान्तादङ्गात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नुम् वा स्यात्, शी-नद्योः परतः । तुदन्ती । तुदन्ति ।

शप्-श्यनोर्नित्यम् ७ । १ । ८१ ॥ [3]शप्-श्यनोरात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नित्यं नुम् स्यात् शी-नद्योः परतः । पचन्ती । पचन्ति । दीव्यत् । दीव्यन्ती । दीव्यन्ति । धनुः । धनुषी । सान्तेति दीर्घः । नुम्-विसर्जनीयेति षः । धनूंषि । धनुषा । धनुर्भ्याम् । एवं चक्षुर्हविरादयः । पयः । पयसी पयांसि । पयसा । पयोभ्याम् । सुपुम् । सुपुंसी । सुपुमांसि । अदः । विभक्तिकार्यम् । उत्वमत्वे । अमू । अमूनि । शेषं पुवत् ।

❀ इति हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ❀



गवाक्—शब्दस्य रूपाणि सक्षेपतया—

गवाक्-ग्	गोची	गवाञ्चि	गोचः	गवाग्भ्याम्	गवाग्भ्यः
गवाक्-ग्	गोची	गवाञ्चि	गोचः	गोचोः	गोचाम्
गोचा	गवाग्भ्याम्	गवाग्भिः			
गोचे	गवाग्भ्याम्	गवाग्भ्यः	गोचि	गोचोः	गवाक्षु

* इति हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् *

—:o:—

१—सर्वनामस्थान पर में रहे तो अभ्यस्त संज्ञक से परे शतृप्रत्ययान्त नपुंसक अङ्ग को विकल्प से नुम् होता है । तुदत=दुःख देता हुआ । २—शी या नदीसंज्ञक (वर्ण) पर मे रहे तो अवर्णान्त अङ्ग से परे जो शतृ का अवयव तदन्त शब्दस्वरूप को नुम् होता है विकल्प से । ३–शी या नदीसंज्ञक वर्ण पर मे हो तो शप्, श्यन् सम्बन्धी अकार से परे जो शतृ का अवयव तदन्त शब्दस्वरूप को नित्य ही नुम् होता है । पचत्=पकाता हुआ । दीव्यत्=खेलता हुआ, प्रकाशमान होता हुआ । चक्षुः=आँख । हविः=हवनार्थ खीर आदि सामग्री । पयः=दूध या पानी । सुपुम्=अच्छे पुरुषों वाला । अदः=यह ।

* इस प्रकार हलन्तनपुंसकलिङ्ग समाप्त हुआ *

—:o:—

अथाऽव्ययप्रकरणम्

स्वरादिनिपातमव्ययम् १ । १ । ३७ ॥ [1]स्वरादयो निपाताश्चाऽव्ययसंज्ञाः स्युः । स्वर् । अन्तर् । प्रातर् । पुनर् । सनुतर् । उच्चैस् । नीचैस् । शनैस् । ऋधक् । ऋते । युगपत् । आरात् । पृथक् । ह्यस् । श्वस् । दिवा । रात्रौ । सायम् । चिरम् । मनाक् । ईषत् । जोषम् । तूष्णीम् । बहिस् । अवस् । समया । निकषा । स्वयम् । वृथा । नक्तम् । नञ् । हेतौ । इद्धा । अद्धा । सामि । वत् । ब्राह्मणवत् । क्षत्रियवत् । सना । सनत् । सनात् । उपधा । तिरस् । अन्तरा । अन्तरेण । ज्योक् । कम् । शम् । सहसा । विना । नाना । स्वस्ति । स्वधा । अलम् । वषट् । श्रौषट् । वौषट् । अन्यत् । अस्ति । उपांशु । क्षमा । विहायसा । दोषा । मृषा । मिथ्या । मुधा । पुरा । मिथो । मिथस् । प्रायस् । मुहुस् । प्रवाहुकम्, [प्रवाहिका] । आर्यहलम् । अभीक्ष्णम् । साकम् । सार्धम् । नमस् । हिरुक् ।

१–स्वरादिगण में पढ़े गये शब्द और निपात–संज्ञक शब्द 'अव्यय' संज्ञक होते हैं । अन्तर्=बीच । प्रातर्=प्रातःकाल । पुनर्=फिर, बार-बार । सनुतर्=छिपना । उच्चैस् = ऊँचा, बड़ा । नीचैस् = नीचा, छोटा । शनैस् = धीरे-धीरे, विलम्ब । ऋधक् = सत्य । ऋते=बिना । युगपत्=एक साथ । आरात्=दूर और नजदीक । पृथक् = अलग, बिना । ह्यस् = बीता हुआ कल का दिन । श्वस् = आगामी (कल का) दिन । दिवा=दिन । रात्रौ=रात । सायम्= सायंकाल । चिरम्=बहुत दिन । मनाक् = ईषत्=थोड़ा । जोषम्=चुप रहना, सुख । तूष्णीम् =न बोलना, चुपचाप । बहिस् , अवस् = बाहर । समया, निकषा=नजदीक, मध्य । स्वयं= अपने । वृथा=व्यर्थ । नक्तम्=रात्रि । नञ् = नहीं । हेतौ=कारण । इद्धा=स्पष्ट । अद्धा= स्पष्टार्थ, विनिश्चय (साक्षात्) । सामि=आधा । वत्=समान, तुल्य । ब्राह्मणवत्=ब्राह्मण के समान । क्षत्रियवत्=क्षत्रियके समान । सना, सनात=नित्य । उपधा=भेद या घूस । तिरस् = टेढ़ा, छिप जाना । अन्तरेण, अन्तरा=बिना (छोड़कर) बीच में । ज्योक् = अतिशीघ्रता । कम् = पानी, शिर, सुख, निन्दा । शम् = कल्याण (भलाई), सुख । सहसा=एकाएक (अचानक), विना=बिना । नाना=अनेक प्रकार । स्वस्ति=शुभ, कल्याण । स्वधा=पितरों के तृप्ति के लिए श्राद्धादिकों में प्रयुक्त किया जाने वाला (प्रतिष्ठित) पद । अलम्='बस', और की इच्छा (आवश्यकता) न रहने पर यह शब्द कहा जाता है, आभूषण, परिपूर्णता । वषट् = देवताओं के तृप्त्यर्थ 'हवि' दान में । अन्यत्–अन्य और । अस्ति=है । उपांशु=अन्तः उच्चारण (जैसे गायत्री मन्त्रके जपमें) एकान्त । क्षमा=माफी । विहायसा=आकाश । दोषा=रात । मिथ्या=मृषा, असत्य । मुधा=व्यर्थ, प्रायः । पुरा=पहले । मिथो, मिथस् = परस्पर । प्रायस् = अत्यन्त । मुहुस् = पुनः । प्रवाहुकम् वा प्रवाहिका= एक कालमें वा ऊँचाई में । आर्यहलम्=बलात्कार करने में, रोकने में । अभीक्ष्णम्=निरन्तर,

धिक् । अथ । अम् । आम् । प्रताम् । [प्रशान्] प्रतान् । मा । माङ् । आकृतिगणोऽयम् । च । वा । ह । अह । एव । एवम् । नूनम् । शश्वत् । युगपत् । भूयम् । कूपत् । कुवित् । नेत् । चेत् । चण् । कच्चित् । यत्र । नह । हन्त । माकिः । माकिम् । नाकिः । नाकिम् । माङ् । नञ् । यावत् । तावत् । त्वै । द्वै । [न्वै] । रै । श्रौषट् । वौषट् । स्वाहा । तुम् । तथाहि । खलु । किल । अथो । अथ । सुष्ठु । स्म । आदह ।

ॐ [1]उपसर्ग-विभक्ति-स्वरप्रतिरूपकाश्च ॐ

अवदत्तम् । अहंयुः । अस्तिक्षीरा । अ । आ । इ । ई । उ । ऊ । ए । ऐ । ओ । औ । पशु । शुकम् । यथाकथाच । पाट् । प्याट् । अङ्ग । है । हे । भोः । अये । द्य । विषु । एकपदे । युत् । आतः । चादिरप्याकृतिगणः ।

बारंबार । साकम्=सार्धम्-साथ में । नमस् = नमस्कार । हिरुक् = विना । धिक् = धिक्कार । अथ=मंगल । अम्=अतिशीघ्रता । आम्=स्वीकार करना । प्रताम्=पश्चात्ताप वा प्रारम्भ । प्रशान्=तुल्य । प्रतान=विस्तार । मा, माङ = रोकना, खण्डन करना । ये पूर्वोक्त स्वर आदि अव्यय आकृतिगण हैं । अर्थात् आकृत्या स्वरूपेणैव गण्यते इति, अपने स्वरूपसे ही जाने जाते हैं । प्रशान्के स्थान मे प्रशान् का पाठ कुछ लोग मानते हैं । किन्तु वह साम्प्रदायिक नहीं है । इसी प्रकार के कुछ और भी स्वरादि हैं । ग्रन्थविस्तार के भय से नहीं दिये जाते हैं । च=भी, और (समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतर योग-समाहार, और । वा=अथवा, विकल्प । ह= प्रसिद्ध, निश्चय । अह=स्पष्ट । एव=निश्चय । एवं=इसी प्रकार । नूनम्=निश्चय, अवश्य । शश्वत्=सब दिन । युगपत्—एक समय । भूयम्=अत्यधिक, पुनः । कूपत्=प्रश्न, बड़ाई । कुवित्=अत्यधिक, प्रशंसा । नेत्=निषेध, विचार, सन्देह । चेत्=यदि । कच्चित्=कदाचित्, अनुकूल प्रश्न । यत्र=जहाँ । तत्र=तहाँ, वहां । नह=नहीं । हन्त=प्रसन्नता, प्रस्तुत पर दुःख प्रकट करना । माकिः, माकिम्=प्रतिषेध (रोकना) । नाकिः, नाकिम्=सही-सही । माङ्, नञ्=निषेध । यावत्=जितना, जब तक । तावत्=तब तक, उतना । त्वै, द्वै न्वै=विशिष्ट विचार (तर्क) । न्वै पाठ-भेद है । रै=दान, आदर । श्रौषट् वौषट् स्वाहा=देवताओं के तृप्त्यर्थ हवि आदि के प्रदान आदि मे । तुम्=तू । तथाहि=जैसे, उदाहरण के अर्थ मे । खलु, किल=निश्चय । सुष्ठु=सुन्दर । स्म=भूतकालवाचक, पाद की पूर्ति में । आदह=प्रारम्भ, निन्दा, हिंसा ।

१—उपसर्ग प्रतिरूपक (सदृश) सुबन्त-सुप्प्रतिरूपक, तिङन्तप्रतिरूपक एवं स्वर-प्रतिरूपक शब्द भी अव्यय संज्ञक होते हैं । अवदत्तम्=दिया गया । अहंयुः=अभिमानी । अस्तिक्षीरा=दूधवाली । 'अ' से औ तक के स्वर । पशु=सम्यक् । शुकम्=शीघ्र । यथाकथाच=अनादर, किसी तरहसे । पाट्, प्याट्, अङ्ग, है, हे, भोः अये सम्बोधन अर्थ में । द्य=सम्बोधन

[1]तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः १ । १ । ३८ ॥ यस्मात् सर्वा विभक्तिर्नोत्पद्यते स तद्धितान्तोऽव्ययं स्यात् । परिगणनं कर्त्तव्यम् । तसिलादयः प्राक् पाशपः । शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः । अम् । आम् । कृत्वोर्थाः । तसिवती । नानाञौ । एतदन्तमप्यव्ययम् ।

कृन्मेजन्तः १ । १ । ३९ ॥ [2]कृद्यो मान्त एजन्तश्च तदन्तमव्ययं स्यात् । स्मारं स्मारम् । जीवसे । पिबध्यै ।

क्त्वा-तोसुन्-कसुनः १ । १ । ४० ॥ [3]एतदन्तमव्ययं स्यात् । कृत्वा । उदेतोः । विसृपः ।

अव्ययीभावश्च १ । १ । ४१ ॥ [[4]अव्ययीभावश्चाऽव्ययसंज्ञः स्यात् ।] अधिहरि ।

अव्ययादाप्सुपः २ । ४ । ८२ ॥ [5]अव्ययाद्विहितस्यापः सुपश्च लुक् स्यात् । तत्र शालायाम् ।

[6]सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ १ ॥
वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥ २ ॥

हिंसा,पादपूरण, उलटा । विषु=अनेक । एकपदे=एक वा एकत्र, सहसा, अकस्मात् । युत्=निन्दा । आतः=इसलिए । चादि=च है आदि मे जिनके वे भी आकृतिगण है ।

१–तद्धित के जिस शब्द से सभी विभक्तियाँ न हों ऐसा तद्धितान्त पद भी अव्यय-संज्ञक होता है । उनकी गणना करनी चाहिए । तसिल् प्रत्यय तक के (तद्धितान्त) अव्यय-संज्ञक होते हैं । और शस् से लेकर समासान्त प्रत्ययों के पूर्व के अव्यय संज्ञक होते हैं । २–मान्त और एजन्त जो कृत् तदन्त की अव्यय संज्ञा होती हैं । स्मारं स्मारम्=बार-बार स्मरण कर के । जीवसे=जीने के लिए । ३–क्त्वा, तोसुन् और कसुन् प्रत्ययान्त शब्द अव्यय-संज्ञक होते है । कृत्वा=करके । उदेतोः=उदय होकर । विसृपः=फैलकर । ४–अव्ययीभाव समास की अव्ययसंज्ञा होती है । अधिहरि=हरि में । ५–अव्यय से लाये गये आप् और सुप् का लोप होता है । तत्र शालायाम्=उस भवन में । ६–जो शब्द तीनों (पुं० स्त्री० नपुंसक) लिङ्गों में प्रथमा से सप्तमी तक के सब विभक्तियों में एवं सब वचनों एकवचन द्विवचन बहुवचनों में विकृत (रूपान्त को प्राप्त) नहीं होता वही अव्यय कहलाता है । भागुरि आचार्य कहते हैं कि अव और अपि—इन उपसर्गों के अकार का लोप होता है और हलन्त शब्दों से आप् प्रत्यय होता है, जैसा वाचा, (वाणी) निशा (रात्रि), दिशा आदि में आप् हो गया ।

वगाहः, अवगाहः । पिधानम्, अपिधानम् ।

॰ इति लघुसिद्धान्तकौमुद्यामव्ययप्रकरणम् ॰

अथ तिङन्ते भ्वादिप्रकरणम्

लट् लिट् लुट् लृट् लेट् लोट् लङ् लिङ् लुङ् लृङ् ।—[1]एषु पञ्चमो लकारश्छन्दोमात्रगोचरः ।

लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः ३ । ४ । ६९ ॥ [2]लकाराः सकर्मकेभ्यः कर्मणि कर्तरि च स्युरकर्मकेभ्यो भावे कर्तरि च ।

वर्त्तमाने लट् ३ । २ । १२३ ॥ [3]वर्तमानक्रियावृत्तेर्धातोर्लट् स्यात् । अटावितौ । [4]उच्चारणसामर्थ्याल्लस्य नेत्त्वम् । भू सत्तायाम् । कर्तृविवक्षायां भू ल् इति स्थिते—

तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्ताऽऽताञ्झथासाथान्ध्वमिड्वहिमहिङ् ३ । ४ । ७८ ॥ [5]एतेऽष्टादश लादेशाः स्युः ।

अव, अपि उपसर्गों का उदाहरण दे रहे हैं । वगाह=स्नान । पिधानम्=ढकना । दोनों में अकार का लोप हो गया है ।

* इस प्रकार अव्ययप्रकरण समाप्त *

१–इन दशों लकारों में से पाँचवें (लेट्) लकार का प्रयोग केवल वेद में ही होता है । २–'लकार' सकर्मक धातुओं से कर्म और कर्ता में तथा अकर्मक धातुओं से भाव एवं कर्ता में होते हैं ।

बच्चों को यह ध्यान रखना चाहिये कि काल (समय) के प्रधानतया तीन विभाग हैं–भूत, वर्तमान और भविष्यत् । बीते हुए समय को भूतकाल कहते हैं, जैसे—स जगाम=वह गया, यह भूतकाल है । देवदत्तः पठति=देवदत्त पढ़ता है, यह वर्तमान काल है । यज्ञदत्तः पठिष्यति=यज्ञदत्त पढ़ेगा, यह भविष्यत् काल है । ये तीनों काल सामान्य एवं विशेष भेद वाले भी होते हैं ।

३–वर्तमान कालिक क्रियावृत्ति (क्रिया के व्यवहार में) धातु से लट् लकार होता है । ४–'लशक्वतद्धिते' से 'ल' की इत्संज्ञा प्राप्त होती है किन्तु उच्चारण के सामर्थ्य से नहीं होती है । ५–लकार के स्थान में ये तिप् तस् आदि अठारहों आदेश होते हैं । (जैन व्याकरण में पहले उत्तम पुरुष, तब मध्यम, तत्पश्चात् अन्य पुरुष होता है । यह सूत्र वहाँ मिब्वस् से है) ।

लः परस्मैपदम् १ । ४ । ९९ ।। [1]लादेशाः परस्मैपदसंज्ञाः स्युः ।

तङानावात्मनेपदम् १ । ४ । १०० ।। [2]तङ् प्रत्याहारः शानच्कानचौ चैतत्संज्ञाः स्युः । पूर्वसंज्ञाऽपवादः ।

अनुदात्तङित आत्मनेपदम् १ । ३ । १२ ।। [3]अनुदात्तेतो ङितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात् ।

स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले १ । ३ । ७२ ।। [4]स्वरितेतो ञितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात्कर्तृगामिनि क्रियाफले ।

शेषात्कर्तरि परस्मैपदम् १ । ३ । ७८ ।। [5]आत्मनेपदनिमित्तहीनाद्धातोः कर्तरि परस्मैपदं स्यात् ।

तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः १ । ४ । १०१ ।। [6]तिङ उभयोः पदयोस्त्रयस्त्रिकाः क्रमादेतत्संज्ञाः स्युः ।

तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः १ । ४ । १०२ ।। [7]लब्धप्रथमादिसंज्ञानि तिङस्त्रीणि त्रीणि वचनानि प्रत्येकमेकवचनादिसंज्ञानि स्युः ।

युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः १ । ४ । १०५ ।। [8]तिङ्वाच्यकारकवाचिनि युष्मदि प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमाने च मध्यमः स्यात् ।

अस्मद्युत्तमः १ । ४ । १०७ ।। [9]तथाभूतेऽस्मद्युत्तमः स्यात् ।

शेषे प्रथमः १ । ४ । १०८ ।। [10]मध्यमोत्तमयोरविषये प्रथमः स्यात् । भू–ति इति जाते ।

१–लकार के स्थान में होने वाले तिप् आदि आदेश परस्मैपद–संज्ञक होते हैं । २–तङ् प्रत्याहार और शानच्, कानच् प्रत्यय आत्मनेपद–संज्ञक होते हैं । यह परस्मैपद का बाधक है । ३–अनुदात्तेत् और ङित् धातु से आत्मनेपद होता है । ४–कार्य का फल कर्ता में जाता (प्राप्त होता) हो तो स्वरितेत् ञित् धातु से आत्मनेपद होता है (जैसे–कोई मनुष्य भोजन बना रहा है, वह यदि अपने लिए बनाता है, तब तो 'पचते' ऐसा आत्मनेपद होगा और यदि दूसरे के लिए बना रहा है तो वहाँ 'पचति' ऐसा परस्मैपदका प्रयोग होगा) । ५–आत्मनेपद के निमित्त से हीन धातु से कर्ता में परस्मैपद होता है । ६–तिङ् के परस्मैपद और आत्मनेपद सम्बन्धी तीन-तीन त्रिकों को क्रम से प्रथम, मध्यम, उत्तम (पुरुष) संज्ञा होती है । ७–उन प्राप्त प्रथमादि संज्ञावाले तीन तीन त्रिकों की (प्रत्येक में) क्रम से एक वचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा होती है । ८–तिङ् से वाच्य जो कारक, तद् (कारक) वाची युष्मद् शब्द का प्रयोग (उच्चारण) किया जाय या नहीं, तो मध्यमपुरुष होता है (अर्थात् युष्मद् शब्द और मध्यम पुरुष से अभेद है) । ९–तिङ्वाच्यकारकवाची अस्मद् शब्द प्रयुज्यमान हो या अप्रयुज्यमान हो तो धातु से उत्तम पुरुष होता है । १०–मध्यम और उत्तम पुरुष के अविषय अर्थात् अन्य व्यक्ति में प्रथम पुरुष होता है ।

तिङ्शित्सार्वधातुकम् ३ । ४ । ११३ ॥ [1]तिङः शितश्च धात्वधिकारोक्ता एतत्संज्ञाः स्युः ।

कर्तरि शप् ३ । १ । ६८ ॥ [2]कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे धातोः शप् स्यात् ।

सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७ । ३ । ८४ ॥ [3]अनयोः परयोरिगन्ताङ्गस्य गुणः स्यात् । अवादेशः । भवति । भवतः ।

झोऽन्तः ७ । १ । ३ ॥ [4]प्रत्ययावयवस्य झस्यान्तादेशः स्यात् । अतो गुणे । भवन्ति । भवसि । भवथः । भवथ ।

अतो दीर्घो यञि ७ । ३ । १०१ ॥ [5]अतोऽङ्गस्य दीर्घः स्याद्यञादौ सार्वधातुके । भवामि । भवावः । भवामः । स भवति । तौ भवतः । ते भवन्ति । त्वं भवसि । युवां भवथः । यूयं भवथ । अहं भवामि । आवां भवावः । वयं भवामः ।

परोक्षे लिट् ३ । २ । ११५ ॥ [6]भूतानद्यतनपरोक्षार्थवृत्तेर्धातोर्लिट् । लस्य तिबादयः ।

परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः ३ । ४ । ८२ ॥ [7]लिटस्तिबादीनां नवानां णलादयो नव स्युः । भू अ इति स्थिते ।

भुवो वुग् लुङ्लिटोः ६ । ४ । ८८ ॥ [8]भुवो वुगागमः स्याल्लुङ्लिटोरचि ।

लिटि धातोरनभ्यासस्य ६ । १ । ८ ॥ [9]लिटि परेऽनभ्यासधात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तः, आदिभूतादचः परस्य तु द्वितीयस्य । भूव् भूव् अ इति स्थिते ।

१—धातु के अधिकार में पठित तिङ् और शित् सार्वधातुक-संज्ञक होते हैं । २—कर्त्रर्थक अर्थात् कर्ता को कहनेवाला सार्वधातुक पर में रहे तो धातुसे शप् प्रत्यय होता है । ३—सार्वधातुक या आर्धधातुक पर में रहे तो इगन्त अङ्ग को गुण होता है । भवति=होता है, हो रहा है । ४—प्रत्यय के अवयव झ को 'अन्त' आदेश होता है । ५—यञादि सार्वधातुक पर में रहे तो अदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है । ६—भूत अनद्यतन (आज से पूर्व) परोक्ष (आँख से न देखा गया) अर्थ में व्यवहार होने पर धातु से लिट् लकार होता है । ७—लिट् के तिप् आदि नवों के स्थान में णल्-आदि नव होते हैं । ८—लुङ् या लिट् सम्बन्धी अच् पर में रहे तो भू धातु से वुक् का आगम होता है । ९—लिट् पर में रहे तो अभ्यासरहित धातु का अवयव जो एकाच् उसको द्वित्व होता है, आदिभूत अच् से परे द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है ।

पूर्वोऽभ्यासः ६ । १ । ४ ॥ [1]अत्र ये द्वे विहिते तयोः पूर्वोऽभ्याससंज्ञः स्यात् ।

हलादिः शेषः ७ । ४ । ६० ॥ [2]अभ्यासस्याऽऽदिर्हल् शिष्यते, अन्ये हलो लुप्यन्ते । इति वलोपः ।

ह्रस्वः ७ । ४ । ५९ ॥ [3]अभ्यासस्याऽचो ह्रस्वः स्यात् ।

भवतेरः ७ । ४ । ७३ ॥ [4]भवतेरभ्यासोकारस्य अः स्याल्लिटि ।

अभ्यासे चर्च ८ । ४ । ५४ ॥ [5]अभ्यासे झलां चरः स्युर्जशश्च । झशां जशः, खयां चर इति विवेकः । बभूव । बभूवतुः । बभूवुः ।

लिट् च ३ । ४ । ११५ ॥ [6]लिडादेशस्तिङार्धधातुकसंज्ञः स्यात् ।

आर्धधातुकस्येड् वलादेः ७ । २ । ३५ ॥ [7]वलादेरार्धधातुकस्येडागमः स्यात् । बभूविथ । बभूवथुः । बभूव । बभूव । बभूविव । बभूविम ।

अनद्यतने लुट् ३ । ३ । १५ ॥ [8]भविष्यत्यनद्यतनेऽर्थे धातोर्लुट् स्यात् ।

बभूव—सत्तार्थवाची धातुसंज्ञक 'भू' इत्यस्माल्लिटि तस्य स्थाने 'तिप्तस्' इत्यादिना तिपि, 'परस्मैपदानां णलतुस्-', इत्यादिना तिपो णलादेशे, अनुबन्धलोपे, 'भुवो वुग् लुङ्लिटोः' इति वुगागमे, उकावितौ, लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति भूव् इत्यस्य द्वित्वे, अभ्यासादिकार्ये, 'ह्रस्वः' इति अभ्यासस्य ह्रस्वे, 'भवतेरः' इति उकारस्य अकारे, 'अभ्यासे चर्च' इति चर्त्वेन भस्य बत्वे 'बभूव' इति ।

बभूविथ—भू धातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, अनुबन्धलोपे, तस्य सिपि, 'लिट् च' इत्यार्धधातुकत्वे परस्मैपदानामित्यदिना सिपस्थलादेशे 'भू थ' इति दशायां स्थानिवत्त्वेन थस्यार्धधातुकत्वात् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे, अनुबन्धलोपे, भुवो वुगिति वुगागमे, लिटि धातोरित्यादिना भूव् इत्यस्य द्वित्वे, 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्यासत्वे, 'हलादिः शेषः' इति वस्य लोपे, 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे, 'अभ्यासे चर्च' इति चर्त्वेन भस्य बकारे 'बभूविथ' इति ।

१—यहाँ जो द्वित्व-विधान किये हैं, उनमें से पूर्व की अभ्यास-संज्ञा होती है । २—अभ्यास के आदि हल् का शेष रहता है अन्य हलों का लोप हो जाता है । ३—अभ्यास के अच् को ह्रस्व होता है । ४—लिट् पर में रहे तो 'भू' धातु के अभ्यास-सम्बन्धी उकार को अकार होता है । ५—अभ्यास में झलों को चर् तथा जश् भी होते हैं । ६—लिट् के स्थान में आदेश होने वाला जो तिङ् उसकी आर्धधातुक संज्ञा होती है । ७—वल् प्रत्याहार हो आदि में जिसके ऐसे आर्धधातुक से इट् का आगम होता है । ८—भविष्यत् अनद्यतन (आज से आगे) अर्थ में धातु से 'लुट्' लकार होता है ।

स्यतासी लृलुटो ३ । १ । ३३ ॥ [1]धातोः स्यतासी एतौ प्रत्ययौ स्तो लृलुटोः परतः । शबाद्यपवादः । 'लृ' लृङ्-लृटोर्ग्रहणम् ।

आर्धधातुकं शेषः ३ । ४ । ११४ ॥ [2]तिङ्शिद्भ्योऽन्यो धातोरिति विहितः प्रत्यय एतत्संज्ञः स्यात् । इट् ।

लुटः प्रथमस्य डारौरसः २ । ४ । ८५ ॥ [3]डा रौ रस् एते क्रमात्स्युः । [4]डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः । भविता ।

तासस्त्योर्लोपः ७ । ४ । ५० ॥ [5]तासेरस्तेश्च सस्य लोपः स्यात्सादौ प्रत्यये परे ।

रि च ७ । ४ । ५१ ॥ [6]रादौ प्रत्यये तथा । भवितारौ । भवितारः । भवितासि । भवितास्थः । भवितास्थ । भवितास्मि । भवितास्वः । भवितास्मः ।

लृट् शेषे च ३ । ३ । १३ ॥ [7]भविष्यदर्थाद्धातोर्लृट् स्यात् क्रियार्थायां क्रियायां सत्यामसत्यां वा । स्यः । इट् । भविष्यति । भविष्यतः । भविष्यन्ति । भविष्यसि । भविष्यथः । भविष्यथ । भविष्यामि । भविष्यावः । भविष्यामः ।

लोट् च ३ । ३ । १६२ ॥ [8]विध्याद्यर्थेषु धातोर्लोट् स्यात् ।

भवितारौ—'भू' धातोः 'अनद्यतने लुट्' इति लुटि लस्य तिप्तसादिना तसादेशे कृते, शपं प्रबाध्य 'स्यतासी लृलुटोः' इति तासि, तासः 'आर्धधातुकं शेषः' इति आर्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इतीडागमे, धातोर्गुणावादेशयोः कृतयोः तसः 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' इति रौभावे, 'रि च' इति सस्य लोपे 'भवितारौ' इति ।

१–लृट् तथा लुट् को स्य और तास् प्रत्यय क्रमशः होते हैं । २–तिङ् और शित् से भिन्न और 'धातोः' इसके अधिकार में विहित प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा होती है । ३–लुट्सम्बन्धी प्रथम पुरुष (तिप् तस् झि) के स्थान में क्रम से डा, रौ, रस् आदेश होते हैं । ४–('डा' प्रत्यय) डकार की इत्संज्ञा होने डित् है अतः भसंज्ञक न होने पर भी टि का लोप होता है । ५—सादि (सकार हो आदि में जिसके ऐसा) प्रत्यय पर में रहे तो तास् प्रत्यय एवं अस् धातु-सम्बन्धी सकार का लोप होता है । ६—रादि प्रत्यय भी पर में रहे तो वैसा ही जानना । ७–क्रिया क्रियार्थक हो या नहीं हो भविष्यत् अर्थ में धातु से लृट् लकार होता है । ८—विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, संप्रश्न प्रार्थना–इन अर्थों में धातु से लोट् लकार होता है ।

आशिषि लिङ्लोटौ ३ । ३ । १७३ ॥ [[1]आशिषि धातोर्लिङ्लोटौ स्तः] ।

एरुः ३ । ४ । ८६ ॥ [2]लोट इकारस्य उः स्यात् । भवतु ।

तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् ७ । १ । ३५ ॥ [3]आशिषि तुह्योस्तातङ् वा स्यात् । परत्वात्सर्वादेशः । भवतात् ।

लोटो लङ्वत् ३ । ४ । ८५ ॥ [4]लोटो लङ इव कार्यं स्यात् । तेन तामादयः सलोपश्च ।

तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः ३ । ४ । १०१ ॥ [5]ङितश्चतुर्णां तामादयः क्रमात्स्युः । भवताम् । भवन्तु ।

सेर्ह्यपिच्च ३ । ४ । ८७ ॥ [6]लोटः सेर्हिः स्यात् सोऽपिच्च ।

अतो हेः ६ । ४ । १०५ ॥ [7]अतः परस्य हेर्लुक् स्यात् । भव. भवतात् । भवतम् । भवत ।

मेर्निः ३ । ४ । ८९ ॥ [8]लोटो मेर्निः स्यात् ।

आडुत्तमस्य पिच्च ३ । ४ । ९२ ॥ [9]लोडुत्तमस्याऽट् स्यात्स पिच्च । भवानि । [10]हिन्योरुत्वं न. इकारोच्चारणसामर्थ्यात् ।

ते प्राग्धातोः १ । ४ । ८० ॥ [11]ते = गत्युपसर्गसंज्ञका धातोः प्रागेव प्रयोक्तव्याः ।

आनि लोट् ८ । ४ । १६ ॥ [12]उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य लोडादेशस्या-

---

१—आशीर्वाद अर्थ में धातु से लिङ् और लोट् लकार होते हैं । २—लोट् सम्बन्धी इकारके स्थान में उकार होता है । ३—आशीर्वाद अर्थ में 'तु' एवं 'हि' को तातङ् आदेश विकल्प से होता है । ४—लोट्-सम्बन्धी कार्य लङ् की तरह होते हैं । अतः तस्-आदि के स्थान में ताम्-आदि आदेश और सकार का लोप भी होता है । ५—ङित् सम्बन्धी तस्, थस्, थ, मिप्-इन चारों के स्थान में क्रम से ताम्, तम्, त, अम् आदेश होते हैं । ६—लोट्-सम्बन्धी 'सि' के स्थान में 'हि' होता है और वह 'अपित्' संज्ञक होता है । ७—अदन्त (ह्रस्व अकारान्त) से परे 'हि' का लोप होता है । ८—लोट् सम्बन्धी 'मि' के स्थान में 'नि' आदेश होता है । ९—लोट् सम्बन्धी उत्तम पुरुष से 'आट्' का आगम होता है और वह 'पित्' संज्ञक होता है । १०—'सेर्ह्यपिच्च, मेर्निः' से विहित 'हि' 'नि' के 'इ' को 'उ' नहीं होता, इकारोच्चारण के सामर्थ्य से अर्थात् यदि उकार ही करना इष्ट होता तो उकार-युक्त ही उच्चारण किया गया होता । ११—गति-संज्ञक एवं उपसर्ग-संज्ञकों का धातु से पहले ही प्रयोग करना चाहिए । १२—उपसर्ग में रहने वाले निमित्त (अर्थात् णत्व-निमित्त रेफ, षकार) से परे लोडादेश 'आनि' के नकार को णकार होता है ।

…नीत्यस्य नस्य णः स्यात् । प्रभवाणि । ❀[1]दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः । दुःस्थितिः । दुर्भवानि । ❀[2]अन्तश्शब्दस्याङ्किविधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम् । अन्तर्भवाणि ।

नित्यं ङितः ३ । ४ । ९९ ॥ [3]सकारान्तस्य ङिदुत्तमस्य नित्यं लोपः स्यात् । अलोऽन्त्यस्येति सलोपः । भवाव । भवाम ।

अनद्यतने लङ् ३ । २ । १११ ॥ [4]अनद्यतनभूतार्थवृत्तेर्धातोर्लङ् स्यात् ।

लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः ६ । ४ । ७१ ॥ [5]एष्वङ्गस्याडागमः स्यात्, स चोदात्तः ।

इतश्च ३ । ४ । १०० ॥ [6]ङितो लस्य परस्मैपदमिकारान्तं यत्तदन्तस्य लोपः स्यात् । अभवत् । अभवताम् । अभवन् । अभवः । अभवतम् । अभवत । अभवम् । अभवाव । अभवाम ।

विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् ३ । ३ । १६१ ॥ [7]एष्वर्थेषु धातोर्लिङ् स्यात् ।

भवानि, प्रभवाणि—भू धातोः 'लोट् च' 'आशिषि' इति वा लोटि, अनुबन्धलोपे, तस्य सार्वधातुकत्वेन शपि गुणेऽवादेशे च जाते, 'मेर्निः' इति 'मि' इत्यस्य 'नि' इत्यादेशे, 'आडुत्तमस्य पिच्च' इत्याडागमे दीर्घे 'भवानि' इति । मेर्निरित्यत्रैकारोच्चारणान्न 'एरु' इत्यस्य प्रवृत्तिः । 'ते प्राग्धातोः' इति सूत्रेण प्रशब्दस्य प्राक्प्रयोगे 'आनि लोट्' इति नस्य णत्वे 'प्रभवाणि' इति ।

अभवत्—भू-धातोः 'अनद्यतने लङ्' इति लङि, तस्य तिपि, लस्य स्थानिवत्त्वे 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इति-अडागमे, भू इत्यस्मात्-शपि गुणेऽवादेशे, 'ति'-निष्ठ-इकारस्य 'इतश्च' इति लोपे 'अभवत्' इति ।

१—षत्व और णत्व के विधान में 'दुर्' का उपसर्गत्व का प्रतिषेध कहना चाहिए। २—अड् विधि, किविधि एवं णत्व-विधान में अन्तर् शब्द की उपसर्गसंज्ञा कहना चाहिए। ३—ङित् (लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ्) सम्बन्धी सकारान्त उत्तम पुरुष का नित्य ही लोप होता है। ४—अनद्यतन भूत अर्थ में धातु से 'लङ्' लकार होता है। ५—लुङ्, लङ् या लृङ् पर में रहे तो अङ्ग में अट् का आगम होता है और वह उदात्त-संज्ञक होता है। ६—ङित् सम्बन्धी इकार के स्थान में जो इकारान्त परस्मैपद (ति, सि, मि—आदि) तदन्त (अर्थात् इकार) का लोप होता है। ७—विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, संप्रश्न, प्रार्थना, इन अर्थों में धातु से लिङ् लकार होता है। विधि—नौकर आदि को किसी कार्य के लिए प्रेरित करना। निमन्त्रण—नियोगकरण, श्राद्धादिमें दौहित्र (पुत्री के पुत्र) आदि का प्रेम श्रद्धापूर्वक आह्वान। आमन्त्रण—जैसा चाहो करो, ऐसा कहना। अधीष्ट—सत्कारपूर्वक

यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च ३ । ४ । १०३ ॥ [1]लिङः परस्मैपदानां यासुडागमः स्यात्स चोदात्तो ङिच्च ।

लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य ७ । २ । ७९ ॥ [2]सार्वधातुकलिङोऽनन्त्यस्य सस्य लोपः स्यात् । इति प्राप्ते ।

अतो येयः ७ । २ । ८० ॥ [3]अतः परस्य सार्वधातुकावयवस्य यास् इत्यस्य इय् स्यात् । गुणः ।

लोपो व्योर्वलि ६ । १ । ६६ ॥ [4][वकारयकारयोर्लोपः स्याद्वलि] । भवेत् । भवेताम् ।

झेर्जुस् ३ । ४ । १०८ ॥ [5]लिङो झेर्जुस् स्यात् । भवेयुः । भवेः । भवेतम् । भवेत । भवेयम् । भवेव । भवेम ।

लिङाशिषि ३ । ४ । ११६ ॥ [6]आशिषि लिङस्तिङार्धधातुकसंज्ञः स्यात् ।

किदाशिषि ३ । ४ । १०४ ॥ [7]आशिषि लिङो यासुट् कित्स्यात् । स्कोः संयोगाद्योरिति सलोपः ।

क्ङिति च १ । १ । ५ ॥ [8]गित्किन्ङिन्निमित्ते इग्लक्षणे गुणवृद्धी न स्तः । भूयात् । भूयास्ताम् । भूयासुः । भूयाः । भूयास्तम् । भूयास्त । भूयासम् । भूयास्व । भूयास्म ।

भवेयुः—भू धातोः 'विधिनिमन्त्रणाधीष्ट' इत्यादिना लिङि, तस्य प्रथमपुरुष-बहुवचने 'झि' आदेशे, सार्वधातुकत्वे च 'झेर्जुस्' 'इति झि इत्यस्य जुसि केवलं जकारस्येत्वलोपौ, सकारस्य 'न विभक्तौ–' इति निषेधात्–लोपो न भवति । 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' इति यासुडागमे, अनुबन्धलोपे, धातोः शपि गुणेऽवादेशे च 'भव यास् उस्' इति स्थिते 'अतो येयः' इति यासः इयादेशे, गुणे, रुत्वे, विसर्गे च 'भवेयुः' इति ।

गुरु आदि को पढ़ाने के लिए प्रवृत्त कराना ।

१–लिङ्सम्बन्धी परस्मैपद को यासुट् का आगम होता है और वह उदात्त एवं ङित् होता हैं । २—सार्वधातुक लिङ्–सम्बन्धी अनन्त्य सकार का लोप होता है । ३—अत् से परे जो सार्वधातुक का अवयव 'यास्' उसको इय् होता है । ४—वल् प्रत्याहार पर में हो तो वकार एवं यकार का लोप होता है । ५—लिङ् सम्बन्धी झि के स्थान में जुस् होता है । ६—लिङ् के स्थान में जो 'तिङ' उसकी आशीर्वाद अर्थ में आर्धधातुक–संज्ञा होती है । ७—आशीर्वाद अर्थ में लिङ्–सम्बन्धी यासुट् कित्–संज्ञक होता है । ८—गित्, कित् या ङित्–निमित्त इग्लक्षण में गुण या वृद्धि नहीं होती हैं ।

लुङ् ३ । २ । ११० ॥ [1]भूतार्थवृत्तेर्धातोर्लुङ् स्यात् ।

माङि लुङ् ३ । ३ । १७५ ॥ [2][माङ्युपपदे धातोर्लुङ् स्यात्] । सर्वलकारापवादः ।

स्मोत्तरे लङ् च ३ । ३ । १७६ ॥ [3]स्मोत्तरे माङि लङ् स्याच्चाल्लुङ् ।

च्लि लुङि ३ । १ । ४३ ॥ [4][धातोश्च्लिप्रत्ययः स्याल्लुङि] । शबाद्यपवादः ।

च्लेः सिच् ३ । १ । ४४ ॥ [5][च्लेः सिजादेशः स्यात्] । इचावितौ ।

गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु २ । ४ । ७७ ॥ [6]एभ्यः सिचो लुक् स्यात् । गापाविहेणादेशपिबती गृह्येते ।

भूसुवोस्तिङि ७ । ३ । ८८ ॥ [7]भू सू एतयोः सार्वधातुके तिङि परे गुणो न स्यात् । अभूत् । अभूताम् । अभूवन् । अभूः । अभूतम् । अभूत । अभूवम् । अभूव । अभूम ।

अभूत्—भूधातोर्लुङि, तस्य तिपि, 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यडागमे, टकारलोपे, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, गातिस्थेति सिचो लुकि, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति प्राप्तस्य गुणस्य 'भूसुवोस्तिङि' इति निषेधे, "इतश्च" इतीकारलोपे 'अभूत्' इति ।

अभूवन्—भू धातोः लुङि, तस्य झि प्रत्यये, लुङ् लङ्—इत्यादिना अडागमे, टकारलोपे, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु' इति सिचो लुकि, 'सार्वधातुककार्धधातुकयोः' इति प्राप्तस्य गुणस्य 'भूसुवोस्तिङि' इति निषेधे, 'झोन्तः' इति झस्यान्तादेशे, 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' इति वुगागमे, अनुबन्धलोपे, तकारस्य च संयोगान्तलोपे 'अभूवन्' इति ।

अभूवम्—भूधातोर्लुङि, अटागमे, लुङो मिपि 'तस्थस्थमिपाम्'–इति अमि,

---

१–भूत–कालार्थ-वृत्ति धातु से लुङ् लकार होता है। २–माङ् (मा) शब्द उपपद (पद के समीप) हो तो धातु से लुङ् लकार होता है। सभी लकारों का बाधक है। ३—'स्म' शब्द उत्तर (बाद) में हो ऐसे माङ् [मा स्म ऐसे] के योग में लङ् लकार तथा (चकारात्) लुङ् लकार भी होता है। ४—लुङ् परे रहते धातु से 'च्लि' प्रत्यय होता है। यह शप्–आदि का बाधक है। ५—'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश होता है। ६—गा, स्था, घुसंज्ञक धातु, पा एवं भू धातु से परे सिच् का लोप होता है। यहाँ इणादेश 'गा' धातु तथा पिबादेश 'पा' धातु का ही गा और पा से ग्रहण है। ७—सार्वधातुक तिङ् पर में रहे तो 'भू' 'सु' धातु को गुण नहीं होता है।

न माङ्योगे ६ । ४ । ७४ ॥ [1]अडाटौ न स्तः । मा भवान् भूत् । मा स्म भवत् । मा स्म भूत् ।

लिङ्-निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ ३ । ३ । १३९ ॥ [2]हेतुहेतुमद्भावादि लिङ्निमित्तं, तत्र भविष्यत्यर्थे लृङ् स्यात्, क्रियाया अनिष्पत्तौ गम्यमानायाम् । अभविष्यत् । अभविष्यताम् । अभविष्यन् । अभविष्यः । अभविष्यतम् । अभविष्यत । अभविष्यम् । अभविष्याव । अभविष्याम । 'सुवृष्टिश्चेदभविष्यत्तदा सुभिक्षमभविष्यत्' इत्यादि ज्ञेयम् । **अत** सातत्यगमने । अतति ।

... 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सिचि, अनुबन्धलोपे, गातिस्थेति सिचो लुकि, 'भुवो वुग्-लुङ्' इत्यादिना वुगागमे, अनुबन्धलोपे, 'अभूवम्' इति ।

'भू' धातुरूपाणां सङ्कलनम्—

लट् लकारे—भवति, भवतः, भवन्ति । भवसि, भवथः, भवथ । भवामि, भवावः, भवामः । **लिट् लकारे**—बभूव, बभूवतुः, बभूवुः । बभूविथ, बभूवथुः, बभूव । बभूव, बभूविव, बभूविम । **लुट् लकारे**—भविता, भवितारौ, भवितारः । भवितासि, भवितास्थः, भवितास्थ । भवितास्मि, भवितास्वः, भवितास्मः । **लृट् लकारे**—भविष्यति, भविष्यतः, भविष्यन्ति । भविष्यसि, भविष्यथः, भविष्यथ । भविष्यामि, भविष्यावः, भविष्यामः । **लोट् लकारे**—भवतु–भवतात्, भवताम् भवन्तु । भव–भवतात्, भवतम्, भवत । भवानि, भवाव, भवाम । **लङ् लकारे**—अभवत्, अभवताम्, अभवन् । अभवः, अभवतम्, अभवत । अभवम्, अभवाव, अभवाम । **विधिलिङि**—भवेत्, भवेताम्, भवेयुः । भवेः, भवेतम्, भवेत । भवेयम्, भवेव, भवेम । **आशिषि लिङि**—भूयात्, भूयास्ताम्, भूयासुः । भूयाः, भूयास्तम्, भूयास्त । भूयासम्, भूयास्व, भूयास्म । **लुङि**—अभूत्, अभूताम्, अभूवन् । अभूः, अभूतम्, अभूत । अभूवम्, अभूव, अभूम । **लृङि**—अभविष्यत्, अभविष्यताम्, अभविष्यन् । अभविष्यः, अभविष्यतम्, अभविष्यत । अभविष्यम्, अभविष्याव, अभविष्याम ।

परस्मैपदे प्रायः सर्वेषां धातूनामेवंविधान्येव रूपाणि भवन्ति । विशिष्टस्थले तु यानि भिन्नरूपाणि तानि तु प्रदर्शयिष्यन्ते ।

अतति—निरन्तरं गच्छति इत्यादि प्रतिलकारं कालभेदश्च ज्ञेयः ।

१—माङ् (मा) के योग में अट् या आट् नहीं होते हैं । २—क्रिया की सिद्धि न निश्चित हो तो हेतुहेतुमद्भावादि जो लिङ के निमित्त उन अर्थों में, भविष्यत्काल की क्रिया के व्यवहार में धातु से 'लृङ्' लकार होता है । अत–धातु निरन्तर चलने अर्थ में है ।

अत आदेः ७ । ४ । ७० ॥ [1]अभ्यासस्यादेरतो दीर्घः स्यात् । आत, आततुः, आतुः । आतिथ, आतथुः, आत । आत, आतिव, आतिम । अतिता । अतिष्यति । अततु ।

आडजादीनाम् ६ । ४ । ७२ ॥ [2]अजादेरङ्गस्याऽऽट् स्यात् लुङ्लङ्लृङ्क्षु । आतत् । अतेत् । अत्यात् । अत्यास्ताम् । लुङि सिचि इडागमे कृते ।

अस्तिसिचोऽपृक्ते ७ । ३ । ९६ ॥ [3]विद्यमानात् सिचोऽस्तेश्च परस्याऽपृक्तस्य हल ईडागमः । स्यात् ।

इट ईटि ८ । २ । २८ ॥ [4]इटः परस्य सस्य लोपः स्यादीटि परे ।
❀ [5]**सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः** । आतीत् । आतिष्टाम् ।

सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च ३ । ४ । १०९ ॥ [6]सिचोऽभ्यस्ताद्विदेश्च परस्य ङित्सम्बन्धिनो झेर्जुस् स्यात् । आतिषुः । आतीः । आतिष्टम् । आतिष्ट । आतिषम् । आतिष्व । आतिष्म । आतिष्यत् । **षिध गत्याम्** ।

आतीत्—सततगमनार्थक-अत धातोर्लुङि, तस्य तिपि, अनुबन्धलोपे, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, अनुबन्धलोपे, 'आडजादीनाम्' इत्याडागमेऽनुबन्धलोपे, आटश्चेति वृद्धौ, आर्धधातुकस्येड् वलादेरितीटि, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति–ईडागमे, 'इट ईटि' इति सस्य लोपे, तस्यासिद्धत्वात् सवर्णदीर्घाभावः प्राप्तः, किन्तु 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति बलेन दीर्घे 'आतीत्' इति ।

आतिषुः—निरन्तर-गमनार्थक 'अत्' धातोर्लुङि तस्य झयादेशे, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, अनुबन्धलोपे, 'आडजादीनाम्' इत्याडागमे, आटश्चेति वृद्धौ, 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' इति झेर्जुसादेशे, सिच इडागमे, सस्य षत्वे, रुत्वे, विसर्गे च 'आतिषुः' इति ।

'अत' धातो रूपाणि—

लटि–अतति, अततः, अतन्ति । अतसि, अतथः, अतथ । अतामि, अतावः,

१—अभ्यास के आदि अकार को दीर्घ होता है । २—लुङ् लङ् या लृङ् लकार पर में रहे तो अजादि अङ्ग से आट् का आगम होता है (टित् है अतः आदि में होगा) । ३—विद्यमान् सिच् या अस्ति (अस् धातु) से परे अपृक्त हल् को ईट् का आगम होता है । ४—ईट् पर में रहे तो इट् से परे जो सकार उसका लोप होता है । ५—एकादेश करने में सिच् का लोप सिद्ध ही रहता है (ऐसा कहना चाहिए) । ६—सिच् (प्रत्यय), अभ्यस्त (संज्ञक) और विद् धातु से परे ङित् सम्बन्धी 'झि' के स्थान में 'जुस्' होता है ।

ह्रस्वं लघु १ । ४ । १० ॥ [1][ह्रस्वं लघुसञ्ज्ञं स्यात्] ।

संयोगे गुरु १ । ४ । ११ ॥ [2]संयोगे परे ह्रस्वं गुरु [सञ्ज्ञं] स्यात् ।

दीर्घञ्च १ । ४ । १२ ॥ [3]दीर्घञ्च गुरु [सञ्ज्ञं] स्यात् ।

पुगन्तलघूपधस्य च ७ । ३ । ८६ ॥ [4]पुगन्तस्य लघूपधस्य चाऽङ्गस्येको गुणः स्यात् सार्वधातुकार्धधातुकयोः । धात्वादेरिति सः । सेधति । षत्वम् । सिषेध ।

असंयोगाल्लिट् कित् १ । २ । ५ ॥ [5]असंयोगात्परोऽपिल्लिट् कित् स्यात् । सिषिधतुः । सिषिधुः । सिषेधिथ । सिषिधथुः । सिषिध । सिषेध । सिषिधिव । सिषिधिम । सेधिता । सेधिष्यति । सेधतु । असेधत् । सेधेत् । सिध्यात् । असेधीत् । असेधिष्यत् । एवम्–**चिती** संज्ञाने । **शुच** शोके । **गद** व्यक्तायां वाचि । गदति ।

अताम: । लिटि–आत, आततुः, आतुः । आतिथ, आतथुः, आत । आत, आतिव, आतिम । **लुटि**–अतिता, अतितारौ, अतितारः । अतितासि, अतितास्थः, अतितास्थ । अतितास्मि, अतितास्वः, अतितास्मः । **लृटि**–अतिष्यति, अतिष्यतः, अतिष्यन्ति । अतिष्यसि, अतिष्यथः, अतिष्यथ । अतिष्यामि, अतिष्यावः, अतिष्यामः । **लोटि**–अततु-अततात्, अतताम्, अतन्तु । अत-अततात्, अततम्, अतत । अतानि, अताव, अताम । **लङि**–आतत्, आतताम्, आतन् । आतः, आततम्, आतत । आतम्, आताव, आताम । **विधिलिङि**––अतेत्, अतेताम्, अतेयुः । अतेः, अतेतम्, अतेत । अतेयम्, अतेव, अतेम । **आशिषि लिङि**–अत्यात्, अत्यास्ताम्, अत्यासुः । अत्याः, अत्यास्तम्, अत्यास्त । अत्यासम्, अत्यास्व, अत्यास्म । **लुङि**–आतीत्, आतिष्टाम्, आतिषुः । आतीः, आतिष्टम्, आतिष्ट । आतिषम्, आतिष्व, आतिष्म । लृङि–आतिष्यत्, आतिष्यताम्, आतिष्यन् । आतिष्यः, आतिष्यतम्, आतिष्यत । आतिष्यम्, आतिष्याव, आतिष्याम ।

चिती संज्ञाने—

लटि–चेतति, चेततः, चेतन्ति । चेतसि, चेतथः, चेतथ । चेतामि, चेतावः,

---

१—ह्रस्व वर्ण लघुसंज्ञक होता है । २—संयुक्त वर्ण पर में रहे तो ह्रस्व वर्ण गुरु-संज्ञक होता है । ३—दीर्घ की भी गुरु संज्ञा होती है । ४—सार्वधातुक या आर्धधातुक पर में हो तो पुगन्त एवं लघूपध अङ्ग के अवयव इक् को गुण होता है । ५—असंयोग से परे पित्–भिन्न लिट् की कित् संज्ञा होती है । चिती–धातु सम्यग्–ज्ञान के अर्थ में । शुच–धातु शोक करने अर्थ में ।

नेर्गदनदपतपदघुमास्यतिहन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशाम्यतिचिनोतिदेग्धिषु च ८ । ४ । १७ ॥ [1]उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य नेर्नस्य णः स्याद् गदादिषु परेषु प्रणिगदति ।

कुहोश्चुः ७ । ४ । ६२ ॥ [2]अभ्यासकवर्गहकारयोश्चवर्गादेशः स्यात् ।

अत उपधायाः ७ । २ । ११६ ॥ [3]उपधाया अतो वृद्धिः स्यात् ञिति णिचि च प्रत्यये परे । जगाद । जगदतुः । जगदुः । जगदिथ । जगदथुः । जगद ।

चेतामः । लिटि–चिचेत, चिचिततुः, चिचितुः । चिचेतिथ, चिचितथुः, चिचित । चिचेत, चिचितिव, चिचितिम । लुटि–चेतिता, चेतितारौ, चेतितारः । चेतितासि, चेतितास्थः, चेतितास्थ । चेतितास्मि, चेतितास्वः, चेतितास्मः । लृटि–चेतिष्यति, चेतिष्यतः, चेतिष्यन्ति । चेतिष्यसि, चेतिष्यथः, चेतिष्यथ । चेतिष्यामि, चेतिष्यावः, चेतिष्यामः । लोटि–चेततु-चेततात्, चेतताम्, चेतन्तु । चेत-चेततात्, चेततम्, चेतत । चेतानि, चेताव, चेताम । लङि–अचेतत्, अचेतताम्, अचेतन् । अचेतः, अचेततम्, अचेतत । अचेतम्, अचेताव, अचेताम । विधिलिङि–चेतेत्, चेतेताम्, चेतेयुः । चेतेः, चेतेतम्, चेतेत । चेतेयम्, चेतेव, चेतेम । आशिर्लिङि–चित्यात्, चित्यास्ताम्, चित्यासुः । चित्याः, चित्यास्तम्, चित्यास्त । चित्यासम्, चित्यास्व, चित्यास्म । लुङि–अचेतीत्, अचेतिष्टाम्, अचेतिषुः । अचेतीः, अचेतिष्टम्, अचेतिष्ट । अचेतिषम्, अचेतिष्व, अचेतिष्म । लृङि–अचेतिष्यत्, अचेतिष्यताम्, अचेतिष्यन् । अचेतिष्यः, अचेतिष्यतम्, अचेतिष्यत । अचेतिष्यम्, अचेतिष्याव, अचेतिष्याम । एवं शुच शोके–शोचति । शुशोच । शोचिता । शोचिष्यति । शोचतु । अशोचत् । शोचेत् । शुच्यात् । अशोचीत् । अशोचिष्यत् ।

गद धातुः स्पष्टोच्चारणे एव प्रयुज्यते तेन गौर्गदतीति न भवति ।

जगाद—व्यक्तवचनार्थक गद् धातोर्लिटि, तस्य तिपि, तस्य च परस्मैपदानाम् इति णलि, अनुबन्धलोपे, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे, अभ्यासादिकार्ये, 'कुहोश्चुः' इति कवर्गस्य चवर्गादेशे, 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ कृतायां 'जगाद' इति ।

१—गद, नद आदि धातु पर में रहे तो उपसर्गस्थ निमित्त (णत्व निमित्त रेफ षकार) से परे 'नि' के नकार को णकार होता है। गद–धातु स्पष्ट बोलने अर्थ में। २—अभ्यास-सम्बन्धी कवर्ग और हकार को चवर्ग आदेश होता है। ३—ञित् या णित् प्रत्यय पर में रहे तो उपधा के ह्रस्वाकार को वृद्धि होती है।

णलुत्तमो वा ७ । १ । ९१ ॥ [1]उत्तमो णल् वा णित्स्यात् । जगाद-जगद । जगदिव । जगदिम । गदिता । गदिष्यति । गदतु । अगदत् । गदेत् । गद्यात् ।

अतो हलादेर्लघोः ७ । २ । ७ ॥ [2]हलादेर्लघोरकारस्य इडादौ परस्मैपदे सिचि वृद्धिर्वा स्यात् । अगादीत्-अगदीत् । अगदिष्यत् । **णद** अव्यक्ते शब्दे ।

णो नः ६ । १ । ६५ ॥ [3]धातोरादेर्णस्य नः [4]णोपदेशास्त्वनर्दनाटिनाथ्नाध्नन्दनक्कनॄनृतः ।

उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य ८ । ४ । १४ ॥ [5]उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य णोपदेशस्य धातोर्नस्य णः स्यात् समासे असमासे च । प्रणदति । प्रणिनदति । नदति । ननाद ।

अगादीत्—गद्धातोर्लुङि, तस्य तिपि, पकारलोपे, इतश्चेतीकारलोपे, 'लुङ्-लङ्लृङ्-०' इति अडागमेऽनुबन्धलोपे, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, इचावितौ, 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इतीडागमे, 'अस्ति सिचोऽपृक्ते' इत्यपृक्तहल ईडागमे, 'इट ईटि' इति सस्य लोपे, 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे, 'अतो हलादेर्लघोः' इति वा वृद्धौ च अगादीत्-अगदीत् इति ।

गद धातोः रूपाणि

लटि—गदति, गदतः, गदन्ति । गदसि, गदथः, गदथ । गदामि गदावः, गदामः । **लिटि**—जगाद, जगदतुः, जगदुः । जगदिथ, जगदथुः, जगद । जगाद-जगद, जगदिव, जगदिम । **लुटि**—गदिता, गदितारौ, गदितारः । गदितासि, गदितास्थः, गदितास्थ । गदितास्मि, गदितास्वः, गदितास्मः । **लृटि**—गदिष्यति, गदिष्यतः, गदिष्यन्ति । गदिष्यसि, गदिष्यथः, गदिष्यथ । गदिष्यामि, गदिष्यावः गदिष्यामः । **लोटि**—गदतु-गदतात्, गदताम्, गदन्तु । गद-गदतात्, गदतम्, गदत । गदानि, गदाव, गदाम । **लङि**—अगदत्, अगदताम्, अगदन् । अगदः, अगदतम्, अगदत । अगदम्, अगदाव, अगदाम । **विधिलिङि**—गदेत्, गदेताम्, गदेयुः । गदेः,

---

१—उत्तम पुरुष का णल् विकल्प से णित् होता है । २—इडादि परस्मैपद सिच् पर मे हो तो हलादि धातु के ह्रस्व अकार को वृद्धि विकल्प से होती है । ३—धातु के आदि णकार को नकार होता है । ४—नर्द, नाटि, नाथ्, नाध्, नन्द, नक्क, नॄ और नृत्—इन धातुओं को छोड़कर अन्य नकारादि धातु णोपदेश कहलाते हैं । ५—समास तथा असमास में भी उपसर्गस्थ निमित्त से परे णकारोपदेश धातु के नकार को णकार होता है ।

अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ६ । ४ । १२० ॥ [1]लिण्निमित्तादेशादिकं न भवति यदङ्गं तदवयवस्यासंयुक्तहल्मध्यस्थस्याकारस्य एकारः स्यादभ्यासलोपश्च किति लिटि । नेदतुः । नेदुः ।

थलि च सेटि ६ । ४ । १२१ ॥ [2]प्रागुक्तं स्यात् । नेदिथ । नेदथुः । नेद । ननाद, ननद । नेदिव । नेदिम । नदिता । नदिष्यति । नदतु । अनदत् । नदेत् । नद्यात् । अनादीत्, अनदीत् । अनदिष्यत् । **टुनदि समृद्धौ ।**

आदिर्ञिटुडवः १ । ३ । ५ ॥ [3]उपदेशे धातोराद्या एते इतः स्युः ।

इदितो नुम् धातोः ७ । १ । ५८ ॥ [4][इदितो धातोर्नुमागमः स्यात्] ।

गदेतम्, गदेत । गदेयम्, गदेव, गदेम । **आशीर्लिङि**-गद्यात्, गद्यास्ताम्, गद्यासुः । गद्याः, गद्यास्तम्, गद्यास्त । गद्यासम्, गद्यास्व, गद्यास्म । लुङि–अगादीत्, अगादिष्टाम्, अगादिषुः । अगादीः, अगादिष्टम्, अगादिष्ट । अगादिषम्, अगादिष्व, अगादिष्म । **वृद्ध्यभावपक्षे**–अगदीत्, अगदिष्टाम्, अगदिषुः । अगदीः––इत्यादि । लृङि–अगदिष्यत्, अगदिष्यताम्, अगदिष्यन् । अगदिष्यः, अगदिष्यतम्, अगदिष्यत । अगदिष्यम्, अगदिष्याव, अगदिष्याम ।

एवमेव णद धातोरपि—नदति । ननाद । नदिता । नदिष्यति । नदतु । अनदत् । नदेत् । नद्यात् । अनादीत् । अनदिष्यत् इत्यादि क्रमः ।

लिण्निमित्तादेशादिकम्—लिण्निमित्तो यः 'कुहोश्चुः' 'अभ्यासे चर्च' इति शास्त्रकृत आदेशादिः तद्भिन्नं यदङ्गं तदवयवस्यासंयुक्तहल्मध्यस्थस्याकारस्यैवमित्यादिः । यथा–नेदतुरित्यत्र नद् धातोर्लिटि, तसि, तस्यातुसि, द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये ततः 'न नद् अतुस्' इति दशाया 'ननद्' इति अङ्गं लिण्निमित्तादेशादिभिन्नं तदवयवोऽसंयुक्तहल्मध्योऽकारो द्वितीयनकारोत्तरोऽकारस्तस्यैत्वम्, आद्यनकारस्य लोपे च 'नेदतुः' इति सिद्ध्यति ।

टुनदि समृद्धौ—एतस्मादेव 'आनन्द'–शब्दस्य निष्पत्तिः । समृद्धिः धनधान्ययशादिवृद्धिः ।

१—लिट का निमित्त मानकर आदेश आदि न हुए हों ऐसा जो अङ्ग तदवयव असंयुक्त हल्मध्यस्थ जो अकार उसको एत्व होता है और अभ्यास का लोप भी होता है कित्–लिट् परे रहते। २–इट् सहित थल् प्रत्यय परे रहे तो लिट् को मानकर आदेश आदि न हुए हों ऐसा जो अङ्ग तदवयव असंयुक्त हल्मध्यस्थ अकार को एकार होता है तथा अभ्यास का लोप भी हो जाता है। टु इत्संज्ञक नद्–धातु अभिवृद्धि अर्थात् आनन्द अर्थ में। ३–उपदेश–पाणिनि आदि के प्रथमोच्चारण में धातु के आदि–में जो ञि, टु, डु, उनकी इत्संज्ञा होती है। ४—इदित (इकारेत्संज्ञक) धातु से नुम् का आगम होता है।

नन्दति । ननन्द । नन्दिता । नन्दिष्यति । नन्दतु । अनन्दत् । नन्देत् । नन्द्यात् । अनन्दीत् । अनन्दिष्यत् । **अर्च** पूजायाम् । अर्चति ।

तस्मान्नुड् द्विहलः ७ । ४ । ७१ ॥ [1]द्विहलो धातोर्दीर्घीभूतादकारात्परस्य नुट् स्यात् । आनर्च । आनर्चतुः । अर्चिता । अर्चिष्यति । अर्चतु । आर्चत् । अर्चेत् । अर्च्यात् । आर्चीत् । आर्चिष्यत् । **व्रज** गतौ । व्रजति । वव्राज । व्रजिता । व्रजिष्यति । व्रजतु । अव्रजत् । व्रजेत् । व्रज्यात् ।

वदव्रजहलन्तस्याचः ७ । २ । ३ ॥ [2]वदेर्व्रजेर्हलन्तस्य चाऽङ्गस्याऽचः स्थाने वृद्धिः स्यात्सिचि परस्मैपदेषु । अव्राजीत् । अव्रजिष्यत् । **कटे** वर्षा-

---

आनर्च–पूजार्थक 'अर्च्' धातोर्लिटि, तस्य तिपि, तिपा णलादेशेऽनुबन्धलोपे, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये 'अ अर्च् अ' इति स्थिते, 'अतो गुणे' इति प्राप्त पररूपं प्रबाध्य 'अत आदेः' इति अभ्यासस्य दीर्घे, 'तस्मान्नुड् द्विहलः' इति नुडागमेऽनुबन्धलोपे, 'आनर्च' इति ।

अर्च धातोः रूपाणि—

लटि–अर्चति, अर्चतः, अर्चन्ति । अर्चसि, अर्चथः, अर्चथ । अर्चामि, अर्चावः, अर्चामः । **लिटि**–आनर्च, आनर्चतुः, आनर्चुः । आनर्चिथ, आनर्चथुः, आनर्च । आनर्च, आनर्चिव, आनर्चिम । **लुटि**–अर्चिता, अर्चितारौ, अर्चितारः । अर्चितासि, अर्चितास्थः, अर्चितास्थ । अर्चितास्मि, अर्चितास्वः, अर्चितास्मः । **लृटि**–अर्चिष्यति, अर्चिष्यतः, अर्चिष्यन्ति । अर्चिष्यसि, अर्चिष्यथः, अर्चिष्यथ । अर्चिष्यामि, अर्चिष्यावः, अर्चिष्यामः । **लोटि**–अर्चतु-अर्चतात्, अर्चताम्, अर्चन्तु । अर्च-अर्चतात्, अर्चतम्, अर्चत । अर्चानि, अर्चाव, अर्चाम । **लङि**-आर्चत्, आर्चताम्, आर्चन् । आर्चः, आर्चतम्, आर्चत । आर्चम्, आर्चाव, आर्चाम । **विधिलिङि**–अर्चेत्, अर्चेताम्, अर्चेयुः । अर्चेः, अर्चेतम्, अर्चेत । अर्चेयम्, अर्चेव, अर्चेम । **आशीर्लिङि**–अर्च्यात्, अर्च्यास्ताम्, अर्च्यासुः । अर्च्याः, अर्च्यास्तम्, अर्च्यास्त । अर्च्यासम्, अर्च्यास्व, अर्च्यास्म । **लुङि**–आर्चीत्, आर्चिष्टाम्, आर्चिषुः । आर्चीः, आर्चिष्टम्, आर्चिष्ट । आर्चिषम्, आर्चिष्व, आर्चिष्म । **लृङि**–आर्चिष्यत्, आर्चिष्यताम्, आर्चिष्यन् । आर्चिष्यः, आर्चिष्यतम्, आर्चिष्यत । आर्चिष्यम्, आर्चिष्याव, आर्चिष्याम ।

अव्राजीत्—गत्यर्थक व्रज धातोर्लुङि, तस्य तिपि, 'लुङ्-लङ्–०' इत्यादिना

अर्च–धातु पूजा अर्थ में है ।

१–द्विहल् अर्थात् दो हल् हों जिसमें ऐसे धातु के दीर्घीभूत अकार से परे नुट् का आगम होता है । २–परस्मैपद में सिच् परे रहते वद, व्रज और हलन्त धातु के अङ्गावयव अच् को

आवरणयोः । कटति । चकाट । चकटतुः । कटिता । कटिष्यति । कटतु । अकटत् । कटेत् । कट्यात् ।

ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम् ७ । २ । ५ ॥ [1]हमयान्तस्य क्षणादेर्ण्यन्तस्य श्वयतेरेदितश्च वृद्धिर्न स्यादिडादौ सिचि । अकटीत् । अकटिष्यत् । **गुपू** रक्षणे ।

अटि, अनुबन्धलोपे 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, अनुबन्धलोपे, 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इति इटि, पुनः 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीटि, 'इट ईटि' इति सस्य लोपे, वदव्रजेति वृद्धौ, इतश्चेति तिप इकारस्य लोपे 'अव्राजीत्' इति ।

व्रज धातोः रूपाणि—

लटि—व्रजति, व्रजतः, व्रजन्ति । व्रजसि, व्रजथः, व्रजथ । व्रजामि, व्रजावः, व्रजामः । **लिटि**—वव्राज, वव्रजतुः, वव्रजुः । वव्रजिथ, वव्रजथुः, वव्रज । वव्राज-वव्रज, वव्रजिव, वव्रजिम । **लुटि**—व्रजिता, व्रजितारौ, व्रजितारः । व्रजितासि, व्रजितास्थः, व्रजितास्थ । व्रजितास्मि, व्रजितास्वः । व्रजितास्मः । **लृटि**—व्रजिष्यति, व्रजिष्यतः, व्रजिष्यन्ति । व्रजिष्यसि, व्रजिष्यथः, व्रजिष्यथ । व्रजिष्यामि, व्रजिष्यावः, व्रजिष्यामः । **लोटि**—व्रजतु-व्रजतात्, व्रजताम्, व्रजन्तु । व्रज-व्रजतात् व्रजतम्, व्रजत । व्रजानि, व्रजाव, व्रजाम । **लङि**—अव्रजत्, अव्रजताम्, अव्रजन् । अव्रजः, अव्रजतम्, अव्रजत । अव्रजम्, अव्रजाव, अव्रजाम । **विधिलिङि**—व्रजेत्, व्रजेताम्, व्रजेयुः । व्रजेः, व्रजेतम्, व्रजेत । व्रजेयम्, व्रजेव, व्रजेम । **आशीर्लिङि**—व्रज्यात्, व्रज्यास्ताम्, व्रज्यासुः । व्रज्याः, व्रज्यास्तम्, व्रज्यास्त । व्रज्यासम्, व्रज्यास्व, व्रज्यास्म । **लुङि**—अव्राजीत्, अव्राजिष्टाम्, अव्राजिषुः । अव्राजीः, अव्राजिष्टम्, अव्राजिष्ट । अव्राजिषम्, अव्राजिष्व, अव्राजिष्म । **लृङि**—अव्रजिष्यत्, अव्रजिष्यताम्, अव्रजिष्यन् । अव्रजिष्यः, अव्रजिष्यतम्, अव्रजिष्यत । अव्रजिष्यम्, अव्रजिष्याव, अव्रजिष्याम । एवं कटेधातोरपि कटति, कटतः, कटन्ति-इत्यादि रूपाणि ।

अकटीत्—वर्षा तथा-आवरणार्थक कट् धातोर्लुङि, तिपि, अटि, च्लौ, सिचि, इटि, ईटि, सलोपे च कृते हलन्तत्वाद् 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ प्राप्तायां ह्म्यन्तेति निषेधे 'अकटीत्' इति ।

वृद्धि होती है । कटे-धातु वर्षा और आवरण=आच्छादन अर्थ में है ।

१—इडादि सिच् पर में रहे तो हकारान्त, मकारान्त, यकारान्त धातु और क्षणादि (क्षण, श्वस, जागृ) और ण्यन्त, श्वि एवं एदित् धातु को वृद्धि नहीं होती है । गुपू-धातु रक्षा करने अर्थ में ।

गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः ३ । १ । २८ ॥ [1]एभ्यः आयप्रत्ययः स्यात्स्वार्थे ।

सनाद्यन्ता धातवः ३ । १ । ३२ । [2]सनादयः कमेर्णिङन्ताः प्रत्यया अन्ते येषां ते धातुसंज्ञकाः स्युः । धातुत्वाल्लडादयः । गोपायति ।

आयादय आर्धधातुके वा ३ । १ । ३१ ॥ [3]आर्धधातुकविवक्षायामायादयो वा स्युः । [4]**कास्यनेकाच आम् वक्तव्यो लिटि ।** आस्कासोराम्विधानान्मस्य नेत्त्वम् ।

अतो लोपः ६ । ४ । ४८ ॥ [5]आर्धधातुकोपदेशे यदकारान्तं तस्याऽकारस्य लोपः स्यादार्धधातुके ।

आमः २ । ४ । ८१ ॥ [6]आमः परस्य लुक् स्यात् ।

कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि ३ । १ । ४० ॥ [7]आमन्ताल्लिट्पराः कृभ्वस्तयोऽनुप्रयुज्यन्ते । तेषां द्वित्वादि ।

उरत् ७ । ४ । ६६ ॥ [8]अभ्यासऋवर्णस्यात्स्यात्प्रत्यये परे । रपरः । हलादिः शेषः । वृद्धिः । गोपायाञ्चकार । द्वित्वात्परत्वाद्यणि प्राप्ते—

सनादय—इति—सन्क्यच्काम्यच्क्यङ्क्यषोऽथाऽऽचारक्विब्णिज्यङस्तथा ।
यगाय-ईयङ्-णिङ्-चेति द्वादशामी सनादयः ॥

गोपायाञ्चकार—उकारेत्संज्ञक 'गुप्' धातोः 'आयादय आर्धधातुके वा' इति सहकारेण 'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः' इति वैकल्पिक आय-प्रत्यये, 'पुगन्तलघूपधस्य' च इति गुणे, सनाद्यन्तेति धातुसंज्ञाया लिटि 'गोपाय' इत्यस्य अनेका-

---

१—गुप्, धूप्, विच्छ्, पण्, पन्-इन धातुओ से स्वार्थ मे आय प्रत्यय होता है । २—सन्, क्यच्, काम्यच् आदि से लेकर 'कमेर्णिङ्' तक के (कोई) प्रत्यय जिनके अन्त में हो वे (शब्द) धातु संज्ञक होते हैं। ३—आर्धधातुक की विवक्षा में आय-आदिक प्रत्यय विकल्प से होते हैं। ४—लिट् पर मे हो तो कास् धातु एवं अनेकाच् धातु से आम् होता है (कहना चाहिए)। आस् तथा कास् धातुसे 'आम्' किये जाने के कारण (आम् के) मकार की इत्संज्ञा नहीं होता है। अर्थात् मकारोच्चारण का अन्य प्रयोजन है नहीं। एवं यदि इत्संज्ञा ही इष्ट होती तो 'आ' ऐसा ही पढ़े होते। ५—आर्धधातुक प्रत्यय पर में रहे तो उपदेश (प्रथमोच्चारण) काल में अकारान्त जो धातु उसके अकार का लोप होता है। ६—आम् से पर में जो लिट् उसका लोप होता है। ७—आमन्त से परे लिट् परक कृ, भू, अस् का अनु (पश्चात्) प्रयोग होता है। ८—प्रत्यय पर में रहे तो अभ्यास ऋवर्ण को अत् (अ) होता है।

द्विर्वचनेऽचि १ । १ । ५९ ॥ [1]द्वित्वनिमित्तेऽचि परे अच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्तव्ये । गोपायाञ्चक्रतुः ।

एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ७ । २ । १० ॥ [2]उपदेशे यो धातुरेकाजनुदात्तश्च ततः परस्यार्धधातुकस्येण्न स्यात् ।

[3]ऊदृदन्तैर्यौतिरुक्ष्णुशीस्नुनुक्षुश्विडीङ्श्रिभिः ।
वृङ्वृञ्भ्यां च विनैकाचोऽजन्तेषु निहताः स्मृताः ॥

[4]कान्तेषु शक्ल्-एकः । चान्तेषु—पच्-मुच्-रिच्-वच्-विच्-सिच्ः षट् । छान्तेषु-प्रच्छेकः । जान्तेषु—त्यज्-निजिर्-भज्-भञ्ज्-भुज्-भ्रस्ज्-मस्ज्-यज्-युज्-रुज्-रञ्ज्-विजिर्-स्वञ्ज्-सञ्ज्-सृजः पञ्चदश । दान्तेषु—अद्-क्षुद्-खिद्-छिद्-तुद्-

त्त्वात् 'कास्यनेकाच्—०' इति वार्तिकेन आमि मकारत्येत्संज्ञालोपौ प्राप्तौ किन्तु 'आस्कासोराम्विधानान्मस्य नेत्वम्' इति लोपाभावे, 'अतो लोपः' इति यकाराकारलोपे, 'आमः' इति लिटो लुकि, 'गोपायाम्' इति स्थिते, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति कृञोऽनुप्रयोगे, लिटस्तिपि, तिपो णलि, अनुबन्धलोपे, कृञो 'लिटि धातोः—०' इति द्वित्वे 'उरत्' इत्यभ्यासऋकारस्य अकारे, रपरे, हलादिशेषे, 'कुहोश्चुः' इति पूर्वककारस्य चकारे, 'मोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वारे, परसवर्णे, 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ रपरे (वा आर् वृद्धौ) च तत्सिद्धिः । पक्षे 'जुगोप' इति ।

गोपायाञ्चक्रतुः—उकारेत्संज्ञक-रक्षार्थक-गुप् धातोः 'आयादय आर्धधातुके वा' इति नियमेन वैकल्पिक आय प्रत्यये तस्यार्धधातुकत्वेन लघूपधगुणे 'गोपाय' इति 'सनाद्यन्ताः—०' इति धातुत्वेन लिटि 'कास्यनेकाच्—' इत्यामि 'अतो लोपः' इति यकाराकारलोपे 'आमः' इति लिटो लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते'—इति लिट्परकृ—अनुयोगे, लिटस्तसादेशे, तस्य 'परस्मैपदानाम्—'इति अतुसि, 'इको यणचि' इति यणि द्वित्वे च प्राप्ते, (कतरेण भाव्यम् इति) 'द्विर्वचनेऽचि' इति यणादि निषेधे, द्वित्वे, 'उरत्' इत्यभ्यासऋकारस्याकारे रपरे, हलादिना रलोपे, 'कुहोश्चुः' इति चकारे, आमो मस्यानुस्वारे परसवर्णे च । ततः ऋकारस्य यणि सकारस्य रुत्वे विसर्गे च 'गोपायाञ्चक्रतुः' । पक्षे 'जुगुपतुः' इति ।

१—द्वित्वकर्तव्य में द्वित्वनिमित्तक अच् पर रहे तो अच् के स्थान मे आदेश नहीं होता है । २—उपदेश अवस्था में जो धातु एकाच् या अनुदात्त हो उससे परे आर्धधातुक को इट् नहीं होता है । ३—अजन्त धातुओं में ऊदन्त एवं ॠदन्त धातु, यु, रु, क्ष्णु, शीङ्, स्नु, नु, टुक्षु,श्वि,डीङ् श्रिञ् ,वृङ् और वृञ् इन धातुओं को छोड़कर अन्य एकाच् धातु अनुदात्त संज्ञक होते हैं । ४—ककारान्त धातुओं में एक शक् धातु—इत्यादि स्पष्ट है । ये सभी अनुदात्त होते हैं ।

नुद्-पद्-भिद्-विद्-विनद्-विन्द्-शद्-सद्-स्विद्-स्कन्द्-हृदः षोडश । धान्तेषु—क्रुध्-क्षुध्-बुध्-बन्ध्-युध्-रुध्-राध्-व्यध्-शुध्-साध्-सिध्या एकादश । नान्तेषु—मन्यहनौ द्वौ । पान्तेषु—आप्-क्षुप्-क्षिप्-तिप्-तृप्य-दृप्य-लिप्-लुप्-वप्-शप्-स्वप्-सृपस्त्रयोदश । भान्तेषु—यभ्-रभ्-लभस्त्रयः। मान्तेषु—गम्-नम् यम्-रमश्चत्वारः। शान्तेषु—क्रुश्-दंश्-दिश्-दृश्-मृश्-रिश्-रुश्-लिश्-विश्-स्पृशो दश । षान्तेषु—कृष्-त्विष्-तुष्-द्विष्-दुष्-पुष्य-पिष्-विष्-शिष्-शुष्-श्लिष्या—एकादश । सान्तेषु—घस्-वसती द्वौ । हान्तेषु—दह्-दिह्-दुह्-नह्-मिह्-रुह्-लिह्-वहोऽष्टौ ।

[1]अनुदात्ता हलन्तेषु धातवस्त्र्यधिकं शतम् [१०३] ।

गोपायाञ्चकर्थ । गोपायाञ्चक्रथुः । गोपाञ्चक्र । गोपायाञ्चकार, गोपायाञ्चकर । गोपायाञ्चकृव । गोपायाञ्चकृम । गोपायाम्बभूव । गोपायामास । जुगोप । जुगुपतुः । जुगुपुः ।

स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा ७ । २ । ४४ ॥ [2]स्वरत्यादेरूदितश्च परस्य वलादेरार्धधातुकस्येड् वा स्यात् । जुगोपिथ, जुगोप्थ । गोपायिता, गोपिता, गोप्ता । गोपायिष्यति, गोपिष्यति, गोप्स्यति । गोपायतु । अगोपायत् । गोपायेत् । गोपाय्यात्, गुप्यात् । अगोपायीत् ।

नेटि ७ । २ । ४ ॥ [3]इडादौ सिचि हलन्तस्य वृद्धिर्न स्यात् । अगोपीत् । अगौप्सीत् ।

जुगोपिथ— गुप् धातोर्लिटि, तस्य सिपि, सिपो थलि, 'लिटि धातोः—०' इति द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये, कुहोश्चुरिति गकारस्य जत्वे, 'आर्धधातुक—०' इति नित्यमिटं बाधित्वा 'स्वरतिसूति—०' इति वैकल्पिक इटि, पुगन्तलघूप—० इति गुणे 'जुगोपिथ' इति । इडभावे 'जुगोप्थ' इति ।

अगोपीत्—ऊकारेत्सञ्ज्ञक गुप् धातोर्लुङि तस्य तिपि, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, अनुबन्धलोपे, लुङ्लङ्—इति अडागमेऽनुबन्धलोपे, 'स्वरति सूति'—इति वैकल्पिके इटि, पुनः 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इत्यपृक्तहल ईडागमे, 'इट ईटि' इति सस्य लोपे, वदव्रजेति वृद्धौ प्राप्तायां 'नेटि' इति निषेधे, पुगन्तेति गुणे, इतश्चेतीकारलोपे तत्सिद्धिः । इडभावे तु वृद्धिर्भवति, सलोपस्तु न इति 'अगौप्सीत्' सिद्ध्यति ।

१—इस प्रकार हलन्त धातुओं मे एक सौ तीन धातु अनुदात्त हैं । २—स्वरत्यादि (स्वरति, सूति, सूयति, धूञ्) एवं ऊदित् धातु से परे वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट का आगम होता है । ३—इडादि सिच् परे रहते हलन्त की वृद्धि नहीं होती है ।

झलो झलि ८ । २ । २६ ॥ [1]झलः परस्य सस्य लोपः स्याज्झलि । अगौप्ताम् । अगौप्सुः । अगौप्सीः । अगौप्तम् । अगौप्त । अगौप्सम् । अगौप्स्व । अगौप्स्म । अगोपायिष्यत्, अगोपिष्यत्, अगोप्स्यत् । क्षि क्षये । क्षयति । चिक्षाय । चिक्षियतुः । चिक्षियुः । 'एकाच' इतीण्निषेधे प्राप्ते—

अगौप्ताम्—गुप् धातोर्लुङि, तस्य तसि, 'तस्थस्थ-०' इति तसस्तामादेशे, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, तस्य सिचि, अनुबन्धलोपे, 'लुङ्लङ्लृङ्–०' इत्यडागमेऽनुबन्धलोपे, 'स्वरतिसूति–०' इति-इडभावे 'झलो झलि' इति सलोपे, वदव्रज–इति वृद्धौ तत्सिद्धिः ।

गुप् धातोः रूपाणि—

लटि–गोपायति, गोपायतः, गोपायन्ति । गोपायसि, गोपायथः, गोपायथ । गोपायामि, गोपायावः, गोपायामः । **लिटि**–गोपायाञ्चकार, गोपायाञ्चक्रतुः, गोपायाञ्चक्रुः । गोपायाञ्चकर्थ, गोपायाञ्चक्रथुः, गोपायाञ्चक्र । गोपायाञ्चकार–गोपायाञ्चकर, गोपायाञ्चकृव, गोपायाञ्चकृम । एवम्-गोपायामास, गोपायाम्बभूव इत्यादयोऽपि बोध्याः । **आयाभावे**–जुगोप, जुगुपतुः, जुगुपुः । जुगोपिथ-जुगोप्थ, जुगुपथुः, जुगुप । जुगोप, जुगुपिव-जुगुप्व, जुगुपिम–जुगुप्म । **लुटि**—गोपायिता-गोपिता-गोप्ता, गोपायितारौ–गोपितारौ–गोप्तारौ, गोपायितारः–गोपितारः–गोप्तारः । गोपायितासि–गोपितासि–गोप्तासि, गोपायितास्थः-गोपितास्थः-गोप्तास्थः, गोपायितास्थ-गोपितास्थ-गोप्तास्थ । गोपायितास्मि–गोपितास्मि–गोप्तास्मि, गोपायितास्वः–गोपितास्वः–गोप्तास्वः, गोपायितास्मः–गोपितास्मः–गोप्तास्मः । **लृटि**-गोपायिष्यति–गोपिष्यति–गोप्स्यति, गोपायिष्यतः-गोपिष्यतः-गोप्स्यतः, गोपायिष्यन्ति–गोपिष्यन्ति-गोप्स्यन्ति । गोपायिष्यसि–गोपिष्यसि–गोप्स्यसि, गोपायिष्यथः–गोपिष्यथः–गोप्स्यथः, गोपायिष्यथ–गोपिष्यथ–गोप्स्यथ । गोपायिष्यामि–गोपिष्यामि-गोप्स्यामि, गोपायिष्यावः-गोपिष्यावः-गोप्स्यावः, गोपायिष्यामः-गोपिष्यामः-गोप्स्यामः । **लोटि**—गोपायतु–गोपायतात्, गोपायताम्, गोपायन्तु । गोपाय–गोपायतात्, गोपायतम्, गोपायत । गोपायानि, गोपायाव, गोपायाम । **लङि**—अगोपायत्, अगोपायताम्, अगोपायन् । अगोपायः, अगोपायतम्, अगोपायत । अगोपायम्, अगोपायाव, अगोपायाम । **विधिलिङि**—गोपायेत्, गोपायेताम्, गोपायेयुः । गोपायेः, गोपायेतम्, गोपायेत । गोपायेयम्, गोपायेव, गोपायेम । **आशीर्लिङि**—गोपाय्यात्–गुप्यात्, गोपाय्यास्ताम्-गुप्यास्ताम्, गोपाय्यासुः–गुप्यासुः । गोपाय्याः–गुप्याः, गोपाय्यास्तम्–गुप्यास्तम्,

---

१—झल् परे रहते झल् से परे जो सकार उसका लोप होता है ।

कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि ७ । २ । १३ ॥ [1]क्रादिभ्य एव लिट इण्न स्यादन्यस्मादनिटोऽपि स्यात् ।

अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम् ७ । २ । ६१ ॥ [2]उपदेशेऽजन्तो यो धातुस्तासौ नित्याऽनिट् ततस्थल इण्न स्यात् ।

उपदेशेऽत्वतः ७ । २ । ६२ ॥ [3]उपदेशेऽकारवतस्तासौ नित्याऽनिटः परस्य थल इण् न स्यात् ।

ऋतो भारद्वाजस्य ७ । २ । ६३ ॥ [4]तासौ नित्याऽनिट ऋदन्तादेव थलो नेट् भारद्वाजस्य मतेन । तेनाऽन्यस्य स्यादेव ।

अयमत्र सङ्ग्रहः—

[5]अजन्तोऽकारवान्वा यस्तास्यनिट् थलि वेडयम् ।
ऋदन्त ईदृङ् नित्याऽनिट् क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत् ॥

गोपाय्यास्त-गुप्यास्त । गोपाय्यासम्-गुप्यासम्, गोपाय्यास्व-गुप्यास्व, गोपाय्यास्म-गुप्यास्म । लुङि—अगोपायीत्-अगोपीत्-अगौप्सीत्, अगोपायिष्टाम्-अगोपिष्टाम्-अगौप्ताम्, अगोपायिषुः-अगोपिषुः-अगौप्सुः । अगोपायीः-अगोपीः-अगौप्सीः, अगोपायिष्टम् अगोपिष्टम् अगौप्तम्, अगोपायिष्ट-अगोपिष्ट-अगौप्त । अगोपायिषम्-अगोपिषम्-अगौप्सम्, अगोपायिष्व-अगोपिष्व-अगौप्स्व, अगोपायिष्म-अगोपिष्म-अगौप्स्म । लृङि—अगोपायिष्यत्-अगोपिष्यत्-अगोप्स्यत्, अगोपायिष्यताम्-अगोपिष्यताम्-अगोप्स्यताम्, अगोपायिष्यन्-अगोपिष्यन्-अगोप्स्यन् । अगोपायिष्यः अगोपिष्यः-अगोप्स्यः, अगोपायिष्यतम्-अगोपिष्यतम्-अगोप्स्यतम्, अगोपायिष्यत-अगोपिष्यत-अगोप्स्यत । अगोपायिष्यम्-अगोपिष्यम्-अगोप्स्यम्, अगोपायिष्याव-अगोपिष्याव-

---

१—क्रादियों से परे ही लिट् को इट् नहीं होता, अन्य अनिट् धातुओं से परे भी लिट् को इट् होता है। २—उपदेश में जो अजन्त धातु तास् परे नित्य अनिट हो उससे पर थल् को नित्य इट् नहीं होता ३—उपदेश में जो अकारवान् धातु, तास् परे नित्य अनिट् हो उसको थल् परे रहते इट् नहीं होता है। ४—तास् प्रत्यय परे रहते नित्य ही अनिट् जो ऋदन्त धातु उसीको थल् प्रत्यय परे रहते भारद्वाज के मत से इट् नहीं होता है। अर्थात् अन्य धातुओं को तो होना ही है। ५—अजन्त जैसे क्षि, जि, नी–इत्यादि अथवा अकारवान् जैसे प्रच्छ्, भ्रस्ज्, त्यज्, भस्स् इत्यादि जो धातु वह तास् (अर्थात् लुट् लकार में) अनिट् हो तब भी उसको थल् में विकल्प से इट् होता है, जो धातु ह्रस्व ऋकारान्त जैसे हृ, हृ आदि जिनको तास् में इट् भी नहीं होता है, उससे थल में इट् नहीं होता है। (व-मादि में तो होना ही है)। क्रादि (कृसृभृ आदि) से लिट् में कहीं भी इट् नहीं होता है, कृसृभृ-सूत्र में पठित धातुओं से भिन्न धातु से लिट् परे रहते इट् होता ही है।

चिक्षयिथ–चिक्षेथ । चिक्षियथुः । चिक्षिय । चिक्षाय–चिक्षय । चिक्षियिव । चिक्षियिम । क्षेता । क्षेष्यति । क्षयतु । अक्षयत् । क्षयेत् ।

अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ७ । ४ । २५ । [1]अजन्ताङ्गस्य दीर्घः स्याद्यादौ प्रत्यये परे न तु कृत्सार्वधातुकयोः । क्षीयात् ।

सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु ७ । २ । १ ॥ [2]इगन्ताङ्गस्य वृद्धिः स्यात् परस्मैपदपरे सिचि । अक्षैषीत् । अक्षेष्यत् । **तप** सन्तापे । तपति । तताप । तेपतुः । तेपुः । तेपिथ, ततप्थ । तेपिव । तेपिम । तप्ता । तप्स्यति । तपतु । अतपत् । तपेत् । तप्यात् । अताप्सीत् । अताप्ताम् । अतप्स्यत् । **क्रमु** पादविक्षेपे ।

वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः ३ । १ । ७० ॥ [3]एभ्यः श्यन्वा स्यात् कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे । पक्षे शप् ।

क्रमः परस्मैपदेषु ७ । ३ । ३६ ॥ [4]क्रमेर्दीर्घः स्यात् परस्मैपदे शिति । क्राम्यति-क्रामति । चक्राम । क्रमिता । क्रमिष्यति । क्राम्यतु–क्रामतु । अक्राम्यत्-अक्रामत् । क्राम्येत्–क्रामेत् । क्रम्यात् । अक्रमीत् । अक्रमिष्यत् । **पा** पाने ।

अगोप्स्याव, अगोपायिष्याम-अगोपिष्याम-अगोप्स्याम ।

चिक्षयिथ—क्षि धातोर्लिटि, तस्य सिपि, तस्य च परस्मैपदानाम्–इति थलि, अनुबन्धलोपे, लिटि धातोः इति द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये, ततो भारद्वाजमतेन इडागमेऽनुबन्धलोपे 'चिक्षयिथ' इति । मतान्तरे 'अचस्तास्वत्'–इति तन्निषेधे गुणे च 'चिक्षेथ' इति ।

क्राम्यति, क्रामति—पादविक्षेपार्थक–उकारेत्संज्ञक–क्रम् धातोर्लटि, तस्य तिप्यनुबन्धलोपे, 'वा भ्राश–०' इति विकल्पेन श्यनि, 'क्रमः परस्मैपदेषु' इति दीर्घे 'क्राम्यति' इति । श्यनोऽभावे 'कर्तरि शप्' इति शपि, अनुबन्धलोपे, दीर्घे च 'क्रामति' इति । लोटि, लङि, विधिलिङि च समानक्रमः । अनेनैव धातुना 'आक्रमण' शब्दस्य निष्पत्तिः ।

१—यकारादि प्रत्यय पर में रहे तो अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है कृत्सार्वधातुक को छोड़कर । २—परस्मैपद–परक सिच् पर मे हो तो इगन्त अङ्ग की वृद्धि होती है । क्रमु–धातु पैर से चलने अर्थ मे । ३—कर्त्रर्थक सार्वधातुक पर में हो तो इन (भ्राश्, भ्लाश् आदि) धातुओं से श्यन् प्रत्यय होता है । ४—परस्मैपद सम्बन्धी शित् पर मे हो तो क्रम धातु को दीर्घ होता है । पा–धातु पानी, रस आदि के पीने के अर्थ में ।

पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्तिसर्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छधौशीयसीदाः ७ । ३ । ७८ ॥ [1]पादीनां पिबादयः स्युरित्संज्ञकशकारादौ प्रत्यये । पिबादेशोऽदन्तस्तेन न गुणः । पिबति ।

आत औ णलः ७ । १ । ३४ ॥ [2]आदन्ताद्धातोर्णल औकारादेशः स्यात् । पपौ ।

आतो लोप इटि च ६ । ४ । ६४ ॥ [3]अजाद्योरार्धधातुकयोः—क्ङिदिटोः परयोरातो लोपः स्यात् । पपतुः । पपुः । पपिथ–पपाथ । पपथुः । पप । पपौ । पपिव । पपिम । पाता । पास्यति । पिबतु । अपिबत् । पिबेत् ।

एर्लिङि ६ । ४ । ६७ ॥ [4]घुसंज्ञकानां मास्थादीनां च एत्वं स्यादार्धधातुके किति लिङि । पेयात् । गातिस्थेति सिचो लुक् । अपात् । आपाताम् ।

पिबति—पानार्थक 'पा' धातोर्लटि, तिपि, अनुबन्धलोपे 'पाघ्राध्मा–०' इति 'पा' इत्यस्य पिबादेशे, शप्यनुबन्धलोपे 'पिबति' इति ।

अपुः—पा धातोर्लुङि तस्य ति–प्रत्यये, 'लुङ्लङ्–०' इत्यडागमेऽनुबन्धलोपे, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिच्यनुबन्धलोपे, 'गातिस्था–०' इति सिचो लुकि, 'आतः' इति झेर्जुसि, अनुबन्धलोपे, 'उस्यपदान्तात्' इति पररूपे, सस्य रुत्वे विसर्गे च 'अपुः' इति ।

'पा' धातोः रूपाणि—

लटि—पिबति, पिबतः, पिबन्ति । पिबसि, पिबथः, पिबथ । पिबामि, पिबावः, पिबामः । **लिटि**—पपौ, पपतुः, पपुः । पपिथ–पपाथ, पपथुः, पप । पपौ, पपिव, पपिम । **लुटि**—पाता, पातारौ, पातारः । पातासि, पातास्थः, पातास्थ । पातास्मि, पातास्वः, पातास्मः । **लृटि**—पास्यति, पास्यतः, पास्यन्ति । पास्यसि, पास्यथः, पास्यथ । पास्यामि, पास्यावः, पास्यामः । **लोटि**—पिबतु–पिबतात्, पिबताम्, पिबन्तु । पिब–पिबतात्, पिबतम्, पिबत । पिबानि, पिबाव, पिबाम । **लङि**—अपिबत्, अपिबताम्, अपिबन् । अपिबः, अपिबतम्, अपिबत । अपिबम्, अपिबाव, अपिबाम । **विधिलिङि**—पिबेत्, पिबेताम्, पिबेयुः । पिबेः, पिबेतम्, पिबेत । पिबेयम्, पिबेव, पिबेम । **आशीर्लिङि**—पेयात्, पेयास्ताम्, पेयासुः । पेयाः,

---

१—इत्संज्ञक शकारादि प्रत्यय पर में रहे तो पा घ्रा आदि धातुओं को पिब, जिघ्र आदि आदेश होते हैं । २—आदन्त धातु से परे णल् को औकार आदेश होता है । ३—अजादि कित्, ङित् आर्धधातुक इट् परे रहते आकार का लोप होता है । ४—आर्धधातुक कित्, ङित् पर में हो तो घुसंज्ञक एवं मा-स्था आदि धातुओं को एत्व होता है ।

आतः ३ । ४ । ११० ॥ [1]सिज्लुकि आदन्तादेव झेर्जुस् स्यात् ।

उस्यपदान्तात् ६ । १ । ९६ ॥ [2]अपदान्तादकाराद्रुसि परे पररूपमेकादेशः स्यात् । ग्लै हर्षक्षये । ग्लायति ।

आदेच उपदेशेऽशिति ६ । १ । ४५ ॥ [3]उपदेशे एजन्तस्य धातोरात्त्वं स्यान्न तु शिति । जग्लौ । ग्लाता । ग्लास्यति । ग्लायतु । अग्लायत् । ग्लायेत् ।

वाऽन्यस्य संयोगादेः ६ । ४ । ६८ ॥ [4]घुमास्थादेरन्यस्य संयोगादेर्धातोरात एत्वं वा स्यादार्धधातुके किति लिङि । ग्लेयात्—ग्लायात् ।

यमरमनमातां सक् च ७ । ७३ ॥ [5]एषां सक् स्यादेभ्यः सिच इट् स्यात्परस्मैपदेषु । अग्लासीत् । अग्लास्यत् । ह्वृ कौटिल्ये । ह्वरति ।

पेयास्तम्, पेयास्त । पेयासम्, पेयास्व, पेयास्म । **लुङि**—अपात्, अपाताम्, अपुः । अपाः, अपातम्, अपात । अपाम्, अपाव, अपाम । **लृङि**—अपास्यत् अपास्यताम्, अपास्यन् । अपास्यः, अपास्यतम्, अपास्यत । अपास्यम्, अपास्याव, अपास्याम ।

अग्लासीत्—ग्लै धातोर्लुङि, तस्य तिप्यनुबन्धलोपे, आत्वे, 'लुङ्लङ्–०' इति अडागमेऽनुबन्धलोपे, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, अनुबन्धलोपे, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीटि, अनुबन्धलोपे 'यमरमनमातां सक् च' इति सकि इडागमे च कृते 'इट ईटि' इति सलोपे, इतश्चेति 'ति'—निष्ठेकारस्य लोपे 'अग्लासीत्' इति ।

'ग्लै' धातोः रूपाणि—

लटि—ग्लायति, ग्लायतः, ग्लायन्ति । ग्लायसि, ग्लायथः, ग्लायथ । ग्लायामि, ग्लायावः, ग्लायामः । **लिटि**—जग्लौ, जग्लतुः, जग्लुः । जग्लाथ–जग्लिथ, जग्लथुः, जग्ल । जग्लौ, जग्लिव, जग्लिम । **लुटि**—ग्लाता, ग्लातारौ, ग्लातारः । ग्लातासि, ग्लातास्थः, ग्लातास्थ । ग्लातास्मि, ग्लातास्वः, ग्लातास्मः । **लृटि**—ग्ला-

---

१—सिच् का लोप हो जाने पर अकारान्त धातु से ही झि के स्थान में जुस् होता है । २—अपदान्त अकार से उस् परे रहते पूर्व पर के स्थान मे पररूप एकादेश होता है । ग्लै—ग्लानि अर्थ में ३—उपदेश अवस्था में एजन्त जो धातु उसके एच् के स्थान में (आत्व) होता है, शित् परे हो तो नहीं होता है । ४—आर्धधातुक कित्, लिङ् पर में हो तो घु, मा-स्था आदि से भिन्न संयोगादि धातु के आकार को एकार विकल्प से होता है । ५—परस्मैपद में यम्, रम्, नम् एवं आदन्त धातु से सक् का आगम होता है और सिच् से इट् भी होता है । ह्वृ=टेढ़ा व्यवहार करने में ।

ऋतश्च संयोगादेर्गुणः ७ । ४ । १० ॥ [1]ऋदन्तस्य संयोगादेरङ्गस्य गुणः स्याल्लिटि । उपधाया वृद्धिः । जह्वार । जह्वरतुः । जह्वरुः । जह्वर्थ । जह्वरथुः । जह्वर । जह्वार—जह्वर । जह्वरिव । जह्वरिम । ह्वर्ता ।

ऋद्धनोः स्ये ७ । २ । ७० ॥ [2]ऋतो हन्तेश्च स्यस्येट् स्यात् । ह्वरिष्यति । ह्वरतु । अह्वरत् । ह्वरेत् ।

गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः ७ । ४ । २९ ॥ [3]अर्तेः संयोगादेर्ऋदन्तस्य च गुणः स्याद्यकि यादावार्धधातुके लिङि च । ह्वर्यात् । अह्वार्षीत् । अह्वरिष्यत् । श्रु श्रवणे ।

श्रुवः शृ च ३ । १ । ७४ ॥ [4]श्रुवः शृ इत्यादेशः स्यात् श्नुप्रत्ययश्च । शृणोति ।

सार्वधातुकमपित् १।२।४ ॥ [5]अपित्सार्वधातुकं ङिद्वत् स्यात् । शृणुतः ।

हुश्नुवोः सार्वधातुके ६ । ४ । ८७ ॥ [6]जुहोतेः श्नुप्रत्ययान्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य चाऽसंयोगपूर्वोवर्णस्य यण् स्यादजादौ सार्वधातुके । शृण्वन्ति । शृणोषि । शृणुथः । शृणुथ । शृणोमि ।

स्यति, ग्लास्यतः ग्लास्यन्ति । ग्लास्यसि, ग्लास्यथः, ग्लास्यथ । ग्लास्यामि, ग्लास्यावः, ग्लास्यामः । **लोटि**—ग्लायतु, ग्लायताम्, ग्लायन्तु । ग्लाय-ग्लायतात्, ग्लायतम्, ग्लायत । ग्लायानि, ग्लायाव, ग्लायाम । **लङि**—अग्लायत्, अग्लायताम्, अग्लायन् । अग्लायः, अग्लायतम्, अग्लायत । अग्लायम्, अग्लायाव, अग्लायाम् । **विधिलिङि**—ग्लायेत्, ग्लायेताम्, ग्लायेयुः । ग्लायेः, ग्लायेतम्, ग्लायेत । ग्लायेयम्, ग्लायेव, ग्लायेम । **आशीर्लिङि**—ग्लेयात्-ग्लायात्, ग्लेयास्ताम्-ग्लायास्ताम्, ग्लेयासुः-ग्लायासुः । ग्लेयाः-ग्लायाः, ग्लेयास्तम्-ग्लायास्तम्, ग्लेयास्त-ग्लायास्त । ग्लेयासम्-ग्लायासम्, ग्लेयास्व-ग्लायास्व, ग्लेयास्म-ग्लायास्म । **लुङि**-अग्लासीत्, अग्लासिष्टाम्, अग्लासिषुः । अग्लासीः, अग्लासिष्टम्, अग्लासिष्ट । अग्लासिषम्, अग्लासिष्व, अग्लासिष्म । **लृङि**—अग्लास्यत् अग्लास्यताम्, अग्लास्यन् । अग्लास्यः, अग्लास्यतम्, अग्लास्यत । अग्लास्यम्, अग्लास्याव, अग्लास्याम ।

१—लिट् परे रहते ऋदन्त संयोगादि अङ्ग को गुण होता है । २—ऋदन्त धातु एवं हन् धातु से परे 'स्य' को इट् का आगम होता है । ३—यक् या यकारादि आर्धधातुक लिङ् पर में हो तो 'ऋ' एवं संयोगान्त ऋदन्त धातु से गुण होता है । श्रु=सुनने में । ४—श्रु के स्थान में 'शृ' आदेश और श्नु प्रत्यय भी होता है । ५—पित् से भिन्न सार्वधातुक ङिद्वत् (ङित् के समान) होता है । ६—अजादि सार्वधातुक पर में हो तो 'हु' धातु एवं श्नु-

लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः ६ । ४ । १०७ ।। [1]असंयोगपूर्वस्य प्रत्ययोकारस्य लोपो वा स्यात् म्वोः परयोः । शृण्वः–शृणुवः । शृण्मः–शृणुमः । शुश्राव । शुश्रुवतुः । शुश्रुवुः । शुश्रोथ । शुश्रुवथुः । शुश्रुव । शुश्राव–शुश्रव । शुश्रुव । शुश्रुम । श्रोता । श्रोष्यति । शृणोतु-शृणुतात् । शृणुताम् । शृण्वन्तु ।

उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् ६ । ४ । १०६ ।। [2]असंयोगपूर्वो यः प्रत्ययोकारस्तदन्तादङ्गात्परस्य हेर्लुक् स्यात् । शृणु-शृणुतात् । शृणुतम् । शृणुत । गुणावादेशौ । शृणवानि । शृणवाव । शृणवाम । अशृणोत् । अशृणुताम् । अशृण्वन् । अशृणोः । अशृणुतम् । अशृणुत । अशृणवम् । अशृण्व-अशृणुव । अशृण्म-अशृणुम । शृणुयात् । शृणुयाताम् । शृणुयुः ।

शृण्वः–शृणुवः—श्रु धातोर्लटि तस्य 'तिप्तस्–' इति वसादेशे, 'श्रुवः शृ च' इति श्रुवः 'शृ' आदेशे, श्नु-प्रत्यये च, 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः' इति विकल्पेनोकारलोपे 'शृण्वः' इति । लोपाभावे 'शृणुवः' इति ।

शृणु—श्रु धातोर्लोटि, तस्य तिप्तस्–इति सिपि, 'श्रुवः शृ च' इति शृ आदेशे श्नु प्रत्यये च कृते 'सेर्ह्यपिच्च' इति सेर्ह्यादेशे, 'उतश्च प्रत्ययाद-संयोगपूर्वात्' इति हेर्लुकि 'शृणु' इति ।

'श्रु' धातोः रूपाणि—

लटि—शृणोति, शृणुतः, शृण्वन्ति । शृणोषि, शृणुथः, शृणुथ । शृणोमि, शृण्वः–शृणुवः, शृण्मः–शृणुमः । **लिटि**—शुश्राव, शुश्रुवतुः, शुश्रुवुः । शुश्रोथ, शुश्रुवथुः, शुश्रुव । शुश्राव–शुश्रव, शुश्रुव, शुश्रुम । **लुटि**—श्रोता, श्रोतारौ, श्रोतारः । श्रोतासि, श्रोतास्थः, श्रोतास्थ । श्रोतास्मि, श्रोतास्वः, श्रोतास्मः । **लृटि**—श्रोष्यति, श्रोष्यतः, श्रोष्यन्ति । श्रोष्यसि, श्रोष्यथः, श्रोष्यथ । श्रोष्यामि, श्रोष्यावः, श्रोष्यामः । **लोटि**—शृणोतु-शृणुतात्, शृणुताम्, शृण्वन्तु । शृणु-शृणुतात्, शृणुतम्, शृणुत । शृणवानि, शृणवाव-शृणवाम । **लङि**—अशृणोत्, अशृणुताम्, अशृण्वन् । अशृणोः, अशृणुतम्, अशृणुत । अशृणवम्, अशृणुव-अशृण्व, अशृण्म-अशृणुम । **विधिलिङि**—शृणुयात्, शृणुयाताम्, शृणुयुः । शृणुयाः, शृणुयातम्,

प्रत्ययान्त जो अनेकाच् अङ्ग तदवयव असंयोगपूर्वक उवर्ण को यण् आदेश होता है ।

१—म (मकार) या व (वकार) प्रत्यय पर में रहे तो असंयोगपूर्वक प्रत्यय के उकार का लोप विकल्प से होता है । २—असंयोगपूर्वक प्रत्यय के उकारान्त अंग से परे जो 'हि' उसका लोप होता है ।

शृणुयाः । शृणुयातम् । शृणुयात । शृणुयाम् । शृणुयाव । शृणुयाम । श्रूयात् । अश्रौषीत् । अश्रोष्यत् । **गम्लृ** गतौ ।

इषुगमियमां छः ७ । ३ । ७७ ॥ [1]एषां छः स्यात्-शिति । गच्छति । जगाम ।

गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि ६ । ४ । ९८ ॥ [2]एषामुपधाया लोपः स्यादजादौ क्ङिति न त्वङि । जग्मतुः । जग्मुः । जगमिथ-जगन्थ । जग्मथुः । जग्म । जगाम—जगम । जग्मिव । जग्मिम । गन्ता ।

गमेरिट् परस्मैपदेषु ७ । २ । ५८ ॥ [3]गमेः परस्य सादेरार्धधातुकस्येट् स्यात् परस्मैपदेषु । गमिष्यति । गच्छतु । अगच्छत् । गच्छेत् । गम्यात् ।

शृणुयात । शृणुयाम्, शृणुयाव, शृणुयाम । **आशीर्लिङि**—श्रूयात्, श्रूयास्ताम्, श्रूयासुः । श्रूयाः, श्रूयास्तम्, श्रूयास्त । श्रूयासम्, श्रूयास्व, श्रूयास्म । **लुङि**—अश्रौषीत्, अश्रौष्टाम्, अश्रौषुः । अश्रौषीः, अश्रौष्टम्, अश्रौष्ट । अश्रौषम्, अश्रौष्व, अश्रौष्म । **लृङि**—अश्रोष्यत्, अश्रोष्यताम्, अश्रोष्यन् । अश्रोष्यः, अश्रोष्यतम्, अश्रोष्यत । अश्रोष्यम्, अश्रोष्याव, अश्रोष्याम ।

गच्छति—गम् धातोर्लटि तस्य तिपि, अनुबन्धलोपे शपि, अनुबन्धलोपे, 'इषुगमि—०' इति छादेशे, ततः 'छे च' इति तुगागमेऽनुबन्धलोपे, श्चुत्वे 'गच्छति' इति ।

जग्मतुः—लृकारेत्संज्ञक-गम् धातोर्लिटि, तस्य तसादेशे, तस्य च 'परस्मैपदानाम्—०' इति अतुसि, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति धातोर्द्वित्वे, 'गम्-गम् अतुस्' इति स्थितेऽभ्यासादिकार्ये, 'कुहोश्चुः' इति गकारस्य जकारे, गमहनजन-इति-उपधाकारस्य लोपे, सस्य रुत्वे विसर्गे च 'जग्मतुः' इति ।

'गम्' धातो रूपाणि—

लटि—गच्छति, गच्छतः, गच्छन्ति । गच्छसि, गच्छथः, गच्छथ । गच्छामि, गच्छावः, गच्छामः । **लिटि**—जगाम, जग्मतुः, जग्मुः । जगमिथ-जगन्थ, जग्मथुः, जग्म । जगाम-जगम, जग्मिव, जग्मिम । **लुटि**—गन्ता, गन्तारौ, गन्तारः । गन्तासि, गन्तास्थः । गन्तास्थ । गन्तास्मि, गन्तास्वः, गन्तास्मः । **लृटि**—गमिष्यति, गमिष्यतः, गमिष्यन्ति । गमिष्यसि, गमिष्यथः, गमिष्यथ । गमिष्यामि, गमिष्यावः, गमिष्यामः ।

१—शित् पर मे रहे तो इष्, गम्, यम्–धातुओं को 'छ' आदेश होता है । २—अजादि कित्, ङित् प्रत्यय पर में रहे तो गम्, हन्, जन्, खन् और घस् की उपधा का लोप होता है, अङ् पर मे हो तो नहीं होता है । ३—परस्मैपद मे गम् धातु से परे सादि आर्धधातुक को इट् का आगम होता है ।

पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु ३ । १ । ५५ ॥ [1]श्यन्विकरणपुषादेर्द्युतादेॢ्रदितश्च परस्य च्लेरङ् स्यात् परस्मैपदेषु । अगमत् । अगमिष्यत् ।

॥ इति परस्मैपदिनः ॥

अथात्मनेपदिनः ।

एध वृद्धौ ।

टित आत्मनेपदानां टेरे ३ । ४ । ७९ ॥ [2]टितो लस्यात्मने पदानां टेरेत्वं स्यात् । एधते ।

आतो ङितः ७ । २ । ८१ ॥ [3]अतः परस्य ङितामाकारस्य इय् स्यात् । एधेते । एधन्ते ।

थासः से ३ । ४ । ८० ॥ [4]टितो लस्य थासः से स्यात् । एधसे । एधेथे । एधध्वे । अतो गुणे । एधे । एधावहे । एधामहे ।

इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः ३ । १ । ३६ ॥ [5]इजादिर्यो धातुर्गुरुमान् ऋच्छत्यन्यस्तत आम् स्याल्लिटि ।

लोटि---गच्छतु-गच्छतात्, गच्छताम्, गच्छन्तु । गच्छ-गच्छतात्, गच्छतम्, गच्छत । गच्छानि, गच्छाव, गच्छाम । लङि---अगच्छत्, अगच्छताम्, अगच्छन् । अगच्छः, अगच्छतम्, अगच्छत । अगच्छम्, अगच्छाव, अगच्छाम । विधिलिङि---गच्छेत्, गच्छेताम्, गच्छेयुः । गच्छेः, गच्छेतम्, गच्छेत । गच्छेयम्, गच्छेव, गच्छेम । आशीर्लिङि---गम्यात्, गम्यास्ताम्, गम्यासुः । गम्याः, गम्यास्तम्, गम्यास्त । गम्यासम्, गम्यास्व, गम्यास्म । लुङि---अगमत्, अगमताम्, अगमन् । अगमः, अगमतम्, अगमत । अगमम्, अगमाव, अगमाव । लृङि---अगमिष्यत्, अगमिष्यताम्, अगमिष्यन् । अगमिष्यः, अगमिष्यतम्, अगमिष्यत । अगमिष्यम्, अगमिष्याव, अगमिष्याम ।

१-परस्मैपद में श्यन् विकरण पुषादि, द्युतादि तथा लृदित् धातुओं से परे च्लि को 'अङ्' आदेश होता है । इति परस्मैपदिनः । एध=वृद्धि-बढ़ने में । २---टकार इत्संज्ञक लकार सम्बन्धी आत्मनेपदके टि को एत्व होता है । ३---अत् से परे ङित्सम्बन्धी आकार को इय् आदेश होता है । ४---टित् लकार के स्थान में जो 'थास्' उसको 'से' आदेश होता है । ५---ऋच्छ् धातु से भिन्न जो गुरुमान् (गुरु) इजादि धातु उससे आम् होता है लिट् परे रहते । (बहुव्रीहि समास के दो भेद होते हैं । तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि, अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि । जैसे---'लम्बकर्णमानय' यह प्रथम का उदाहरण है । 'दृष्टसागरमानय' यह द्वितीय का) 'आम्प्रत्ययवत्' भी द्वितीय का उदाहरण है उसी को बताते हैं कि---

आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य १ । ३ । ६३ ॥ [1]आम्प्रत्ययो यस्मादित्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । [2]आम्प्रकृत्या तुल्यमनुप्रयुज्यमानात् कृञोऽप्यात्मने पदं स्यात् ।

लिटस्तझयोरेशिरेच् ३ । ४ । ८१ ॥ [3]लिडादेशयोस्तझयोरेश् इरेजित्येतावादेशौ स्तः । एधाञ्चक्रे । एधाञ्चक्राते । एधाञ्चक्रिरे । एधाञ्चकृषे । एधाञ्चक्राथे ।

इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात् ८ । ३ । ७८ ॥ [4]इणन्तादङ्गात्परेषां षीध्वंलुङ्लिटां धस्य ढः स्यात् । एधाञ्चकृढ्वे । एधाञ्चक्रे । एधाञ्चकृवहे । एधाञ्चकृमहे । एधाम्बभूव । एधामास । एधिता । एधितारौ । एधितारः । एधितासे । एधितासाथे ।

धि च ८ । २ । २५ ॥ [5]धादौ प्रत्यये परे सस्य लोपः स्यात् । एधिताध्वे ।

एधाञ्चक्रे—एध् धातोर्लिटि 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इति-आमि, 'आमः' इति लिटो लुकि, 'एध् आम्' इति स्थिते, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परककृञोऽनुप्रयोगे, 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति-एशि, अनुबन्धलोपे, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति 'कृ' इत्यस्य द्वित्वे 'उरत्' इति-अत्वे रपरे च कृते, हलादिशेषे, 'एध् आम् क कृ ए' इति जाते, 'कुहोश्चुः' इति पूर्वककारस्य चकारे, अनुस्वारे, परसवर्णे, यणि च कृते 'एधाञ्चक्रे' इति ।

एधाञ्चकृढ्वे—'एध्' धातोर्लिटि 'इजादेश्च गुरुमतो—' इत्यामि, आमः इति लिटो लुकि, 'कृञ्चानु—' इति लिट्परककृञोऽनुप्रयोगे, कृञो ञित्वादुभयपदे प्राप्ते, 'आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य' इति नियमेन लिटः स्थाने आत्मनेपदसंज्ञक ध्वमादेशे, 'लिटि धातोः' इति द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये, 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे, 'इणः षीध्वम्—इति धस्य ढकारे, मकारस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते 'एधाञ्चकृढ्वे' इति ।

१—आम्-प्रत्यय हो जिसमें ऐसा अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि (यहाँ जानना चाहिये) है । २—आम् प्रकृतिक (एधादि धातु) के तुल्य अनु (पश्चात्) प्रयुज्यमान (प्रयोग किये जाने वाले) कृञ् से भी आत्मनेपद होता है । ३—लिट् के स्थान में आदेशरूपी 'त' को 'एश्' एवं 'झ' को इरेच् आदेश होते हैं । ४—इण्-अन्त अङ्ग से परे षी ध्वम् तथा लुङ् लिट् सम्बन्धी धकार को ढकार होता है । ५—धकारादि प्रत्यय पर में हो तो सकार का लोप होता है ।

ह एति ७ । ४ । ५२ ॥ [1]तासस्त्योः सस्य हः स्यादेति परे । एधिताहे । एधितास्वहे । एधितास्महे । एधिष्यते । एधिष्येते । एधिष्यन्ते । एधिष्यसे । एधिष्येथे । एधिष्यध्वे । एधिष्ये । एधिष्यावहे । एधिष्यामहे ।

आमेतः ३ । ४ । ९० ॥ [2]लोट एकारस्य आम् स्यात् । एधताम् । एधेताम् । एधन्ताम् ।

सवाभ्यां वाऽमौ ३ । ४ । ९१ ॥ [3]सवाभ्यां परस्य लोडेतः क्रमाद्वाऽमौ स्तः । एधस्व । एधेथाम् । एधध्वम् ।

एत ऐ ३ । ४ । ९३ ॥ [4]लोडुत्तमस्य एत ऐ स्यात् । एधै । एधावहै । एधामहै । आटश्च । ऐधत । ऐधेताम् । ऐधन्त । ऐधथाः । ऐधेथाम् । ऐधध्वम् । ऐधे । ऐधावहि । ऐधामहि ।

लिङः सीयुट् ३ । ४ । १०२ ॥ [[5]लिङादेशानां सीयुडागमः स्यादात्मनेपदे] । सलोपः । एधेत । एधेयाताम् ।

झस्य रन् ३ । ४ । १०५ ॥ [6]लिङो झस्य रन् स्यात् । एधेरन् । एधेथाः । एधेयाथाम् । एधेध्वम् ।

इटोऽत् ३ । ४ । १०६ ॥ [7]लिङादेशस्य इटोऽत्स्यात् । एधेय । एधेवहि । एधेमहि ।

सुट् तिथोः ३ । ४ । १०७ ॥ [8]लिङस्तकारथकारयोः सुट् स्यात् । यलोपः । आर्धधातुकत्वात्सलोपो न । एधिषीष्ट । एधिषीयास्ताम् । एधिषीरन् । एधिषीष्ठाः । एधिषीयास्थाम् । एधिषीध्वम् । एधिषीय । एधिषीवहि । एधिषीमहि । ऐधिष्ट । ऐधिषाताम् ।

एधस्व—एध् धातोर्लोटि, तस्य थास् प्रत्यये, तस्य च 'थासः से' इति 'से' आदेशे, 'कर्तरि शप्' इति शपि, अनुबन्धलोपे, 'सवाभ्यां वामौ' इति एकारस्य वकारे 'एधस्व' इति ,

एधै—एध् धातोर्लोटि तस्य-इडादेशेऽनुबन्धलोपे, 'कर्तरि शप्' इति शपि

१—एकार पर में रहे तो तास् प्रत्यय और अस् धातु सम्बन्धी 'स' को 'ह' आदेश होता है । २—लोट् सम्बन्धी एकार को आम् आदेश होता है । ३—सकार, वकार से परे लोट् सम्बन्धी एकार को क्रम से व और म आदेश होता है । ४—लोट् सम्बन्धी उत्तम पुरुष के एकार को ऐकार होता है । ५—लिङ् से सीयुट् का आगम होता है आत्मनेपद में । ६—लिङ् सम्बन्धी 'झ' के स्थान में 'रन्' होता है । ७—लिङादेश इट् को अत् आदेश होता है ।
9 ८—लिङ् सम्बन्धी तकार, थकार से सुट् का आगम होता है ।

आत्मनेपदेष्वनतः ७ । १ । ५ ॥ [1]अनकारात्परस्यात्मनेपदेषु झस्य अदित्यादेशः स्यात् । ऐधिषत । ऐधिष्ठाः । ऐधिषाथाम् । ऐधिढ्वम् । ऐधिषि । ऐधिष्वहि । ऐधिष्महि । ऐधिष्यत । ऐधिष्येताम् । ऐधिष्यन्त । ऐधिष्यथाः । ऐधिष्येथाम् । ऐधिष्यध्वम् । ऐधिष्ये । ऐधिष्यावहि । ऐधिष्यामहि । **कमु** कान्तौ ।

कमेर्णिङ् ३ । १ । ३० ॥ [2]कमेर्णिङ् स्यात्स्वार्थे । ङित्त्वात्तङ् । कामयते ।

अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु ६ । ४ । ५५ ॥ [3]आम् अन्त आलु आय्य इत्नु इष्णु-एषु णेरयादेशः स्यात् । कामयाञ्चक्रे । आयादय इति णिङ् वा । चकमे । चकमाते । चकमिरे । चकमिषे । चकमाथे । चकमिध्वे । चकमे । चकमिवहे । चकमिमहे । कामयिता-कमिता । कामयितासे । कामयिष्यते, कमिष्यते । कामयताम् । अकामयत । कामयेत् । कामयिषीष्ट ।

विभाषेटः ८ । ३ । ७९ ॥ [4]इणः परो य इट् ततः परेषां षीध्वंलुङ्लिटां धस्य वा ढः स्यात् । कामयिषीढ्वम्, कामयिषीध्वम् । कमिषीष्ट । कमिषीध्वम् ।

णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ् ३ । १ । ४८ ॥ [5]ण्यन्तात् श्र्यादिभिश्च च्लेश्चङ् स्यात् कर्त्रर्थे लुङि परे । 'अ कामि अ त' इति स्थिते—

णेरनिटि ६ । ४ । ५१ ॥ [6]अनिडादावार्धधातुके परे णेर्लोपः स्यात् ।

अनुबन्धलोपे, 'टित आत्मने-०' इति टेरेत्वे, 'एत ऐ' इति एकारस्य—ऐकारे, वृद्धौ च 'एधै' इति ।

ऐधिढ्वम्—एध् धातोर्लुङि तस्य 'तिप्तस्-०' इति ध्वमि, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि अनुबन्धलोपे, 'आडजादीनाम्' इति आटि, 'आटश्च' इति वृद्धौ, 'आर्धधातुक-०' इतीटि, 'धि च' इति सस्य लोपे, 'इणः षीध्वम्-०' इति धस्य ढकारे 'ऐधिढ्वम्' इति ।

१—अकार से परे नहीं हो ऐसा जो 'झ' उसके स्थान में अत् आदेश होता है । कमु= इच्छा करने अर्थ में । २—स्वार्थ मे कम् धातु से णिङ् प्रत्यय होता है । ३—आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु, इष्णु आदि प्रत्यय परे रहते 'णि' के स्थान में 'अय्' आदेश होता है । ४—इण् से परे जो इट् उससे परे षीध्वं या लुङ् लिट् सम्बन्धी धकार उसको ढकार विकल्प से होता है । ५—कर्त्रर्थक लुङ् पर में हो तो ण्यन्त से तथा श्रि, द्रु, स्रु धातुओं से परे च्लि को चङ् आदेश होता है । ६—जिसके पहले इट् न हो ऐसा आर्धधातुक पर में हो तो णि का लोप होता है ।

णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः ७ । ४ । १ ॥ [1]चङ् परे णौ यदङ्गं तस्योपधाया ह्रस्वः स्यात् ।

चङि ६ । १ । ११ ॥ [2]चङि परेऽनभ्यासधात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तोऽजादेस्तु द्वितीयस्य ।

सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे ७ । ४ । ९३ ॥ [3]चङ्परे णौ यदङ्गं तस्य योऽभ्यासो लघुपरस्तस्य सनीव कार्यं स्याण्णावग्लोपेऽसति ।

सन्यतः ७ । ४ । ७९ ॥ [4]अभ्यासस्याऽत इत् स्यात् सनि ।

दीर्घो लघोः ७ । ४ । ९४ ॥ [5]लघोरभ्यासस्य दीर्घः स्यात् सन्वद्भावविषये । अचीकमत । णिङभावपक्षे—[6]**कमेश्च्लेश्चङ् वाच्यः** । अचकमत । अकामयिष्यत–अकमिष्यत । अय गतौ । अयते ।

अचीकमत—लुप्तानुबन्धक–इच्छार्थक–'कम्' इत्यस्मात् 'आयादय आर्धधातुके वा' इति नियमेन 'कमेर्णिङ्' इति वैकल्पिके णिङि, 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ, 'कामि' इत्यस्य 'सनाद्यन्ताः–' इति धातुत्वेन लुङि, तस्य 'त' आदेशे, लुङ्लङ्–इत्यडागमेऽनुबन्धलोपे, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः–०' इति चङि, अनुबन्धलोपे, 'णेरनिटि' इति–इकारलोपे, 'णौ चङ्युपधायाः–०' इति उपधाह्रस्वे, 'चङि' इति द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये, 'सन्वल्लघुनि–' इति सन्वद्भावे, 'सन्यतः' इतीत्वे, 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे 'अचीकमत' इति ।

'कम्' धातोः रूपाणि—

लटि—कामयते, कामयेते, कामयन्ते । कामयसे, कामयेथे, कामयध्वे । कामये, कामयावहे, कामयामहे । **लिटि**—कामयाञ्चक्रे–चकमे, कामयाञ्चक्राते-चकमाते, कामयाञ्चक्रिरे-चकमिरे । कामयाञ्चकृषे–चकमिषे, कामयाञ्चक्राथे-चकमाथे, कामयाञ्चकृढ्वे-चकमिध्वे । कामयाञ्चक्रे–चकमे, कामयाञ्चकृवहे-चकमिवहे, कामयाञ्चकृमहे-चकमिमहे । **लुटि**—कामयिता-कमिता, कामयितारौ-कमितारौ, कामयितारः-

---

१—चङ्परक णि पर में हो तो अङ्ग की उपधा को ह्रस्व होता है । २—चङ् पर रहे तो अभ्यास से भिन्न जो धातु का अवयव प्रथम एकाच् उसको द्वित्व होता है और अजादि धातु के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है । ३—णि परे रहते यदि अक् का लोप न हुआ हो तो चङ्परक णि परे जो अङ्ग, उसका जो लघुपरक अभ्यास, उसको सन्वद्भाव (सन् की तरह कार्य) होता है । ४—सन् पर में हो तो अभ्यास के 'अकार' को 'इकार' होता है । ५—सन्वद्भाव के विषय में लघु अभ्यास को दीर्घ होता है । ६—कम् धातु से परे च्लि को चङ् आदेश होता है ।

उपसर्गस्यायतौ ८ । २ । १९ ॥ [1]अयतिपरस्योपसर्गस्य यो रेफस्तस्य लत्वं स्यात् । प्लायते । पलायते ।

दयायासश्च ३ । १ । ३७ ॥ [2]दय् अय् आस् एभ्य आम् स्याल्लिटि । अयाञ्चक्रे । अयिता । अयिष्यते । अयताम् । आयत । अयेत । अयिषीष्ट । विभाषेटः । अयिषीढ्वम्-अयिषीध्वम् । आयिष्ट । आयिढ्वम्—आयिध्वम् । आयिष्यत ॥ द्युत दीप्तौ । द्योतते ।

द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम् ७ । ४ । ६७ ॥ [3]अनयोरभ्यासस्य संप्रसारणं स्यात् । दिद्युते ।

कामिताराः । कामयितासे-कमितासे, कामयितासाथे-कमितासाथे, कामयिताध्वे-कमिताध्वे । कामयिताहे-कमिताहे, कामयितास्वहे-कमितास्वहे, कामयितास्महे-कमितास्महे । लृटि—कामयिष्यते-कमिष्यते, कामयिष्येते-कमिष्येते, कामयिष्यन्ते-कमिष्यन्ते । कामयिष्यसे-कमिष्यसे, कामयिष्येथे-कमिष्येथे, कामयिष्यध्वे-कमिष्यध्वे । कामयिष्ये-कमिष्ये, कामयिष्यावहे-कमिष्यावहे, कामयिष्यामहे-कमिष्यामहे । लोटि—कामयताम्, कामयेताम्, कामयन्ताम् । कामयस्व, कामयेथाम्, कामयध्वम् । कामयै, कामयावहै, कामयामहै । लङि—अकामयत, अकामयेताम्, अकामयन्त । अकामयथाः, अकामयेथाम्, अकामयध्वम् । अकामये, अकामयावहि, अकामयामहि । विधिलिङि—कामयेत, कामयेयाताम्, कामयेरन् । कामयेथाः, कामयेयाथाम्, कामयेध्वम् । कामयेय, कामयेवहि, कामयेमहि । आशीर्लिङि—कामयिषीष्ट—कमिषीष्ट, कामयिषीयास्ताम्-कमिषीयास्ताम्, कामयिषीरन्—कमिषीरन् । कामयिषीष्ठाः-कमिषीष्ठाः, कामयिषीयास्थाम्-कमिषीयास्थाम्, कामयिषीढ्वम्—कामयिषीध्वम् कमिषीध्वम् । कामयिषीय-कमिषीय, कामयिषीवहि-कमिषीवहि, कामयिषीमहि-कमिषीमहि । लुङि—अचीकमत-अचकमत, अचीकमेताम्-अचकमेताम्, अचीकमन्त-अचकमन्त । अचीकमथाः—अचकमथाः, अचीकमेथाम्—अचकमेथाम्, अचीकमध्वम्—अचकमध्वम् । अचीकमे—अचकमे, अचीकमावहि—अचकमावहि, अचीकमामहि—अचकमामहि । लृङि—अकामयिष्यत—अकमिष्यत, अकामयिष्येताम्—अकमिष्येताम्, अकामयिष्यन्त-अकमिष्यन्त । अकामयिष्यथाः—अकमिष्यथाः, अकामयिष्येथाम्—अकमिष्येथाम्, अकामयिष्यध्वम्—अकमिष्यध्वम् । अकामयिष्ये—अकमिष्ये,

१-अय् धातु हो पर मे जिसके ऐसे उपसर्ग के रेफ का लकार होता है। २-लिट् परे रहते दय् अय् आस् धातुओं से आम् होता है। ३-द्युत एवं स्वप् धातु के अभ्यास को सम्प्रसारण होता है।

द्युद्भ्यो लुङि १ । ३ । ९१ ॥ [1]द्युतादिभ्यो लुङः परस्मैपदं वा स्यात् । पुषादीत्यङ् । अद्युतन्-अद्योतिष्ट । अद्योतिष्यत । एवम् **श्विता** वर्णे । **ञिमिदा** स्नेहने । **ञिष्विदा** स्नेहनमोचनयोः । मोहनयोरित्येके । **ञिक्ष्विदा** चेत्येके । **रुच** दीप्तावभिप्रीतौ च । **घुट** परिवर्तने । **शुभ** दीप्तौ । **क्षुभ** सञ्चलने । **णभ तुभ** हिंसायाम् । **स्रंसु ध्वंसु भ्रंसु** अवस्रंसने । **ध्वंसु** गतौ च । **स्रम्भु** विश्वासे । **वृतु** वर्त्तने । वर्तते । ववृते । वर्तिता ।

वृद्भ्यः स्यसनोः १ । ३ । ९२ ॥ [2]वृतादिभ्यः पञ्चभ्यः परस्मैपदं वा स्यात्स्ये सनि च ।

न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः ७ । २ । ५९ ॥ [3]वृतुवृधुशृधुस्यन्दूभ्यः सकारादेरार्धधातुकस्येण् न स्यात् तङानयोरभावे । वर्त्स्यति–वर्तिष्यते । वर्तताम् । अवर्तत । वर्तेत । वर्तिषीष्ट। अवर्तिष्ट। अवर्त्स्यत्-अवर्तिष्यत । **दद** दाने । ददते ।

न शसददवादिगुणानाम् ६ । ४ । १२६ ॥ [4]शसेर्ददेर्वकारादीना गुणशब्देन विहितश्च योऽकारस्तस्य एत्वाभ्यासलोपौ न स्तः । दददे । दददाते । दददिरे । ददिता । ददिष्यते । ददताम् । अददत । ददेत । ददिषीष्ट । अददिष्ट । अददिष्यत । **त्रपूष्** लज्जायाम् । त्रपते ।

तॄफलभजत्रपश्च ६ । ४ । १२२ ॥ [5]एषामत एत्वमभ्यासलोपश्च स्यात् किति लिटि सेटि थलि च । त्रेपे । त्रपिता, त्रप्ता । त्रपिष्यते, त्रप्स्यते ।

अकामयिष्यावहि–अकमिष्यावहि, अकामयिष्यामहि–अकमिष्यामहि ।

वर्त्स्यति—उकारेत्संज्ञक वृत्–धातोर्लृटि, अनुबन्धलोपे, 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्यप्रत्यये, आर्धधातुकस्येड् वलादेरिति प्राप्तस्येटो 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' इति निषेधे, 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे, 'उरत्' इति रपरे च कृते 'वर्त्स्यति' इति । आत्मनेपदप्रयोगे तु इड् भवत्येव, तेन 'वर्तिष्यते' इति ।

१—द्युतादि से परे लुङ् को परस्मैपद विकल्प से होता है । रुच=प्रकाश तथा मन को अच्छा लगना । घुट=एक ही पदार्थ का बारम्बार घर्षण करना । क्षुभ=अपने स्वभाव से विरुद्ध व्यापार करना, जैसे क्षुब्ध व्याकुल । यह लोकप्रसिद्ध है । स्रंस, भ्रंस, ध्वंस–नीचे गिरना । वृत =सत्ता । २–स्य या सन् प्रत्यय पर में रहे तो वृत्–आदि पाँच धातुओं से परस्मैपद विकल्प से होता है । ३–तङ् और आन से भिन्न स्थल में वृत्, वृध् , शृध् , स्यन्द् धातुओं से परे सकारादि आर्धधातुक से इट् का आगम नहीं होता है । दद=दान, देने अर्थ में । ४—शस्–दद् एवं वकारादि धातुओं एवं गुण शब्द से किया गया जो अकार उसको एत्व तथा अभ्यासलोप कार्य नहीं होते हैं । त्रप=लज्जा अर्थ में । ५–कित् लिट् एवं इट् सहित थल् परे हो तो तॄ,

त्रपनाम् । अत्रपत । त्रपेत । त्रपिपीष्ट, त्रप्सीष्ट । अत्रपिष्ट, अत्रप्त । अत्रपिष्यत, अत्रप्स्यत ।

॥ इत्यात्मनेपदिनः ॥

अथोभयपदिनः

श्रिञ् सेवायाम् । श्रयति–श्रयते । शिश्राय–शिश्रिये । श्रयिता । श्रयिष्यति-श्रयिष्यते । श्रयतु, श्रयताम् । अश्रयत्-अश्रयत । श्रयेत्-श्रयेत । श्रीयात्-श्रयिषीष्ट । चङ् । अशिश्रियत्, अशिश्रियत । अश्रयिष्यत्, अश्रयिष्यत ।

भृञ् भरणे । भरति, भरते । बभार । बभ्रतुः । बभ्रुः । बभर्थ । बभृव । बभृम । बभ्रे । बभृषे । भर्तासि, भर्तासे । भरिष्यति, भरिष्यते । भरतु, भरताम् । अभरत्, अभरत । भरेत्, भरेत ।

रिङ् शयग्लिङ्क्षु ७ । ४ । २८ ॥ [1]शे यकि यादावार्धधातुके लिङि च ऋतो रिङादेशः स्यात् । रीङि प्रकृते रिङ्विधानसामर्थ्याद्दीर्घो न । भ्रियात् ।

उश्च १ । २ । १२ ॥ [2]ऋवर्णात्परौ झलादी लिङ्सिचौ कितौ स्तस्तङि । भृषीष्ट । भृषीयास्ताम् । भृषीरन् । अभार्षीत् । अभार्ष्टाम् । अभार्षुः । अभार्षीः । अभार्ष्टम् । अभार्ष्ट । अभार्ष्व । अभार्ष्म ।

ह्रस्वादङ्गात् ८ । २ । २७ ॥ [3]सिचो लोपः स्याज्झलि । अभृत । अभृषाताम् । अभरिष्यत्, अभरिष्यत । **हृञ्** हरणे । हरति, हरते । जहार,

---

अशिश्रयत्—श्रियो लुङि, तस्य तिपि, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेश्चङि, अनुबन्धलोपे, 'चङि' इति 'श्रि' इत्यस्य द्वित्वे, अभ्यासादिकार्ये, 'लुङ्लङ्–०' इति अडागमेऽनुबन्धलोपे, 'अचिश्नुधातु–०' इत्यादिना–इयङि अनुबन्धलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे 'अशिश्रियत्' इति ।

जहार—हरणार्थक हृधातोर्लिटि, तस्य तिपि, 'परस्मैपदानाम्'–०

फल, भज, त्रप धातुओं के अकार को एत्व एवं अभ्यासलोप होता है । इत्यात्मनेपदिनः । श्रिञ्=सेवा अर्थ में । भृञ्=भरण पोषण अर्थ मे ।

१—शकार यक एवं यकारादि अर्धधातुक लिङ् पर में हो तो ऋकार को रिङ् आदेश होता है । २—आत्मनेपद में, झलादि लिङ् और सिच् , कित् संज्ञक होते हैं । ३-झल् पर मे हो तो ह्रस्वान्त अङ्ग से परे जो सिच् उसका लोप होता है । हृञ्=चोरी–डॉका अर्थ मे ।

जह्र । जहर्थ । जह्रिव । जह्रिम । जह्रिषे । हर्तासि, हर्तासे । हरिष्यति, हरिष्यते । हरतु, हरतात् । अहरत्, अहरत । हरेत्, हरेत । ह्रियात्, हृषीष्ट । हृषीयास्ताम् । अहार्षीत्, अहृत । अहरिष्यत्, अहरिष्यत ।

धृञ् धारणे । धरति, धरते । णीञ् प्रापणे । नयति । नयते । डुपचष् पाके । पचति, पचते । पपाच । पेचिथ, पपक्थ । पक्तासि, पक्तासे ।

भज सेवायाम् । भजति, भजते । बभाज, भेजे । भक्तासि, भक्तासे । भक्ष्यति, भक्ष्यते । अभाक्षीत्, अभक्त । अभक्षाताम् । [1]यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु । यजति, यजते ।

लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् ६ । १ । १७ ॥ [2]वच्यादीनां ग्रह्यादीनां चाऽभ्यासस्य सम्प्रसारणं स्याल्लिटि । इयाज ।

वचिस्वपियजादीनां किति ६ । १ । १५ ॥ [3]वचिस्वप्योर्यजादीनां च सम्प्रसारणं स्यात् किति । ईजतुः । ईजुः । इयजिथ, इयष्ठ । ईजे । यष्टा ।

इति णल्यनुबन्धलोपे, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे, पूर्वोऽभ्यासे 'उरत्' इति ऋवर्णस्याकारे रपरे च कृते, 'हलादिः शेषः' इति हल्लोपे, 'कुहोश्चुः' इत्यभ्यास-हकारस्य झकारे, 'अभ्यासे चर्च' इति चर्त्वे, 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ रपरे च कृते 'जहार' इति ।

इयाज—यज् धातोः परोक्षे लिटि, तस्य स्थाने तिपि, तिपो णलि, अनुबन्धलोपे, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे, अभ्यासत्वे हलादिशेषे च कृते, 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इत्यभ्यासयकारस्य सम्प्रसारणे, 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे, 'अत उपधायाः' इत्युपधावृद्धौ कृते 'इयाज' इति ।

ईजतुः—यज् धातोर्लिटि तस्य तसि, तसोऽतुसि च कृते, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे प्राप्ते 'सम्प्रसारणं तदाश्रयञ्च कार्यं बलवत्' इति न्यायेन पूर्वं 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे च कृते, द्वित्वाभ्यासादिकार्ये, सवर्णदीर्घे, सस्य रुत्वे विसर्गे च 'ईजतुः' इति ।

धृञ्=धारण करने अर्थ मे । णीञ्=ले जाने, ढोने अर्थ में । पच=पकाने, रसोई आदि बनाने अर्थ में । भज=सेवा करने में ।

१—यज=पूजा, सत्सङ्गति करना, दान देना । २—लिट् लकार पर में हो तो वच्यादि और ग्रह्यादि धातुओं के अभ्यास का सम्प्रसारण होता है । ३—कित् परे रहते वच्, स्वप् और यज् आदि धातुओंको सम्प्रसारण होता है ।

षढोः कः सि ८।२।४१॥ [1]षस्य ढस्य च कः स्यात्सकारे। यक्ष्यति, यक्ष्यते। इज्यात्, यक्षीष्ट। अयाक्षीत्, अयष्ट। **वह् प्रापणे**। वहति, वहते। उवाह। ऊहतुः। ऊहुः। उवहिथ।

झषस्तथोर्धोऽधः ८।२।४०॥ [2]झषः परयोस्तथोर्धः स्यान्न तु दधातेः।

ढो ढे लोपः ८।३।१३॥ [3][ढस्य लोपः स्याड्ढे परे]।

सहिवहोरोदवर्णस्य ६।३।११२॥ [4]अनयोरवर्णस्य ओत्स्याड्ढलोपे। उवोढ। ऊहे। वोढा। वक्ष्यति। अवाक्षीत्। अवोढाम्। अवाक्षुः। अवाक्षीः। अवोढम्। अवोढ। अवाक्षम्। अवाक्ष्व। अवाक्ष्म। अवोढ। अवक्षाताम्। अवक्षत। अवोढाः। अवक्षाथाम्। अवोढ्वम्। अवक्षि। अवक्ष्वहि। अवक्ष्महि।

॥ इति तिङन्ते भ्वादयः॥



उवोढ—वह् धातोर्लिटि लिटस्सिपि थलि, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये, 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे, 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति थस्य धत्वे, 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वेन धस्य ढकारे, 'ढो ढे लोपः' इति पूर्वढकारस्य लोपे, 'सहिवहोरोदवर्णस्य' इति वकारोत्तरवर्त्यकारस्य—ओकारे, 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इति पूर्ववकारस्य सम्प्रसारणे, 'सम्प्रसारणाच्चेति' पूर्वरूपे 'उवोढ' इति।

वोढा—वह् धातोर्लुटि तस्य तिप्यनुबन्धलोपे, 'स्यतासी लृलुटोः' इति तासि, 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' इति तिपो डादेशे, 'चुटू' इति डकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे, डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपे, 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे, 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तकारस्य धकारे, 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वेन धस्य ढत्वे, 'ढो ढे लोपः' ढलोपे, 'सहिवहोरोदवर्णस्य' वकारोत्तरवर्त्यकारस्य ओकारे 'वोढा' इति।

इति भ्वादिप्रकरणम्।



१—सकार पर में हो तो ष और ढ को क होता है। वह=ढोने ले जाने अर्थ में। २—झष् से परे तकार, थकार को धकार होता है, धा धातु को छोड़कर। ३—ढकार पर में हो तो ढकार का लोप होता है। ४—ढकार के लोप होने पर सह् और वह् धातु के अकार को ओकार होता है।

[भ्वादिप्रकरण समाप्त]



अथ तिङन्तेऽदादिप्रकरणम्

अद भक्षणे ।

अदिप्रभृतिभ्यः शपः २ । ४ । ७२ ॥ [1][एभ्यः परस्य शपो] लुक् स्यात् । अत्ति । अत्तः । अदन्ति । अत्सि । अत्थः । अत्थ । अद्मि । अद्वः । अद्मः ।

लिट्यन्यतरस्याम् २ । ४ । ४० [2]अदो घस्लृ वा स्याल्लिटि । जघास । उपधालोपः ।

शासिवसिघसीनां च ८ । ३ । ६० ॥ [3]इण्कुभ्यां परस्यैषां सस्य षः स्यात् । घस्य चर्त्त्वम् । जक्षतुः । जक्षुः । जघसिथ । जक्षथुः । जक्ष । जघास, जघस । जक्षिव । जक्षिम । आद । आदतु । आदुः ।

इडत्यर्त्तिव्ययतीनाम् ७ । २ । ६६ ॥ [4]अद्, ऋ, व्येञ् एभ्यस्थलो नित्य-मिट् स्यात् । आदिथ । अत्ता । अत्स्यति । अत्तु, अत्तात् । अत्ताम् । अदन्तु ।

हुझल्भ्यो हेर्धिः ६ । ४ । १०१ ॥ [5]होर्झलन्तेभ्यश्च हेर्धिःस्यात् । अद्धि-अत्तात् । अत्तम् । अत्त । अदानि । अदाव । अदाम ।

अदः सर्वेषाम् ७ । ३ । १०० ॥ [6]अदः परस्याऽपृक्तसार्वधातुकस्य अट् स्यात्सर्वमतेन । आदत् । आत्ताम् । आदन् । आदः । आत्तम् । आत्त । आदम् । आद्व । आद्म । अद्यात् । अद्याताम् । अद्युः । अद्यात् । अद्या-स्ताम् । अद्यासुः ।

उपधालोपः—'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' इति सूत्रेणेत्यर्थः । **जक्षतुः**—अद्धातोर्लिटि तस्य तिप्तसादिना तसि, तस्य च 'परस्मैपदानां–०' इति–अतुसि 'लिट्यन्यतरस्याम्' इति वैकल्पिके 'घस्लृ आदेशे, अनुबन्धलोपे, द्वित्वे, अभ्यासकार्ये, 'गमहनजन–' इति–उपधालोपे, 'जघ्स् अतुस्' इति स्थिते, घस्य चर्त्वेन ककारे, 'शासिवसिघसीनां च' इति धातुसकारस्य षकारे, क्ष्संयोगे 'क्षे', प्रत्ययसकारस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'जक्षतुः' इति । पक्षे 'आदतुः' । अस्मिन् प्रयोगे 'अद् अतुस्' इत्यवस्थायाम् द्वित्वेऽभ्यासकार्ये, 'अत आदेः' इति दीर्घे,

---

१—अदादि गण में पढ़े गये धातुओं से जो शप् उसका लुक् (लोप) होता है । २—लिट् लकार में अद् को घस्लृ आदेश विकल्प से होता है । ३—इण् (इ, उ) कवर्ग (क, ख, ग, घ, ङ) से परे शास्, वस् एवं घस् सम्बन्धी सकार को षकार होता है । ४—अद्, ऋ, व्येञ् धातुओं से परे थल् को नित्य इट् का आगम होता है । ५—हु धातु एवं झलन्त धातुओं से परे हि के स्थान में धि आदेश होता है । ६—सभी आचार्यों के मत से अद् धातु

लुङ्सनोर्घस्लृ २ । ४ । ३७ ॥ [1]अदो घस्लृ स्याल्लुङि सनि च । लृदित्त्वादङ् । अघसत् । आत्स्यत् । **हन** हिंसागत्योः । हन्ति ।

अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति ६ । ४ । ३७ ॥ [2]अनुनासिकान्तानामेषां वनतेश्च लोपः स्याज्झलादौ किति ङिति परे । यमि-रमि-नमि-गमि-हनि-मन्यतयोऽनुदात्तोपदेशाः । तनु क्षणु क्षिणु ऋणु तृणु घृणु वनु मनु तनोत्यादयः । हतः । घ्नन्ति । हंसि । हथः । हथ । हन्मि । हन्वः । हन्मः । जघान । जघ्नतुः । जघ्नुः ।

अभ्यासाच्च ७ । ३ । ५५ ॥ [3]अभ्यासात्परस्य हन्तेर्हस्य कुत्वं स्यात् । जघनिथ—जघन्थ । जघ्नथुः । जघ्न । जघान—जघन । जघ्निव । जघ्निम । हन्ता । हनिष्यति । हन्तु—हतात् । हताम् । घ्नन्तु ।

हन्तेर्जः ६ । ४ । ३६ ॥ [4]हन्तेर्जादेशः स्याद् धौ परे ।

असिद्धवदत्राभात् ६ । ४ । २२ ॥ [5]इत ऊर्ध्वमापादसमाप्तेराभीयम् । समानाश्रये तस्मिन्कर्तव्ये तदसिद्धं स्यात् । इति जस्यासिद्धत्वान्न हेर्लुक् । जहि—हतात् । हनम् । हत । हनानि । हनाव । हनाम । अहन् । अहताम् । अघ्नन् । अहन् । अहताम् । अहत । अहनम् । अहन्व । अहन्म । हन्यात् । हन्याताम् । हन्युः ।

आर्धधातुके २ । ४ । ३५ ॥ [6]इत्यधिकृत्य ।

शेषं समानं कार्यम् ।

जहि—हन् धातोर्लोटि, तस्य सिपि, 'सेर्ह्यपिच्च' इति सेर्हित्वे, 'हन्तेर्जः' इति हन्-इत्यस्य जादेशे, 'अतो हेः' इति हेर्लुकि प्राप्ते 'असिद्धवदत्राभात्' इति जस्यासिद्धत्वान्न हेर्लुक 'जहि' इति ।

से परे अपृक्त सार्वधातुक को अट् का आगम होता है ।

१—अद् को घस्लृ आदेश होता है लुङ् एवं सन् परे रहते । २—झलादि कित् या ङित् पर में हो तो अनुनासिकान्त मे जो अनुदात्तोपदेश एवं वन्, तन् आदि धातुओं के अनुनासिक का लोप होता है । ३—अभ्यास से परे हन् धातु के हकार को कुत्व होता है । ४—हि (प्रत्यय) परे रहते हन् धातु को 'ज' आदेश होता है ५—इस (६।४।२२) सूत्र से लेकर छठे अध्याय की समाप्ति तक के सभी सूत्र "आभीय" हैं । समान निमित्तक आभीय कार्य के करने में समान निमित्तक आभीय कार्य असिद्ध होता है । ६—'आर्धधातुके' यह अधिकार सूत्र है, अर्थात् [४।२।४२] से आगे इसका अधिकार चलता है ।

हनो वध लिङि २ । ४ । ४२ ॥

लुङि च २ । ४ । ४३ ॥ [1]हनो वधादेशः स्याल्लिङि लुङि च । वधादेशोऽदन्तः । आर्धधातुके इति विषयसप्तमी । तेन आर्धधातुकोपदेशेऽकारान्तत्वादतो लोपः । वध्यात् । वध्यास्ताम् । आदेशस्याऽनेकाच्त्वादेकाच इतीण्निषेधाऽभावादिट् । अतो हलादेरिति वृद्धौ प्राप्तायाम्—

अचः परस्मिन् पूर्वविधौ १ । १ । ५७ ॥ [2]परनिमित्तोऽजादेशः स्थानिवत्स्यात् स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्तव्ये । इत्यल्लोपस्य स्थानिवत्त्वेनोपधात्वाऽभावान्न वृद्धिः । अवधीत् । अहनिष्यत् ॥ यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः ।

हन्-हिंसागत्योः । लटि—हन्ति, हतः, घ्नन्ति । हंसि, हथः, हथ । हन्मि, हन्वः, हन्मः । **लिटि**—जघान, जघ्नतुः, जघ्नुः । जघनिथ-जघन्थ, जघ्नथुः, जघ्न । जघान, जघ्निव, जघ्निम । **लुटि**—हन्ता, हन्तारौ, हन्तारः । हन्तासि, हन्तास्थः, हन्तास्थ । हन्तास्मि, हन्तास्वः, हन्तास्मः । **लृटि**—हनिष्यति, हनिष्यतः, हनिष्यन्ति । हनिष्यसि, हनिष्यथः, हनिष्यथ । हनिष्यामि, हनिष्यावः, हनिष्यामः । **लोटि**—हन्तु-हतात्, हताम्, घ्नन्तु । जहि-हतात्, हतम्, हत । हनानि, हनाव, हनाम । **लङि**—अहन्, अहताम्, अघ्नन् । अहन्, अहतम्, अहत । अहनम्, अहन्व, अहन्म । **विधिलिङि**—हन्यात्, हन्याताम्, हन्युः । हन्याः हन्यातम्, हन्यात । हन्याम्, हन्याव, हन्याम । **आशीर्लिङि**—वध्यात्, वध्यास्ताम्, वध्यासुः । वध्याः, वध्यास्तम्, वध्यास्त । वध्यासम्, वध्यास्व, वध्यास्म । **लुङि**—अवधीत्, अवधिष्टाम्, अवधिषुः । अवधीः, अवधिष्टम्, अवधिष्ट । अवधिषम्, अवधिष्व, अवधिष्म । **लृङि**—अहनिष्यत्, अहनिष्यताम्, अहनिष्यन् । अहनिष्यः, अहनिष्यतम्, अहनिष्यत । अहनिष्यम्, अहनिष्याव, अहनिष्याम ।

१—लिङ् या लुङ् लकार परे रहते हन् धातु को वध आदेश होता है । 'वध' आदेश अदन्त है । 'आर्धधातुके' यह विषय-सप्तमी है (आर्धधातुक के विषय में अर्थ है) इसलिए आर्धधातुक के उपदेशावस्था मे जो अकार उसका (अतो लोपः) से लोप होता है । २—स्थानिभूत अच् से पूर्व दृष्ट से कोई विधिकार्य करना हो तो, पर को निमित्त मानकर अच् के स्थान में हुआ आदेश स्थानी के तुल्य होता है । [वधादेशोऽदन्तः इसका—यथार्थ निष्कर्ष यह है कि वधादेश हो जाने पर धातु अनेकाच् होता है अतः 'अवधीत्' में एकाचः-सूत्र से इट् का निषेध नहीं होता किन्तु इट् हो जाता है और इडादि सिच् मिलने के कारण 'अतो हलादेः-' सूत्र से वृद्धि प्राप्त होती है परन्तु 'अतो लोपः' से हुए अल्लोप का स्थानिवद्भाव होने से नहीं होती अर्थात् इडादि सिच् परे नहीं मिलता है] ।

उतो वृद्धिर्लुकि हलि ७ । ३ । ८९ ॥ [१]लुग्विषये उतो वृद्धिः स्यात् पिति हलादौ सार्वधातुके, नत्वभ्यस्तस्य । यौति । युतः । युवन्ति । यौषि । युथः । युथ । यौमि । युवः । युमः । युयाव । यविता । यविष्यति । यौतु-युतात् । अयौत् । अयुताम् । अयुवन् । युयात् । इह उतो वृद्धिर्न, भाष्ये पिच्च ङिन्न, ङिच्च पिन्नेति व्याख्यानात् । युयाताम् । युयुः । यूयात् । यूयास्ताम् । यूयासुः । अयावीत् । अयविष्यत् । **या** प्रापणे । याति । यातः । यान्ति । ययौ । याता । यास्यति । यातु । अयात् । अयाताम् ।

लङः शाकटायनस्यैव ३ । ४ । १११ ॥ [२]आदन्तात्परस्य लङो झेर्जुस् वा स्यात् । अयुः-अयान् । यायात् । यायाताम् । ययुः । यायात् । यायास्ताम् । यायासुः । अयासीत् । अयास्यत् । **वा** गतिगन्धनयोः । **भा** दीप्तौ । **ष्णा** शौचे । **श्रा** पाके । **द्रा** कुत्सायां गतौ । **प्सा** भक्षणे । **रा** दाने । **ला** आदाने । **दाप्** लवने । **पा** रक्षणे । **ख्या** प्रकथने । अयं सार्वधातुक एव प्रयोक्तव्यः । **विद** ज्ञाने ।

विदो लटो वा ३ । ४ । ८३ ॥ [३]वेत्तेर्लटः परस्मैपदानां णलादयो वा स्युः । वेद । विदतुः । विदुः । वेत्थ । विदथुः । विद । वेद । विद्व । विद्म । पक्षे-वेत्ति । वित्तः । विदन्ति ।

उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम् ३ । १ । ३८ ॥ [४]एभ्यो लिटि आम्वा स्यात् । विदेरदन्तत्वप्रतिज्ञानादामि न गुणः । विदाञ्चकार-विवेद । वेदिता । वेदिष्यति ।

विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम् ३ । १ । ४१ ॥ [५]वेत्तेर्लोटि आम्, गुणाऽभावो, लोटो लुक् लोडन्तकरोत्यनुप्रयोगश्च वा निपात्यते । पुरुषवचने न विवक्षिते ।

१—हलादि पित् सार्वधातुक पर मे हो तो लुक् क विषय-मे उकार को वृद्धि होती है, अभ्यस्त को छोड़कर (नहीं) । या=ढोना, पहुँचाना, जाना । २—आदन्त धातु से परे लङ् सम्बन्धी झि को जुस् होना है विकल्प से । वा=जाना, हिंसा करना आदि (उत्साहने च, 'हिंसायां सूचने चापि गन्धने' इत्यमरः) । भा=दीप्ति, प्रकाश । ष्णा=स्नान आदि से पवित्र होना । श्रा=पकाना । द्रा=निन्दित गमन आदि । प्सा=भोजन । रा=देना । ला=ग्रहण करना (लेना) । दाप्=फ़सल आदि का काटना । पा=रक्षा करना । विद=ज्ञान करना (जानना) । ३—विद् धातु से परे लट् सम्बन्धी परस्मैपदों को णल्-आदि आदेश विकल्प से होते हैं । ४—लिट् पर में हो तो उष्, विद्, जागृ धातुओं से 'आम्' विकल्प से होता है । ५—लोट् परे रहते विद् धातु से आम् होता है, और गुण का अभाव, लोट् का लुक् तथा विकल्प से लोट् परक कृधातु का अनुप्रयोग निपातन से करते हैं ।

तनादिकृञ्भ्य उः ३।१।७९॥ [1]तनादेः कृञश्च उप्रत्ययः स्यात्। शपोऽपवादः। गुणः। विदाङ्करोतु।

अत उत्सार्वधातुके ६।४।११०॥ [2]उप्रत्ययान्तस्य कृञोऽकारस्य उत्स्यात्सार्वधातुके क्ङिति। विदाङ्कुरुतात्। विदाङ्कुरुताम्। विदाङ्कुर्वन्तु। विदाङ्कुरु। विदाङ्करवाणि। अवेत्। अविताम्। अविदुः।

दश्च ८।२।७५॥ [3]धातोर्दस्य पदान्तस्य सिपि परे रुर्वा स्यात्। अवेः-अवेत्। विद्यात्। विद्याताम्। विद्युः। विद्यात्। विद्यास्ताम्। अवेदीत्। अवेदिष्यत्।

विदाङ्कुरुतात्—ज्ञानार्थक विद् धातोर्लोटि विदाङ्कुर्वन्त्वितित आम् प्रत्यये, गुणाभावे, लोटो लुकि, लोडन्तकृञाऽनुप्रयोगे 'विद् आम् कृ लोट्' इति स्थिते, लोटस्तिबादेशे, एरुरित्युत्वे, शपं प्रबाध्य 'तनादि कृञ्भ्य उः' इति-उप्रत्यये, तस्यार्धधातुकत्वे, गुणे, तुह्योस्तातङादिना तातङि, 'अत उत्सार्वधातुके' इति ककारोत्तराकारस्योत्वे मकारस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते तत्सिद्धिः।

विदाङ्कुर्वन्तु--विद् धातोर्लोटि, विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्' इति वैकल्पिकेन लोटयामि, गुणाभावे, लोटि लुकि, लोडन्तकरोत्यनुप्रयोगे च कृते 'विद् + आम् + कृ + लोट्' इति स्थिते, लोटो झि—आदेशे 'तनादि कृञ्भ्य उः' इति उकारे, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे, रपरे, 'झोऽन्तः' इति झस्यान्तादेशे, एरुरिति उत्वे, 'अत उत्सार्धधातुक' इति कृञोऽकारस्योकारे 'इको यणचि' इति यणि, मकारस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते तत्सिद्धिः।

विद् ज्ञाने—लटि—वेत्ति, वित्तः, विदन्ति। वेत्सि, वित्थः, वित्थ। वेद्मि, विद्वः, विद्मः। **पक्षे**--वेद, विदतुः, विदुः। वेत्थ, विदथुः, विद। वेद, विद्व, विद्म। **लिटि**—विदाञ्चकार, विदाञ्चक्रतुः, विदाञ्चक्रुः। विदाञ्चकर्थ, विदाञ्चक्रथुः, विदाञ्चक्र। विदाञ्चकार—विदाञ्चकर, विदाञ्चकृव, विदाञ्चकृम। **पक्षे**--विवेद, विविदतुः, विविदुः। विवेदिथ, विविदथुः, विविद। विवेद, विविदिव, विविदिम। **लुटि**-वेदिता, वेदितारौ, वेदितारः। वेदितासि, वेदितास्थः, वेदितास्थ। वेदितास्मि, वेदितास्वः, वेदितास्मः। **लृटि**—वेदिष्यति, वेदिष्यतः, वेदिष्यन्ति। वेदिष्यसि, वेदिष्यथः, वेदिष्यथ। वेदिष्यामि, वेदिष्यावः, वेदिष्यामः। **लोटि**--विदाङ्करोतु-

---

[1]—तनादि धातु और कृञ् धातु से परे 'उ' प्रत्यय होता है। [2]—कित्, ङित् सार्वधातुक पर हो तो उप्रत्ययान्त कृञ् धातु के अकार को उकार होता है। [3]—सिप् परे रहते पदान्त दकार को 'रु' विकल्प से होता है।

अस् भुवि अस्ति ।

श्नसोरल्लोपः ६ । ४ । १११ ॥ [1]श्नस्याऽस्तेश्चाऽतो लोपः स्यात्सार्वधातुके क्ङिति । स्तः । सन्ति । असि । स्थः । स्थ । अस्मि । स्वः । स्मः ।

उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः ८ । ३ । ८७ ॥ [2]उपसर्गेण प्रादुसश्चाऽस्तेः सस्य षः स्याद्यकारेऽचि च परे । निष्यात् । प्रनिषन्ति । प्रादुःषन्ति । यच्परः किम् ? अभिस्तः ।

अस्तेर्भूः २ । ४ । ५२ ॥ [3][अस्तेर्भू इत्यादेशः स्यात्] । आर्धधातुके । बभूव । भविता । भविष्यति । अस्तु-स्तात् । स्ताम् । सन्तु ।

घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च ६ । ४ । ११९ ॥ [4]घोरस्तेश्च एत्वं स्याद्धौ परे अभ्यासलोपश्च । एत्वस्याऽसिद्धत्वाद्धेर्धिः । श्नसोरित्यल्लोपः । तातङ्पक्षे एत्वं न, परेण तातङा बाधात् । एधि-स्तात् । स्तम् । स्त । असानि ।

विदाङ्कुरुतात्, विदाङ्कुरुताम्–विदाङ्कुर्वन्तु । विदाङ्कुरु-विदाङ्कुरुतात्, विदाङ्कुरुतम्, विदाङ्कुरुत । विदाङ्करवाणि, विदाङ्करवाव, विदाङ्करवाम । लङि—अवेत्, अवित्ताम्, अविदुः । अवेः, अवित्तम्, अवित्त । अवेदम्, अविद्व, अविद्म । विधिलिङि—विद्यात्, विद्याताम्, विद्युः । विद्याः, विद्यातम्, विद्यात । विद्याम्, विद्याव, विद्याम । आशीर्लिङि—विद्यात्, विद्यास्ताम्, विद्यासुः । विद्याः, विद्यास्तम्, विद्यास्त । विद्यासम्, विद्यास्व, विद्यास्म । लुङि—अवेदीत्, अवेदिष्टाम्, अवेदिषुः । अवेदीः, अवेदिष्टम्, अवेदिष्ट । अवेदिषम्, अवेदिष्व, अवेदिष्म । लृङि—अवेदिष्यत्, अवेदिष्यताम्, अवेदिष्यन् । अवेदिष्यः, अवेदिष्यतम्, अवेदिष्यत । अवेदिष्यम्, अवेदिष्याव, अवेदिष्याम ।

एधि—सत्तार्थकाद् अस् धातोर्लोटि लोटः सिपि, 'सेर्ह्यपिच्च' इति सेर्ह्यादेशे, शपि, तस्य लुकि, 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' धातोरेत्वे, श्नसोरल्लोप इत्यकारलोपे, असिद्धवदत्राभादिति नियमेन 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' इत्येतद्दृष्ट्या एत्वस्यासिद्धत्वात्-हेर्धित्वे तत्सिद्धिः । हेस्तातङादेशपक्षे घ्वसोरित्येत्वं न भवति, तातङादेशस्य पर-

---

१—सार्वधातुक कित्, ङित् परे रहते श्न एवं अस् के अकार का लोप होता है । २—यकार या अच् पर में हो तो उपसर्ग इण् से परे और प्रादुस् से परे अस् धातु के सकार को षकार होता है । ३—आर्धधातुक परे रहते 'अस्' धातु को 'भू' 'आदेश' होता है । ४—हि पर में हो तो घुसंज्ञक धातु एवं अस् धातु को एत्व होता है, और अभ्यास का लोप भी होता है ।

असाव । असाम । आसीत् । आस्ताम् । आसन् । स्यात् । स्याताम् । स्युः । भूयात् । अभूत् । अभविष्यत् ।

इण् गतौ । एति । इतः ।

इणो यण् ६ । ४ । ८१ ॥ [1][इणो यण् स्यात्] अजादौ प्रत्यये परे । यन्ति ।

अभ्यासस्याऽसवर्णे ६ । ४ । ७८ ॥ [2]अभ्यासस्य इवर्णोवर्णयोरियङुवङौ स्तोऽसवर्णेऽचि । इयाय ।

दीर्घ इणः किति ७ । ४ । ६९ ॥ [3]इणोऽभ्यासस्य दीर्घः स्यात्किति लिटि । ईयतुः । ईयुः । इययिथ-इयेथ । एता । एष्यति । एतु । ऐत् । ऐताम् । आयन् । ईयात् ।

एतेर्लिङि ७।४।२४॥ [4]उपसर्गात्परस्य इणोऽणो ह्रस्वः स्यादार्धधातुके किति लिङि । निरियात् । [5]**उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्** । अभीयात् । अणः किम् ? समेयात् ।

त्वेन बाधकत्वात्, 'श्नसोरल्लोपः', इत्यकारलोपे 'स्तात्' इति ।

आसीदित्यत्र—'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीट् बोध्यः ।

इयाय—इत्यत्र-इ शब्दस्य द्वित्वे, वार्णादाङ्गं बलीयः इति न्यायेन सवर्णदीर्घं बाधित्वा परस्य (द्वितीयस्य) इकारस्य वृद्धौ, पूर्वेकारस्य च—इयङादेशेन तत्सिद्धिः ।

ईयतुः—गत्यर्थक—इण्धातोर्लिटि, लिटस्तसि, तसोऽतुसि, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे, ततः 'इणो यण्' इति परस्येकारस्य यणि 'दीर्घ इणः किति' इति—अभ्यासेकारस्य दीर्घे, सस्य रुत्वे, विसर्गे च 'ईयतुः' इति सिद्धम् ।

इण्=गमन करना ।

१—अजादि प्रत्यय पर में हो तो इण् धातु को यण् होता है । २—असवर्ण (भिन्न) अच् पर में हो तो अभ्यास के इवर्ण—उवर्ण को इयङ्—उवङ् आदेश होते हैं । ३—कित् लिट् परे रहते इण् धातु के अभ्यास को दीर्घ होता है । ४—आर्धधातुक कित् लिङ् पर में हो तो उपसर्ग से परे जो इण् धातु सम्बन्धी अण् उसको ह्रस्व होता है । ५—दोनों के आश्रयण के कारण 'अन्तादिवच्च' नहीं प्रवृत्त होता ।

(निष्कर्ष यह है कि सूत्र में अण् के विधान में उपसर्ग तथा इण् धातु दोनों का आश्रय लिया गया है, अतः अन्तादिवच्च नहीं लगेगा) ।

इणो गा लुङि २ । ४ । ४५ ।। [1][इणो गादेशः स्याल्लुङि]। गातिस्थेति सिचो लुक् । अगात् । ऐष्यत् । **शीङ्** स्वप्ने ।

शीङः सार्वधातुके गुणः ७ । ४ । २१ ।। [2][शीङो गुणः स्यात्सार्वधातुके]। क्ङिति चेत्यस्यापवादः । शेते । शयाते ।

शीङो रुट् ७ । १ । ६ ।। [3]शीङः परस्य झादेशस्याऽतो रुडागमः स्यात् । शेरते । शेषे । शयाथे । शेध्वे । शये । शेवहे । शेमहे । शिश्ये । शिश्याते । शिश्यिरे । शयिता । शयिष्यते । शेताम् । शयाताम् । अशेत । अशयाताम् । अशेरत । शयीत । शयीयाताम् । शयीरन् । शयिषीष्ट । अशयिष्ट । अशयिष्यत ।

इङ् अध्ययने । इङिकावध्युपसर्गतो न व्यभिचरतः । अधीते । अधीयाते । अधीयते ।

गाङ् लिटि २ । ४ । ४९ ।। [4]इङो गाङ् स्याल्लिटि । अधिजगे । अधिजगाते । अधिजगिरे । अध्येता । अध्येष्यते । अधीताम् । अधीयाताम् ।

अगात्—इण् धातोर्लुङि, लुङस्तिपि, अनुबन्धलोपे, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, च्लेः सिजिति सिचि, अनुबन्धलोपे, 'इणो गा लुङि' इति इणो गा-आदेशे, 'लुङ्लङ्–' इत्यडागमे, तकारलोपे, गातिस्थेति सिचो लुकि 'अगात्' इति ।

शेरते—शयनार्थक शीङ् धातोर्लटि तस्य झ प्रत्यये, 'कर्तरि शप्' इति शपि, 'अदिप्रभृतिभ्यः-' इति शपो लुकि, 'आत्मनेपदेष्वनतः' इति झस्याति, 'शीङो रुट्' इति रुडागमेऽनुबन्धलोपे, 'टित आत्मनेपदाना टेरे' इत्येत्वे, सार्वधातुकार्धधातुकयोरिति गुणे 'शेरते' इति ।

अधिजगे—अध्ययनार्थक–अधिपूर्वक-इङ्धातोर्लिटि, लिटस्तप्रत्यये, 'गाङ्-लिटि' इतीङो गाङादेशेऽनुबन्धलोपे, लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति 'गा' इत्यस्य द्वित्वेऽभ्यासत्वे, 'ह्रस्वः' इत्यचो ह्रस्वे, 'कुहोश्चुः' इति गकारस्य जकारे, 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति तस्यैशादेशे, 'आतो लोप इटि च' इति 'गा' उत्तरवर्त्याकारस्य लोपे 'अधिजगे' इति ।

अधिजगिरे—अधि-उपपद-इङ् धातोर्लिटि, तस्य 'झ' प्रत्यये 'अधि इ झ'

१—लुङ् लकार में इण् धातु को 'गा' आदेश होता है । शीङ्=शयन करना । २—सार्वधातुक परे रहते शीङ् धातु को गुण होता है । ३—शीङ् धातु से परे झ के स्थान मे जो अत् आदेश उसको रुट् का आगम होता है । इङ्=पढ़ना । ४—लिट् लकार में इङ् धातु को गङ् आदेश होता है ।

अधीयताम् । अधीष्व । अधीयाथाम् । अधीध्वम् । अध्ययै । अध्ययावहै । अध्ययामहै । अध्यैत । अध्यैयाताम् । अध्यैयत । अध्यैथाः । अध्यैयाथाम् । अध्यैध्वम् । अध्यैयि । अध्यैवहि । अध्यैमहि । अधीयीत । अधीयीताम् । अधीयीरन् । अध्येषीष्ट ।

विभाषा लुङ्लृङोः २ । ४ । ५० ॥ [1]इङो गाङ् वा स्यात् ।

गाङ् कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् १ । २ । १ ॥ [2]गाङादेशात्कुटादिभ्यश्च परेऽञ्णितः प्रत्यया ङितः स्युः ।

घुमास्थागापाजहातिसां हलि ६ । ४ । ६६ ॥ [3]एषामात ईत्स्याद्धलादौ क्ङित्यार्धधातुके । अध्यगीष्ट—अध्यैष्ट । अध्यगीष्यत—अध्यैष्यत ।

इति जाते, 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति झस्येरेचि-अनुबन्धलोपे, 'गाङ् लिटि' इतीङो गाङादेशेऽनुबन्धलोपे, लिटि धातोरिति द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये, 'कुहोश्चुः' इति अभ्यासगकारस्य जकारे, 'आतो लोपः—' इत्याकारलोपे 'अधिजगिरे' इति ।

अध्ययै—अधिपूर्वक—इङ्धातोर्लोटि तत्स्थाने इटि 'अधि इ इट्' इति स्थिते, 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे, 'एत ऐ' इति 'ऐ' आदेशे, आडागमे, वृद्धौ, शपि, शपो लुकि, 'इङ्' धातोर्गुणायादेशयोरुपसर्गस्येकारस्य यणि 'अध्ययै' इति ।

अध्यगीष्ट—अध्युपपद—इङ्धातोर्लुङि, तत्स्थाने त प्रत्यये, अट्यनुबन्धलोपे, 'विभाषा लुङ्लृङोः' इति इङ्स्थाने वैकल्पिकेन गाङादेशेऽनुबन्धलोपे, च्लौ, च्लेः सिच्यनुबन्धलोपे, 'अधि अ गा स् त' इति जाते 'गाङ् कुटादिभ्यो—' इति सिचो ङित्वे, 'घुमास्था—' इत्यनेनाकारस्येकारे '**इको यणचि**' इति यणि, 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य षत्वे, ष्टुना ष्टुरिति ष्टुत्वे च कृते 'अध्यगीष्ट' इति ।

इङ्—अध्ययने लटि—अधीते, अधीयाते, अधीयते । अधीषे, अधीयाथे, अधीध्वे । अधीये, अधीवहे, अधीमहे । **लिटि**—अधिजगे, अधिजगाते, अधिजगिरे । अधिजगिषे, अधिजगाथे, अधिजगिध्वे । अधिजगे, अधिजगिवहे, अधिजगिमहे । **लुटि**—अध्येता, अध्येतारौ, अध्येतारः । अध्येतासे, अध्येतासाथे, अध्येताध्वे । अध्येताहे, अध्येतास्वहे, अध्येतास्महे । **लृटि**—अध्येष्यते, अध्येष्येते, अध्येष्यन्ते । अध्येष्यसे, अध्येष्येथे, अध्येष्यध्वे । अध्येष्ये, अध्येष्यावहे, अध्येष्यामहे । **लोटि**—

१—लुङ् वा लृङ् लकार पर में हो तो इङ् धातु को गाङ् आदेश होता है, विकल्प से ।

२—गाङ् आदेश और कुटादि धातुओं से परे ञित् णित् से भिन्न प्रत्यय ङिद्वत् होते हैं ।

३—हलादि कित् ङित् आर्धधातुक पर में हो तो घुसंज्ञक धातु, मा, स्था, गा, पा, हा और 10 सो (षोऽन्तकर्मणि) धातुओं के आकार को ईकार होता है ।

दुह प्रपूरणे। दोग्धि। दुग्धः। दुहन्ति। धोक्षि। दुग्धे। दुहाते। दुहते। धुक्षे। दुहाथे। धुग्ध्वे। दुहे। दुह्वहे। दुह्महे। दुदोह—दुदुहे। दोग्धास्मि—दोग्धासे। धोक्ष्यति—धोक्ष्यते। दोग्धु-दुग्धात्। दुग्धाम्। दुहन्तु। दुग्धि-दुग्धात्। दुग्धम्। दुग्ध। दोहानि। दोहाव। दोहाम। दुग्धाम्। दुहाताम्। दुहताम्। धुक्ष्व। दुहाथाम्। धुग्ध्वम्। दोहै। दोहावहै। दोहामहै। अधोक्। अदुग्धाम्। अदुहन्। अदोहम्। अदुग्ध। अदुहाताम्। अदुहत। अधुग्ध्वम्। दुह्यात्—दुहीत।

लिङ्सिचावात्मनेपदेषु १। २। ११॥ [1]इक्समीपाद्धलः परो झलादी लिङ् सिचौ कितौ स्तस्तङि। धुक्षीष्ट।

अधीताम्, अधीयानाम्, अधीयताम्। अधीष्व, अधीयाथाम्, अधीध्वम्। अध्ययै, अध्ययावहै, अध्ययामहै। **लङि**—अध्यैत, अध्यैयाताम्, अध्यैयत। अध्यैथाः, अध्यैयाथाम्, अध्यैध्वम्। अध्यैयि, अध्यैवहि, अध्यैमहि। **विधि लि०**—अधीयीत, अधीयीताम्, अधीयीरन्। अधीयीथाः, अधीयीथाम्, अधीयीध्वम्। अधीयीय, अधीयीवहि अधीयीमहि। **आशीर्लिङि**—अध्येषीष्ट, अध्येषीयास्ताम्, अध्येषीरन्। अध्येषीष्ठाः, अध्येषीयास्थाम्, अध्येषीढ्वम्। अध्येषीय, अध्येषीवहि, अध्येषीमहि। **लुङि**—अध्यगीष्ट, अध्यगीषाताम्, अध्यगीषत। अध्यगीष्ठाः, अध्यगीषाथाम्, अध्यगीढ्वम्। अध्यगीषि, अध्यगीष्वहि, अध्यगीष्महि। **पक्षे**—अध्यैष्ट, अध्यैषाताम्, अध्यैषत। अध्यैष्ठाः, अध्यैषाथाम्, अध्यैढ्वम्। अध्यैषि, अध्यैष्वहि, अध्यैष्महि। **लृङि**—अध्यगीष्यत, अध्यगीष्येताम्, अध्यगीष्यन्त। अध्यगीष्यथाः, अध्यगीष्येथाम्, अध्यगीष्यध्वम्। अध्यगीष्ये, अध्यगीष्यावहि, अध्यगीष्यामहि। **पक्षे**—अध्यैष्यत, अध्यैष्येताम्, अध्यैष्यन्त। अध्यैष्यथाः, अध्यैष्येथाम्, अध्यैष्यध्वम्। अध्यैष्ये, अध्यैष्यावहि, अध्यैष्यामहि।

धुक्षीष्ट—प्रपूरणार्थक दुह् धातोर्लिङि तत्स्थाने 'त' प्रत्यये, 'लिङः सीयुट्' इति सीयुटि, अनुबन्धलोपे, 'सुट् तिथोः' इति सुडागमेऽनुबन्धलोपे 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' इति भष्भावेन दकारस्य धकारे, 'धुह् सी- य् स् त' इति स्थिते 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे, 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे, 'खरि च'

दुह=दुहना।

१—(आतमनेपद) परे रहते इक् समीप हल् से परे झलादि लिङ् और सिच् कित्संज्ञक होते हैं।

शल इगुपधादनिटः क्सः ३ । १ । ४५ ॥ [1]इगुपधो यः शलन्तस्तस्माद-नटश्च्लेः क्सादेशः स्यात् । अधुक्षत् ।

लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मने पदे दन्त्ये ७ । ३ । ७३ ॥ [2]एषां क्सस्य लुग्वा स्याद्दन्त्ये तङि । अदुग्ध—अधुक्षत ।

क्सस्याचि ७ । ३ । ७२ ॥ [3]अजादौ तङि क्सस्य लोपः स्यात् । अधुक्षाताम् । अधुक्षन्त । अदुग्धाः—अधुक्षथाः । अधुक्षाथाम् । अधुग्ध्वम्–अधुक्षध्वम् । अधुक्षि । अदुह्वहि–अधुक्षावहि । अदुह्महि–अधोक्ष्यत् । अधोक्ष्यत । एवं–**दिह** उपचये ।

लिह आस्वादने । लेढि । लीढः । लिहन्ति । लेक्षि । लीढे । लिहाते । लिहते । लिक्षे । लिहाथे । लीढ्वे । लिलेह–लिलिहे । लेढासि–लेढासे । लेक्ष्यति–लेक्ष्यते । लेढु—लीढात् । लीढाम् । लिहन्तु । लीढि । लेहानि । लीढाम् । अलेट्—अलेड् । अलिक्षत् । अलीढ–अलिक्षत । अलेक्ष्यत् । अलेक्ष्यत ।

ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि ।

ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः ३ । ४ । ८४ ॥ [4]ब्रुवो लटस्तिबादीनां पञ्चानां णलादयः पञ्च वा स्युः ब्रुवश्चाऽऽहादेशः । आह । आहतुः । आहुः ।

आहस्थः ८ । २ । ३५ ॥ [5][आहस्थकारादेशः स्यात्–] झलि परे । चर्त्वम् । आत्थ । आहथुः ।

ब्रुव ईट् ७ । ३ । ९३ ॥ [6]ब्रुवः परस्य हलादेः पित ईट् स्यात् । ब्रवीति । ब्रूतः । ब्रुवन्ति । ब्रूते । ब्रुवाते । ब्रुवते ।

इति चर्त्वेन घस्य कत्वे, 'आदेशप्रत्यययोः' इति द्वयोः सकारयोः षत्वे, कषयोः संयोगे क्षकारे, 'ष्टुनाष्टुः' इति ष्टुत्वे 'धुक्षोष्ट' इति ।

१–इगुपध (इक् हो उपधा में जिसके ऐसा) जो शलन्त धातु, उससे परे अनिट् च्लि को 'क्स' आदेश होता है । २–दन्त स्थानीय तङ् (आत्मनेपद) पर हो तो दुह् , दिह् , लिह् , गुह् धातुओं के क्स का लोप होता है विकल्प से । ३—अजादि आत्मनेपद पर हो तो क्स का लोप होता है । दिह=वृद्धि । लिह=चूसना । ब्रूञ् =स्पष्ट बोलना । ४—ब्रूञ् धातु से परे लट् के स्थान में जो तिबादि पांच 'तिप्-तस्-झि-सिप्-थस्' हैं, उनको णल्–अतुस् आदि पाँच आदेश विकल्प से होते हैं और ब्रू के स्थान में आह् आदेश भी होता है । ५—झल् पर हो तो आह् के हकार को थकार होता है । ६—ब्रूञ् धातु से परे हलादि पित्को ईट् का आगम होता है ।

ब्रुवो वचिः २ । ४ । ५३ ॥ [1]आर्धधातुके । उवाच । ऊचतुः । ऊचुः । उवचिथ–उवक्थ । ऊचे । वक्ता । वक्तासि-वक्तासे । वक्ष्यति–वक्ष्यते । ब्रवीतु–ब्रूतात् । ब्रूताम् । ब्रुवन्तु । ब्रूहि । ब्रवाणि । ब्रूताम् । ब्रवै । अब्रवीत् । अब्रूत । ब्रूयात् । ब्रुवीत । उच्यात् । वक्षीष्ट ।

अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् ३ । १ । ५२ ॥ [2]एभ्यश्च्लेरङ् स्यात् ।

वच उम् ७ । ४ । २० ॥ [3][वच उमागमः स्यात्–] अङि परे । अवोचत्–अवोचत । अवक्ष्यत्–अवक्ष्यत । [ग० सू०] [4]**चर्करीतञ्च** । चर्करीतमिति यङ्लुगन्तस्य सञ्ज्ञा, तददादौ बोध्यम् । **ऊर्णुञ्** अच्छादने ।

ऊर्णोतेर्विभाषा ७ । ३ । ९० ॥ [5][ऊर्णोतेः–] वा वृद्धिः स्याद्धलादौ पिति सार्वधातुके । ऊर्णौति-उर्णोति । ऊर्णुतः । ऊर्णुवन्ति । ऊर्णुते । ऊर्णुवाते । उर्णुवते । [6]**ऊर्णोतेराम्नेति वाच्यम्** ।

न न्द्राः संयोगादयः ६ । १ । ३ ॥ [7]अचः पराः संयोगादयो नदरा द्विर्न भवन्ति । नुशब्दस्य द्वित्वम् । ऊर्णुनाव । ऊर्णुनुवतुः । ऊर्णुनुवुः ।

विभाषोर्णोः १ । २ । ३ ॥ [8]इडादिप्रत्ययो वा ङित्स्यात् । ऊर्णुनुविथ । ऊर्णुनविथ । ऊर्णुविता–ऊर्णविता । ऊर्णुविष्यति–ऊर्णविष्यति । ऊर्णौतु–ऊर्णोतु । ऊर्णवानि । ऊर्णवै ।

नुशब्दस्य द्वित्वमिति—नु शब्द एवात्र, णत्वेन 'णु' इति श्रूयते । तथाहि–नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु । सकारजश्शकारश्चेद्रषाट्टवर्गस्तवर्गजः ॥ **अस्यायमर्थः**–धात्ववयवझलि परे कुत्रचिदनुस्वारः कुत्रचित्पञ्चमवर्णो ङ् ञ् आदि दृश्यते तौ द्वावपि नकारजौ । अनुस्वारो यथा स्रंसु, भ्रंसु, ध्वंसु इत्यादिषु । पञ्चमो वर्णः–श्रङ्क–अञ्च–लुण्ठ–मन्थ–तृम्फेषु । चकारे परे यः शकारः 'ओव्रश्चू' इत्यादौ दृश्यते स श्चुत्वनिष्पन्नः सकारजः । रेफषकाराभ्यां परष्टवर्गस्तवर्गजः । यथा 'ऊर्णु' इत्यत्र रेफात्परः, 'ष्टु' 'ष्ठा' इत्यादौ षात्परः तवर्गजष्टवर्गः ।

१—आर्धधातुक के विषय में ब्रूञ् धातु को वच् आदेश होता है। २—अस्, वच् और ख्या धातुओं से परे च्लि को अङ् आदेश होता है। ३—अङ् प्रत्यय पर में हो तो वच् को उम् का आगम होता है। ४—चर्करीत यह यङ्लुगन्त की संज्ञा है। उसको अदादि में जानना चाहिये। ऊर्णुञ्=आच्छादन, ढँकना। ५—हलादि पित् सार्वधातु पर हो तो ऊर्णुञ् धातु को वृद्धि विकल्प से होती है। ६—ऊर्णुञ् धातु में आम् प्रत्यय नहीं होता है। ७—अच् से परे जो संयोगादि न, द, र, उनको द्वित्व नहीं होता है। ८—ऊर्णुञ् धातु से परे इडादि प्रत्यय विकल्प से ङित् होते हैं।

गुणोऽपृक्ते ७ । ३ । ९१ ॥ [1]ऊर्णोतेर्गुणः स्यादपृक्ते हलादौ पिति सार्वधातुके । वृद्ध्यपवादः । और्णोत् । और्णोः । ऊर्णुयात् । ऊर्णुयाः । ऊर्णुवीत । ऊर्णूयात् । ऊर्णुविषीष्ट ।

ऊर्णोतेर्विभाषा ७ । २ । ६ ॥ [2]इडादौ सिचि परस्मैपदे परे वा वृद्धिः स्यात् । पक्षे गुणः । और्णावीत्—और्णुवीत्—और्णवीत् । और्णाविष्टाम्—और्णुविष्टाम्—और्णविष्टाम् । और्णाविष्ट—और्णुविष्ट—और्णविष्ट । और्णुविष्यत् । और्णविष्यत् । और्णुविष्यत–और्णविष्यत ।

॥ इत्यदादिप्रकरणम् ॥



अथ जुहोत्यादिप्रकरणम्

हु दानाऽदनयोः ।

ऊर्णुविषीष्ट—अकारेत्संज्ञक ऊर्णु धातोराशिष्यर्थे लिङि, तत्स्थाने 'त' प्रत्यये, 'लिङः सीयुट्' इति सीयुडागमेऽनुबन्धलोपे, 'सुट् तिथोः' इति सुटि अनुबन्धलोपे, 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे, 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इतीटि, 'विभाषोर्णोः' इति विकल्पेन ङित्वे, ङित्पक्षे ङित्वेन गुणाभावे, अचि श्नुधातु इत्युवङि, सकारयोः षत्वे ष्टुत्वे च 'ऊर्णुविषीष्ट' इति । ङित्वाभावे 'सार्वधातुकार्ध–' इति गुणेऽवादेशे सकारयोः षत्वे च कृते 'ऊर्णविषीष्ट' इति ।

और्णावीत्–और्णवीत्—अकारेत्संज्ञकाच्छादनार्थक 'ऊर्णु' धातोर्लुङि, तिपि, च्लि लुङि इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिच्, अनुबन्धलोपे, आडजादीनामित्याटि, आटश्चेति वृद्धौ कृतायाम् 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इति इटि, तथा 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति-ईटि, अनुबन्धलोपे, इतश्चेतीकारलोपे 'ऊर्णु इ स् ई त्' इति दशायाम् 'इट ईटि' इति सलोपे, ऊर्णोतेर्विभाषा' इति वैकल्पिके वृद्धिपक्षे यथाप्राप्तावादिकार्ये 'और्णावीत्' इति । 'विभाषोर्णोः' इति विकल्पेन ङित्वपक्षे उवङादेशे 'और्णुवीत्' इति । ङित्वाभावपक्षे गुणेऽवादेशे च कृते 'और्णवीत्' इति ।

इति अदादिप्रकरणम् ।



१—अपृक्त हलादि पित् सार्वधातुक पर हो तो ऊर्णुञ् धातु को गुण होता है । २—इडादि सिच् परस्मैपद पर हो तो ऊर्णुञ् धातु को वृद्धि विकल्प से होती है ।

इत्यदादिप्रकरणम् ।



हु=हवन तथा भोजन अर्थ में।

जुहोत्यादिभ्यः श्लुः २ । ४ । ७५ ॥ [1][एभ्यः परस्य–] शपः श्लुः स्यात् ।

श्लौ ६ । १ । १० ॥ [2]धातोर्द्वेस्तः । जुहोति । जुहुतः ।

अदभ्यस्तात् ७ । १ । ४ ॥ [3][अभ्यस्तात्परस्य–] झस्यात्स्यात् । हुश्नुवोरिति यण् । जुह्वति ।

भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च ३ । १ । ३९ ॥ [4]एभ्यो लिट्याम्वा स्यादामि श्लाविव कार्यञ्च । जुहवाञ्चकार–जुहाव । होता । होष्यति । जुहोतु–जुहुतात् । जुहुताम् । जुह्वतु । जुहुधि । जुहवानि । अजुहोत् । अजुहुताम् ।

जुसि च ७ । ३ । ८३ ॥ [5]इगन्ताङ्गस्य गुणः स्यादजादौ जुसि । अजुहवुः । जुहुयात् । हूयात् । अहौषीत् । अहोष्यत् । **ञिभी भये** । बिभेति ।

जुहुधि—हु धातर्लोटि, तस्य सिपि, अनुबन्धलोपे, कर्तरि शबिति शपि, जुहोत्यादिभ्यः श्लुरिति शपः श्लौ, 'श्लौ' इति धातोर्द्वित्वे, कुहोश्चुरिति हस्य झकारे, 'अभ्यासे चर्च' इति जकारे, सेर्ह्यपिच्चेति सेर्ह्यादेशे, हुझल्भ्यो हेर्धिरिति हेर्धित्वे कृते 'जुहुधि' इति ।

अजुहवुः—हुधातोर्लङि तत्स्थाने 'झि' प्रत्यये, कर्तरि शबिति शपि, जुहोत्यादिभ्यः श्लुरिति श्लौ, 'श्लौ' इति धातोर्द्वित्वे' कुहोश्चुरिति हस्य झकारे, 'अभ्यासे चर्च' इति चर्त्वेन जकारे, सिजभ्यस्तविदिभ्यश्चेति झेर्जुसि, जुसि चेति गुणे, एचोऽयवायावः इत्यवादेशे, सस्य रुत्वे विसर्गे च 'अजुहवुः' इति ।

हुदानादनयोः । लटि—जुहोति जुहुतः, जुह्वति । जुहोषि, जुहुथः, जुहुथ । जुहोमि, जुहुवः, जुहुमः । **लिटि**–जुहवाञ्चकार, जुहवाञ्चक्रतुः, जुहवाञ्चक्रुः । जुहवाञ्चकर्थ, जुहवाञ्चक्रथुः, जुहवाञ्चक्र । जुहवाञ्चकार–जुहवाञ्चकर, जुहवाञ्चकृव, जुहवाञ्चकृम । **पक्षे**–जुहाव, जुहुवतुः, जुहुवुः । जुहविथ—जुहोथ, जुहुवथुः, जुहुव । जुहाव–जुहव, जुहुविव, जुहुविम । **लुटि**–होता, होतारौ, होतारः । होतासि होतास्थः, होतास्थ । होतास्मि, होतास्वः, होतास्मः । **लृटि**–होष्यति, होष्यतः, होष्यन्ति । होष्यसि, होष्यथः, होष्यथ । होष्यामि, होष्यावः, होष्यामः । **लोटि**–जुहोतु-जुहुतात्, जुहुताम्, जुह्वतु । जुहुधि–जुहुतात्, जुहुतम्, जुहुत । जुहवानि,

१—जुहोत्यादि गण में पढ़े गये धातुओं से परे शप् का श्लु (लोप) होता है । २—श्लु के विषय में धातु को द्वित्व होता है । ३—अभ्यस्त संज्ञावाले धातु से परे झ के स्थान में अत् होता है । ४—लिट् लकार में भी, ह्री, भृ, हु–इन धातुओं से आम् होता है विकल्प से और आम् परे रहते धातु को श्लु की तरह कार्य होता है । ५—अजादि जुस् पर हो तो इगन्त अङ्ग को गुण होता है । ञिभी=भयभीत होना ।

भियोऽन्यतरस्याम् ६ । ४ । ११५ ॥ [1]इकारो वा स्याद्धलादौ क्ङिति सार्वधातुके । बिभिनः-बिभीनः बिभ्यति । बिभयाञ्चकार—बिभाय । भेता । भेष्यति । बिभेतु । बिभितात्-बिभीतात् । अबिभेत् । बिभीयात्-बिभियात् । भीयात् । अभैषीत् । अभेष्यत् ।

ह्री लज्जायाम् । जिह्रेति । जिह्रीतः । जिह्रियति । जिह्रयाञ्चकार-जिह्राय । ह्रेता । ह्रेष्यति । जिह्रेतु । अजिह्रेत् । जिह्रीयात् । ह्रीयात् । अह्रैषीत् । अह्रेष्यत् ।

पॄ पालनपूरणयोः ।

अर्तिपिपर्त्योश्च ७ । ४ । ७७ ॥ [2]अभ्यासस्य इकारोऽन्तादेशः स्यात् श्लौ । पिपर्ति ।

उदोष्ठ्यपूर्वस्य ७ । १ । १०२ ॥ [3]अङ्गावयवौष्ठ्यपूर्वो य ॠत् तदन्तस्याङ्गस्य उत् स्यात्

हलि च ८ । २ । ७७ ॥ [4]रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः स्या

जुहवाव, जुहवाम ; लङि—अजुहोत्, अजुहुताम्, अजुहवुः । अजुहोः, अजुहुतम्, अजुहुत । अजुहवम्, अजुहुव, अजुहुम । वि० लि०—जुहुयात्, जुहुयाताम्, जुहुयुः । जुहुयाः, जुहुयातम्, जुहुयात । जुहुयाम्, जुहुयाव, जुहुयाम । आ० लि०—हूयात्, हूयास्ताम्, हूयासुः । हूयाः, हूयास्तम्, हूयास्त । हूयासम्, हूयास्व, हूयास्म । लुङि—अहौषीत्, अहौष्टाम्, अहौषुः । अहौषीः, अहौष्टम्, अहौष्ट । अहौषम्, अहौष्व, अहौष्म । लृङि—अहोष्यत्, अहोष्यताम्, अहोष्यन् । अहोष्यः, अहोष्यतम्, अहोष्यत । अहोष्यम्, अहोष्याव, अहोष्याम ।

बिभीतात्—आदिर्ञिटुडव इति 'ञि' इत्संज्ञक भयार्थक भी धातोर्लोटि तत्स्थाने तिपि शपि 'जुहोत्यादिभ्यः' श्लौ, इति 'श्लौ' इति धातोर्द्वित्वे अभ्यासादिकार्ये, भस्य च बकारे, 'भियोऽन्यतरस्याम्' इति वैकल्पिकह्रस्वोकारे 'एरुः' इति—इकारस्योकारे, 'तुह्योस्तातङ्—' इति 'तु' इत्यस्य 'तातङ्' आदेशे, अनुबन्धलोपे 'बिभितात्' इति । इत्वाभावे 'बिभीतात्' इति ।

१—हलादि कित्–ङित् सार्वधातुक परे रहते 'भी' धातु को इकार अन्तादेश विकल्प से होता है । ह्री=लज्जा । पॄ=रक्षा तथा पूर्ति । २—श्लु के विषय मे 'ऋ' और 'पॄ' धातु के अभ्यास को इकार अन्तादेश होता है । ३—अङ्ग का अवयव ओष्ठस्थानिक वर्ण पूर्वमे हो ऐसे ॠकारान्त अङ्ग को उकार अन्तादेश होता है । ४—हल् पर हो तो रेफान्त और वान्त धातु की उपधा के इक् को दीर्घ होता है ।

द्धलि पिपूर्तः। पिपुरति। पपार।

शृदॄप्रां ह्रस्वो वा ७।४।१२॥ [१]एषां लिटि ह्रस्वो वा स्यात्। पप्रतुः।

ऋच्छत्यॄताम् ७।४।११॥ [२]तौदादिकऋच्छेर्ऋधातोर्ॠतां च गुणः स्याल्लिटि। पपरतुः। पपरुः।

वॄतो वा ७।२।३८॥ [३]वृङ्वृञ्भ्यामॄदन्ताच्चेतो दीर्घो वा स्यान्न तु लिटि। परीता-परिता। परीष्यति—परिष्यति। पिपर्तु। अपिपः। अपिपूर्ताम्। अपिपरुः। पिपूर्यात्। पूर्यात्। अपारीत्।

सिचि च परस्मैपदेषु ७।२।४०॥ [४]अत्रेटो न दीर्घः। अपारिष्टाम्। अपरीष्यत्–अपरिष्यत्। **ओहाक्**। त्यागे। जहाति।

जहातेश्च ६।४।११६॥ [५]इत्स्यात्वाद्वा क्ङिति सार्वधातुके। जहितः।

ई हल्यघोः ६।४।११३॥ [६]श्नाभ्यस्तयोरात ईत् स्यात् सार्वधातुके क्ङिति हलि न तु घोः। जहीतः।

पिपूर्तः—पॄधातोर्लटि, तस्य स्थाने तसि, शपि, जुहोत्यादिभ्यः श्लुरिति श्लौ, श्लाविति धातोर्द्वित्वे, 'पूर्वाभ्यासत्वे, 'उरत्' इति ऋवर्णस्यात्वे रपरे, हलादिः शेष इति हलो लोपे, अर्तिपिपर्त्योश्चेति अभ्यासस्येकारान्तादेशे 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' इत्युकारे रपरे च कृते, हलि चेति सूत्रेण दीर्घे, सस्य रुत्वे विसर्गे च 'पिपूर्तः' इति।

पॄ पालनपूरणयोः—(**लटि**) पिपर्ति, पिपूर्तः, पिपुरति। पिपर्षि, पिपूर्थः पिपूर्थ। पिपर्मि, पिपूर्वः, पिपूर्मः (लिटि परे वैकल्पिकह्रस्वविधानाद् ह्रस्वे यण् क्रियते। पक्षे च ऋच्छत्यॄतामिति गुणो विधीयते तेन पप्रतुः–पपरतुः इत्यादि सिद्ध्यति)। **लिटि**—पपार, पप्रतुः-पपरतुः, पप्रुः-पपरुः। पपरिथ, पप्रथुः-पपरथुः, पप्र-पपर। पपार-पपर, पप्रिव-पपरिव, पप्रिम-पपरिम। लुटि लृटि च वॄतो वेति वैकल्पिको दीर्घो भवति तेन परिता परीता, परिष्यति––परीष्यति ..ति। एवंरूपेण सर्वपुरुषेषु दीर्घः।

१—लिट् लकार मे 'शॄ, दॄ, पॄ' धातुओं को ह्रस्व होता है, विकल्प से। २–लिट् लकार में तौदादिक 'ऋच्छ्' और ॠकारान्त धातुओं को गुण होता है। ३—लिट् से भिन्न लकार में वृङ्, वृञ् तथा ॠदन्त धातु से परे इट् को दीर्घ होता है विकल्प से। ४—परस्मैपद सम्बन्धी सिच् पर हो तो इट् को दीर्घ नहीं होता है। ओहाक् छोड़ना। ५—हलादि कित् ङित्-सार्वधातुक पर हो तो हा धातु को इकार अन्तादेश होता है विकल्प से। ६––हलादि कित् ङित् सार्वधातुक पर हो तो श्ना–प्रत्यय और अभ्यस्त संज्ञक धातु के आकार के स्थान में ईकार होता है, घुसंज्ञक धातु को छोड़कर।

श्नाभ्यस्तयोरातः ६ । ४ । ११२ ॥ [1]अनयोरातो लोपः स्यात् क्ङिति सार्वधातुके । जहति । जहौ । हाता । हास्यति । जहातु-जहितात्-जहीतात् ।

आ च हौ ६ । ४ । ११७ ॥ [2]जहातेर्हौ परे आ स्याच्चादिदीतौ । जहाहि-जहिहि-जहीहि । अजहात् । अजहुः ।

लोपो यि ६ । ४ । ११८ ॥ [3]जहातेरालोपः स्याद्यादौ सार्वधातुके । जह्यात् । एर्लिङि । हेयात् । अहासीत् । अहास्यत् । **माङ्** माने शब्दे च ।

भृञामित् ७ । ४ । ७६ ॥ [4]भृञ् माङ् ओहाङ् एषा त्रयाणामभ्यासस्य इत्स्यात् श्लौ । मिमीते । मिमाते । मिमते । ममे । माता । मास्यते । मिमीताम् । अमिमीत । मिमीत । मासीष्ट । अमास्त । अमास्यत । **ओहाङ्** गतौ । जिहीते । जिहाते । जिहते । जहे । हाता । हास्यते । जिहीताम् । अजिहीत । जिहीत । हासीष्ट । अहास्त । अहास्यत । **डुभृञ्** धारणपोषणयोः । बिभर्ति । बिभृतः । बिभ्रति । बिभृते । बिभ्राते । बिभ्रते । बिभराञ्चकार-बभार । बभर्थ । बभृव । बिभंराञ्चक्रे । बभ्रे । भर्तासि-भर्तासे । भरिष्यति-

---

जहाहि—ओकार—ककारेत्सञ्ज्ञक हा धातोर्लोटि, तस्य सिपि कर्तरि शबिति शपि, सेर्ह्यपिच्चेति सेर्हित्वे, जुहोत्यादिभ्यः श्लुरिति शपः श्लौ, श्लाविति धातोः ('हा' इत्यस्य) द्वित्वे, अभ्यासत्वे, ह्रस्वः इति ह्रस्वे, कुहोश्चुरिति हस्य झत्वे, 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जकारे, 'आ च हौ' इति सूत्रेणाऽऽकारे सति 'जहाहि' इति । चकारादिदीतौ भवत इति 'जहिहि-जहीहि' इति रूपद्वयं भवति । अतएव 'जहाहि-जहिहि-जहीहि राममार्याम्' इति काव्यप्रयोगः ।

बिभर्ति—डुकारञकारेत्संज्ञक भृधातोर्लटि, तस्य स्थाने तिपि, कर्तरि शपि, जुहोत्यादिभ्यः श्लुरिति शपः श्लौ, 'श्लौ' इति धातोर्द्वित्वे, अभ्यासत्वे, 'भृञामित्' इत्यभ्यास—ऋकारस्येकारे, 'भि भृ ति' इति स्थिते 'अभ्यासे चर्च' इति—अभ्यास-भकारस्य बकारे, सार्वधातुकार्धधातुकयोरिति गुणे रपरे च कृते 'बिभर्ति' इति ।

१—कित् या ङित् सार्वधातुक पर हो तो 'श्ना'निष्ठ एवं अभ्यस्त संज्ञक धातु के आकार का लोप होता है । २—हि पर हो तो हा धातु को आकार और (चकारात्) इकार एवं ईकार अन्त आदेश होते हैं । ३—यकारादि सार्वधातुक पर हो तो हा धातु के आकार का लोप होता है । माङ्—किसी वस्तु का माप करना; शब्द करना । ४—श्लु के विषय में भृञ्, माङ्, ओहाङ्—इन तीनों धातुओं के अभ्यास को इकार अन्तादेश होता है । ओहाङ्=जाना । डुभञ्=धारण तथा पोषण करना ।

भरिष्यते। बिभर्तु। बिभराणि। बिभृताम्। अबिभः। अबिभृताम्। अबिभरुः। अबिभृत। बिभृयात्। बिभ्रीत। भ्रियात्। भृषीष्ट। अभार्षीत्। अभृत। अभरिष्यत्। अभरिष्यत। **डुदाञ्** दाने। ददाति। दत्तः। ददति। दत्ते। ददाते। ददते। ददौ। ददे। दातासि। दातासे। दास्यति। दास्यते। ददातु।

दाधा घ्वदाप् १। १। २०॥ [1]दारूपा धारूपाश्च धातवो घुसंज्ञकाः स्युर्दाप्दैपौ विना। घ्वसोरित्येत्त्वम्। देहि। दत्तम्। अददात्। अदत्त। दद्यात्। ददीत। देयात्। दासीष्ट। अदात्। अदाताम्। अदुः।

स्थाघ्वोरिच्च १। २। १७॥ [2]अनयोरिदन्तादेशः स्यात् सिच्च किन्स्यादात्मनेपदे। अदित। अदास्यत्। अदास्यत। **डुधाञ्** धारणपोषणयोः। दधाति।

दधस्तथोश्च ८। २। ३८॥ [3]द्विरुक्तस्य झषन्तस्य धातोर्बशो भष् स्यात्तथोः स्ध्वोश्च परतः। धत्तः। दधति। दधासि। धत्थः। धत्थ। धत्ते। दधाते। दधते। धत्से। धद्ध्वे। **घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च**। धेहि। अद-

---

अबिभः—भृधातोर्लङि, तस्य सिपि, अनुबन्धलोपे, शपि, तस्य श्लौ, तथा श्लाविति द्वित्वे, लुङ्लङ्–इत्यडागमेऽनुबन्धलोपे, द्वित्वाभ्यासादिकार्ये, 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य बत्वे, 'भृञामित्' इत्यभ्यासऋकारस्येकारे, गुणे रपरे, 'इतश्च' इति तिप्निष्ठेकारस्य लोपे, हल्ङ्यादिना सोर्लोपे, रेफस्य विसर्गे च कृते 'अबिभः' इति। अबिभरुरित्यत्र सर्वं पूर्व-प्रयोगवत्केवलं 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' इति झेर्जुसि, जकारस्य लोपे, सस्य रुत्वविसर्गौ चेति विशेषः।

देहि—दानार्थक दा धातोर्लोटि तत्स्थाने सिपि, कर्तरि शबिति शपि, जुहोत्यादिभ्यः श्लुरिति शपः श्लौ, 'दाधाघ्वदाप्' इति धातोर्घुसंज्ञायां 'श्लौ' इति धातोर्द्वित्वे, अभ्यासादिकार्ये, सेर्ह्यपिच्चेति सेर्ह्यादेशे, 'द दा हि' इति स्थिते, घुसंज्ञात्वेन धातोराकारस्य 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इति एत्वेऽभ्यासलोपे च कृते 'देहि' इति।

डुदाञ्=देना।

१—दाप् और दैप् धातु को छोड़कर दा–रूप एवं धा–रूप धातुओं की घु–संज्ञा होती है। २—आत्मपदेन में स्था–धातु और घु–संज्ञक धातु को इकार अन्तादेश होता है एवं सिच् भी कित् संज्ञक हो जाता है। डुधाञ्=धारण तथा पोषण रक्षण करना। ३—त या थ एवं स या ध्व पर हों तो द्विरुक्त (द्वित्व किये गये) झषन्त धातु के बश् को भष् होता है। णिजिर्=पवित्र करना, पोषण–रक्षण करना।

धात् । अधत्त । दध्यात् । दधीत । धेयात् । धासीष्ट । अधात् । अधित । अधास्यत् । अधास्यत । **णिजिर्** शौचपोषणयोः । ॐ[1]**इर इत्संज्ञा वाच्या ।**

णिजां त्रयाणां गुणः श्लौ ७ । ४ । ७५ ॥ [2]णिज्विज्विषामभ्यासस्य गुणः स्यात् श्लौ । नेनेक्ति । नेनिक्तः । नेनिजति । नेनिक्ते । निनेज । निनिजे । नेक्ता । नेक्ष्यति । नेक्ष्यते । नेनेक्तु । नेनिग्ध ।

नाऽभ्यस्तस्याऽचि पिति सार्वधातुके ७ । ३ । ८७ ॥ [3][अभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके] उद्दूपधगुणो न स्यात् । नेनिजानि । नेनिक्ताम् । अनेनेक् । अनेनिक्ताम् । अनेनिजुः । अनेनिजम् । अनेनिक्त । नेनिज्यात् । नेनिजीत । निज्यात् । निक्षीष्ट ।

इरितो वा ३ । १ । ५७ । [4]इरितो धातोश्च्लेरङ् वा स्यात्परस्मैपदेषु । अनिजत् । अनैक्षीत् । अनिक्त । अनेक्ष्यत् । अनेक्ष्यत ।

॥ इति जुहोत्यादयः ॥

अथ दिवादिप्रकरणम्

[5]**दिवु** क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु ।

दिवादिभ्यः श्यन् ३ । १ । ६९ ॥ [6][एभ्यः श्यन् स्यात्कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे] । शपोऽपवादः । हलि चेति दीर्घः । दीव्यति । दिदेव । देविता । देविष्यति । दीव्यतु । अदीव्यत् । दीव्येत् । दीव्यात् । अदेवीत् । अदेविष्यत् । एवं **षिवु** तन्तुसन्ताने । **नृती** गात्रविक्षेपे । नृत्यति । ननर्त । नर्तिता ।

१—इर् की 'इत्संज्ञा' कहनी चाहिये । २—श्लु के विषय में णिज् विज् एवं विष् धातुओं के अभ्यास को गुण होता है । ३—अजादि पित्सार्वधातुक पर हो तो, अभ्यस्तसंज्ञक धातु को लघूपध गुण नहीं होता है । ४—परस्मैपद मे इरित् (इर् इत्संज्ञक) धातु से परे च्लि को अङ् विकल्प से होता है ।

॥ इति जुहोत्यादिप्रकरणम् ॥

५—दिवु=खेलना, जय की इच्छा, व्यवहार करना, चमकना, स्तुति करना, प्रसन्न होना मदमत्त होना, शयन करना, इच्छा करना, गमन करना (गति शब्द से ज्ञान, गमन प्राप्ति अर्थ सभी जगह जानना, प्रकरणानुसार अर्थ सङ्गत करना चाहिये) । ६—कर्त्रर्थक सार्वधातुक पर हो तो दिवादि-गण-पठित धातुओं से श्यन् प्रत्यय होता है । यह शप् का बाधक है । षिवु=सिलाई करना, सूतों का विस्तार प्रसार करना । नृती=नाचना ।

सेऽसिचि कृतचृतच्छृदतृदनृतः ७।२।५७॥ [1]एभ्यः परस्य सिज्भिन्नस्य सादेरार्धधातुकस्येड् वा स्यात्। नर्तिष्यति-नर्त्स्यति। नृत्यतु। अनृत्यन्। नृत्येत्। नृत्यात। अनर्तीत्। अनर्तिष्यत्—अनर्त्स्यत्। **त्रसी** उद्वेगे। वा भ्राशेति श्यन्वा। त्रस्यति-त्रसति। तत्रास।

वा जॄभ्रमुत्रसाम् ६।४।१२४॥ [2]एषां किति लिटि सेटि थलि च एत्वाभ्यासलोपौ वा स्तः। त्रेसतुः-तत्रसतुः। त्रेसिथ-तत्रसिथ। त्रसिता। **शो** तनूकरणे।

ओतः श्यनि ७।३।७१॥ [3]लोपः स्यात् श्यनि। श्यति। श्यतः। श्यन्ति। शशौ। शशतुः। शाता। शास्यति।

विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः २।४।७८॥ [4]एभ्यस्सिचो लुग्वा स्यात्, परस्मैपदे परे। अशात्। अशाताम्। अशुः। इट्सकौ। अशासीत्। अशासिष्टाम्। **छो** छेदने। छ्यति। **षो**ऽन्तकर्मणि। स्यति। ससौ [सेयात्, असात्]। असासीत्। **दो** अवखण्डने। द्यति। ददौ। देयात्। अदात्। **व्यध** ताडने।

ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च ६।१।१६॥ [5]एषां सम्प्रसारणं स्यात्किति ङिति च। विध्यति। विव्याध। विविधतुः। विविधुः। विव्यधिथ-विव्यद्ध। व्यद्धा। व्यत्स्यति। विध्येत्। विध्यात्। अव्यात्सीत्। **पुष** पुष्टौ। पुष्यति। पुपोष। पुपोषिथ। पोष्टा। पोक्ष्यति। पुषादीत्यङ्। अपुषत्। **शुष** शोषणे। शुष्यति। शुशोष। अशुषत्। **णश** अदर्शने। नश्यति। ननाश। नेशतुः।

१—कृत, चृत, छृद, तृद, नृत—धातुओं से परे सिच् भिन्न सादि आर्धधातुकों को इट् का आगम होता है विकल्प से। त्रसी=उद्विग्न होना, घबड़ाना, डरना। २—कित् लिट् एवं सेट् थल् परे रहते जॄ, भ्रमु, त्रस् धातुओं को एत्व तथा अभ्यास का लोप होता है विकल्प से। शो=पतला करना, तीक्ष्ण करना। ३—श्यन् प्रत्यय पर हो तो ओकार का लोप होता है। ४—परस्मैपद परे रहते घ्रा, धेट्, शो, छो, षो-धातुओंसे परे सिच् का लोप होना है विकल्प से। छो-काटना। षो=नाश करना। दो=काटना। व्यध=मारना, दुःख देना। ५—कित, ङित पर हो तो ग्रह्, ज्या, वेञ्, व्यध्, वश्, व्यच्, व्रश्च्, प्रच्छ्, भ्रस्ज्-धातुओं को सम्प्रसारण होता है। पुष=मजबूत करना। शुष=सूखना-सुखाना। णश=नष्ट होना, नहीं दिखायी देना।

रधादिभ्यश्च ७ । २ । ४५ ॥ [1][रध् , नश्, तृप् , दृप् , द्रुह्, मुह्, ष्णुह्, ष्णिह्] एभ्यो वलाद्यार्ध-धातुकस्य वेट् । नेशिथ ।

मस्जिनशोर्झलि ७ । १ । ६० ॥ [2]नुम् स्यात् । ननंष्ठ । नेशिव-नेश्व । नेशिम-नेश्म । नशिता नंष्टा । नशिष्यति—नङ्क्ष्यति । नश्यतु । अनश्यत् । नश्येत् । नश्यात् । अनशत् । **षूङ्** प्राणिप्रसवे । सूयते । सुषुवे । क्रादिनियमादिट् । सुषुविषे । सुषुविवहे । सुषुविमहे । सविता-सोता । **दूङ्** परितापे । दूयते । **दीङ्** क्षये । दीयते ।

दीङो युडचि क्ङिति ६ । ४ । ६३ ॥ [3]दीङः परस्याऽजादेः क्ङित आर्धधातुकस्य युट् स्यात् । [4]***वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ** । दिदीये ।

मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च ६ । १ । ५० ॥ [5]एषामात्वं स्याल्ल्यपि, चादशित्येज्निमित्ते । दाता । दास्यति । [6]***स्याध्वोरित्त्वे दीङः प्रतिषेधः** । अदास्त । **डीङ्** विहायसा गतौ । डीयते । डिड्ये । डयिता । **पीङ्** पाने । पीयते । पेता । अपेष्ट । **माङ्** माने । मायते । ममे । **जनी** प्रादुर्भावे ।

'नेशिथ ननंष्ठ'—अत्र—इट्पक्षे 'नश्-नश्' इति द्वित्वे कृते, रधादिभ्यश्चेति वैकल्पिके इटि कृते एत्वाभ्यासलोपौ भवत इति 'नेशिथ' इत्यस्य सिद्धिः । इडभावे नैत्वाभ्यासलोपौ । 'मस्जिनशोर्झलि' इति नुमि, तस्यानुस्वारे, व्रश्चेत्यादिना शस्य षत्वेन 'ननंष्ठ' इत्यस्य सिद्धिः ।

दिदीये—दीङ् क्षये धातोर्लिटि-आत्मनेपदत्वात्तप्रत्यये, धातोर्द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये, लिटस्तझयोरिति एत्वे कृते, 'दि दी ए' इति स्थिते, 'दीङो युडचि' इति युटि, युटोऽसिद्धत्वेन 'एरनेकाच–' इति यणि प्राप्ते—आह (वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ) इति युटः सिद्धत्वेनाच्परत्वाभावान्न यण् 'दिदीये' इति ।

१–रधादि (रध् , नश् , तृप् , दृप् द्रुह, मुह् , ष्णुह् , ष्णिह्) धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक को इट् होता है विकल्प से । २—झल् पर हो तो मस्ज् तथा नश् धातु को नुम् का आगम होता है । षूङ्=पैदा करना, जन्माना । दूङ्=दुःखी होना । दीङ्=नाश होना, कम होना । ३—दीङ् धातु से परे अजादि कित्, ङित् आर्धधातुक को युट् का आगम होता है । ४–उवङ् या यण् करना हो तो वुक् तथा युक् सिद्ध ही कहना चाहिये (रहता है) । ५–ल्यप् प्रत्यय पर हो तो मीञ् , मिञ् , एवं दीङ् धातुओं को आत्व होता है, चकारात्–शित् से भिन्न एज्–निमित्तक प्रत्यय परे रहते भी आत्व होता है । ६—'स्थाध्वोरिच्च' सूत्र से प्राप्त इत्व दीङ् धातु को नहीं होता । डीङ्=आकाश मार्ग से जाना । पीङ्=पीना । माङ्=नापना । जनी=प्रकट होना, उत्पन्न होना ।

ज्ञाजनोर्जा ७ । ३ । ७९ ॥ [1]अनयोर्जादेशः स्याच्छिति । जायते । जज्ञे । जनिता । जनिष्यते ।

दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् ३ । १ । ६१ ॥ [2]एभ्यश्च्लेश्चिण् वा स्यादेकवचने तशब्दे परे ।

चिणो लुक् ६ । ४ । १०४ ॥ [3]चिणः परस्य [तशब्दस्य] लुक् स्यात् ।

जनिवध्योश्च ७ । ३ । ३५ ॥ [4]अनयोरुपधाया वृद्धिर्न स्याच्चिणि ञ्णिति कृति च । अजनि–अजनिष्ट । **दीपी** दीप्तौ । दीप्यते । दिदीपे । अदीपि–अदीपिष्ट । **पद** गतौ । पद्यते । पदे । पत्ता । पत्सीष्ट ।

चिण् ते पदः ३ । १ । ६० ॥ [5]पदश्च्लेश्चिण् स्यात्तशब्दे परे । अपादि । अपत्साताम् । अपत्सत । **विद** सत्तायाम् । विद्यते । वेत्ता ।

जायते—जन् धातोर्लटि, तत्स्थाने त प्रत्यये, कर्तरि शबपवादको दिवादिभ्यः श्यनिति श्यनि, अनुबन्धलोपे, 'ज्ञाजनोर्जा' इति 'जा' आदेशे, टित आत्मनेपदानाम्–इत्येत्वे 'जायते' इति ।

जज्ञे—जन् धातोर्लिटि त–प्रत्यये, धातोर्द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये, लिटस्तझयोरित्येत्वे, 'ज जन् ए' इति स्थिते, 'गमहनजनखन–०' इत्युपधालोपे कृते 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति श्चुत्वे 'जज्ञे' इति ।

अजनि—जन् धातोर्लुङि, तस्य तप्रत्यये, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'दीपजन–०' इति च्लेश्चिणि, अनुबन्धलोपे, 'लुङ्–' इत्यडागमेऽनुबन्धलोपे 'अजन् इ त' इति स्थिते, 'चिणो लुक्' इति तलोपे, 'अत उपधायाः' इति प्राप्तायाः वृद्धयाः 'जनिवध्योश्च' इति निषेधे 'अजनि' इति ।

अपादि—पद् धातोर्लुङि त–प्रत्यये, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'लुङ्लङ्–०' इत्यडागमेऽनुबन्धलोपे, च्लौ, सिचम्प्रबाध्य 'चिण् ते पदः' इति च्लेश्चिणि, अनुबन्धलोपे, 'चिणो लुकि' इति तलोपे, 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ कृतायां 'अपादि' इति ।

१—शित् पर हो तो ज्ञा और जन् धातु को 'जा' आदेश होता है । २—एकवचन 'त' शब्द पर हो तो दीप, जन, बुध, पूरी, तायि, प्यायि धातुओं से परे च्लि को चिण् होता है विकल्प से । ३—चिण् से परे जो 'त' उसका लोप होता है । ४—चिण् , ञित, या कृत् प्रत्यय पर हो तो जन् और वध् धातु के उपधा रूप अच् को वृद्धि नहीं होती है । दीपी= प्रकाश होना । पद=जाना । ५—'त' शब्द पर हो तो पद धातु से परे च्लि को चिण् होता

अवित्त । बुध अवगमने । बुध्यते । बोद्धा । भोत्स्यते । भुत्सीष्ट । अबोधि—अबुद्ध । अभुत्सातास् । युध सम्प्रहारे । युयुधे । योद्धा । अयुद्ध । सृज विसर्गे । सृज्यते । ससृजे । ससृजिषे ।

मृजिदृशोर्झल्यमकिति ६ । १ । ५८ ॥ [१]अनयोरमागमः स्याज्झलादावकिति । स्रष्टा । स्रक्ष्यते । सृक्षीष्ट । असृष्ट । असृक्षाताम् । **मृष** तितिक्षायाम् । मृष्यति—मृष्यते । ममर्ष । ममर्षिथ । ममृषिषे । मर्षितासि । मर्षितासे । मर्षिष्यति—मर्षिष्यते ।

णह बन्धने । नह्यति । नह्यते । ननाह । नेहिथ-ननद्ध । नेहे । नद्धा । नत्स्यति । अनात्सीत्—अनद्ध ।

॥ इति दिवादिप्रकरणम् ॥

—:०:—

अवित्त—विद् धातोर्लुङि, तस्य तप्रत्यये, च्लौ, च्लेः सिजादेशेऽनुबन्धलोपे, अडागमेऽनुबन्धलोपे, लिङ्सिचाविति सिचः कित्वेन क्ङिति चेति गुणाभावे, 'झलो झलि' इति सलोपे, खरि चेति चर्त्वे, दस्य तकारे 'अवित्त' इति ।

अबोधि—बुध् धातोर्लुङि, तस्य तप्रत्यये, च्लि लुङीति च्लौ, अडागमे, अनुबन्धलोपे, 'दीपजन—' इति च्लेश्चिणि, अनुबन्धलोपे, 'चिणो लुक्' इति 'त' प्रत्ययस्य लोपे, पुगन्तलघूपधस्येति गुणे 'अबोधि' इति ।

सृज विसर्गे—यद्यप्यत्र धात्वर्थो विसर्गस्त्यागरूपो निर्दिष्टस्तथापि उद्—विपूर्वकसृजधातोरेव सोऽर्थोऽत एवाहमुत्सृजे 'विसृजे' इति प्रयोगः । केवलस्य तु निर्माणमर्थः ।

॥ इति दिवादिप्रकरणम् ॥

—:०:—

है । विद=होना, रहना । बुध=जानकारी होना । युध=लड़ना । सृज=त्याग करना ।

१—कित् भिन्न झलादि पर हो तो सृज् , दृश् धातु को अम् का आगम होना है । मृष-सहना, बरदाश्त करना । णह—बांधना ।

॥ इति दिवादिप्रकरणम् ॥

अथ स्वादिप्रकरणम्

षुञ् अभिषवे ।

स्वादिभ्यः श्नुः ३ । १ । ७३ ॥ [1][स्वादिभ्यः श्नुः स्यात्कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे] । शपोऽपवादः । सुनोति । सुनुतः । हुश्नुवोरिति यण् । सुन्वन्ति । सुन्वः–सुनुवः । सुनुते । सुन्वाते । सुन्वते । सुन्वहे–सुनुवहे । सुषाव–सुषुवे । सोता । सुनु । सुनवानि । सुनवै । सुनुयात् । सूयात् ।

स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु ७ । २ । ७२ ॥ [2]एभ्यस्सिच इट् स्यात्परस्मैपदेषु । असावीत् । असोष्ट । **चिञ्** चयने । चिनोति । चिनुते ।

विभाषा चेः ७ । ३ । ५८ ॥ [3]अभ्यासात्परस्य कुत्वं वा स्यात्सनि लिटि च । चिकाय—चिचाय । चिक्ये–चिच्ये । अचैषीत् । अचेष्ट ।

स्तृञ् आच्छादने । स्तृणोति । स्तृणुते ।

शर्पूर्वाः खयः ७ । ४ । ६१ ॥ [4]अभ्यासस्य शर्पूर्वाः खयः शिष्यन्तेऽन्ये हलो लुप्यन्ते । तस्तार । तस्तरतुः । तस्तरे । गुणोर्तीति गुणः । स्तर्यात् ।

ऋतश्च संयोगादेः ७ । २ । ४३ ॥ [5]ऋदन्तात्संयोगादेः परयोर्लिङ्सिचोरिड् वा स्यात्तङि । स्तरिषीष्ट, स्तृषीष्ट । अस्तरिष्ट–अस्तृत । **धूञ्** कम्पने । धूनोति । धूनुते । दुधाव । स्वरतीति वेट् । दुधविथ-दुधोथ ।

श्र्युकः किति ७ । २ । ११ ॥ [6]श्रिञ एकाच उगन्ताच्च गित्कितोरिण् न स्यात् । परमपि स्वरत्यादिविकल्पं बाधित्वा पुरस्तात्प्रतिषेधकाण्डारम्भ-

---

सुनुवः–सुन्वः—अत्र 'लोपश्चास्यान्यतरस्याम्-०' इति-उकारलोपो वैकल्पिकः । **चिञ्** चयने । **लटि**—चिनोति चिनुते, इत्यादि । विभाषा चेरिति कुत्वस्य विकल्पेन **लिटि** चिचाय–चिकाय, चिच्ये-चिक्ये इति ।

तस्तरतुरित्यत्र ऋतश्च संयोगादेरिति गुणः । पुरस्तात्प्रतिषेधकाण्डारम्भसाम-

---

षुञ्=स्नान करना, सोमलता को कूटना, मदिरा बनाना ।

१—कर्त्रर्थक सार्वधातुक पर हो तो स्वादिगण पठित धातुओं से 'श्नु' प्रत्यय होता है । २—परस्मैपद में स्तु, सु, धूञ्–धातुओं से परे सिच् को इट् का आगम होता है । चिञ्=एकत्र करना । ३—सन् एवं लिट् पर हो तो अभ्यास से परे चिञ् धातु को कुत्व विकल्प से होता है । स्तृञ्=ढाँकना । ४—अभ्यास के शर्-पूर्वक खयों का शेष होता है, अन्य हल् लुप्त हो जाते हैं । ५—तङ् (आत्मनेपद) परे रहते ऋदन्त संयोगादि धातु से परे लिङ् और सिच् को इट् का आगम होता है । धूञ्=कम्पन । ६—गित्

सामर्थ्यादनेन निषेधे प्राप्ते, क्रादिनियमान्नित्यमिट् । दुधुविव । दुधुवे । अधावीत् । अधविष्ट-अधोष्ट । अधविष्यत्—अधोष्यत् । अधविष्यताम्—अधोष्यताम् । अधविष्यत-अधोष्यत ।

॥ इति स्वादिप्रकरणम् ॥



अथ तुदादिप्रकरणम्

तुद व्यथने ।

तुदादिभ्यः शः ३ । १ । ७७ ॥ १[तुदादिभ्यः शः स्यात्कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे] शपोऽपवादः । तुदति । तुदते । तुतोद । तुतोदिथ । तुतुदे । तोत्ता । अतौत्सीत् । अतुत्त । **णुद** प्रेरणे । नुदति । नुदते । नुनोद । नोत्ता

र्थ्यादित्यस्यायमर्थो यत् 'प्राप्तौ सत्यां निषेधः' इति नियमेन इड्विधायकसूत्राणि पठित्वैव तन्निषेधवचनानि पठनीयानि किन्तु पाणिनिना-अष्टाध्याय्यामिण्निषेधकान्येव प्राक् पठितानि, तदनु तद्विधायकानि—इति विध्यपेक्षया निषेधानां बलीयस्त्वं सूचितम् । अत एव परमपि स्वरत्यादिविकल्पं बाधित्वा प्रकृतसूत्रेण निषेधः प्राप्तो भवतीत्यर्थः ।

धूञ् कम्पने—लटि-धूनोति, धूनुते इत्यादि । **लिटि**—दुधाव-दुधुवे इत्यादि । **लुटि**—स्वरत्यादिनेड्विकल्पेन धोता—धविता । **लृटि**—धविष्यति, धोष्यति । पक्षे धविष्यते, धोष्यते इत्यादि । **लोटि**—धूनोतु, पक्षे धूनुताम्—इत्यादि । **लङि**—अधूनोत्, पक्षे अधूनुत-इत्यादि । **वि० लि०**—धूनुयात् पक्षे धून्वीत-इत्यादि । **आ० लि०**—धूयात्, पक्षे धविषीष्ट-धोषीष्ट-इत्यादि । **लुङि**—अधावीत, पक्षे अधविष्ट-अधोष्ट इत्यादि । **लृङि**—अधविष्यत्-अधोष्यत् । पक्षे अधविष्यत अधोष्यत इत्यादि ।

॥ इति स्वादिप्रकरणम् ॥



यदि क्ङित् पर मे हो तो श्रिञ् धातु और एकाच् उगन्त धातु को इट् नहीं होता है ।

॥ इति स्वादिप्रकरणम् ॥



तुद=कष्ट देना ।

१—कर्त्रर्थक सार्वधातुक पर हो तो तुदादिगण पठित धातुओं से 'श' प्रत्यय होता है ।

11 णुद=प्रेरणा करना ।

इति सम्प्रसारणम् । सस्य श्चुत्वेन शः । शस्य जश्त्वेन जः । भृज्जति । भृज्जते ।

भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम् ६ । ४ । ४७ ॥ भ्रस्जे रेफस्योपधायाश्च स्थाने रमागमो वा स्यादार्धधातुके । मित्त्वादन्त्यादचः परः । स्थानषष्ठीनिर्देशाद्रोपधयोर्निवृत्तिः । बभर्ज । बभर्जतुः । बभर्जिथ-बभर्ष्ठ । बभ्रज्जतुः । बभ्रज्जिथ । स्कोरिति सलोपः । व्रश्चेति षः । बभ्रष्ठ । बभर्जे-बभ्रज्जे । भर्ष्टा-भ्रष्टा । भर्क्ष्यति-भ्रक्ष्यति । क्ङिति रमागमं बाधित्वा सम्प्रसारणं पूर्वविप्रतिषेधेन । भृज्ज्यात् । भृज्ज्यास्ताम् । भृज्ज्यासुः । भर्क्षीष्ट-भ्रक्षीष्ट । अभार्क्षीत्-अभ्राक्षीत् । अभर्ष्ट-अभ्रष्ट । कृष विलेखने । कृषति । कृषते । चकर्ष । चकृषे ।

मित्त्वादन्त्यादिति—यद्ययं 'रम्' आगमस्तदा रोपधयोः स्थाने न स्यात्, यदि चादेशस्तदान्त्यादचः परो न स्यादित्याशङ्का (विवाद) परिहारार्थं समाधत्ते—मित्त्वादित्यादि ।

क्ङितीति —भ्रस्जेराशीर्लिङि परत्वात्सम्प्रसारणं बाधित्वा रमागमे भर्ज्यादिति स्यादत आह—क्ङितीति । रमागमस्यावकाशः भर्ष्टा, भर्क्ष्यति—इति । सम्प्रसारणस्यावकाशः इज्यात् उच्यात्—इति । सम्प्रसारणं भवति पूर्वविप्रतिषेधेनेति भावः ।

भ्रस्ज धातोर्लिटि थलि चत्वारि रूपाणि—भ्रस्ज्धातोर्लिटि तस्स्थाने थलि 'लिटि धातोः—' इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'हलादिः शेषः' इति रसजानां लोपे, 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य बत्वे, 'अजन्तोऽकारवान् वा' इति नियमेन वैकल्पिके इटि, तनुबन्धलोपे, 'भ्रस्जो रोपधयोः—०' इति वैकल्पिके रमि—अनुबन्धलोपे, 'स्कोः संयोगाद्योः' इति सलोपे, 'बभर्जिथ' इति । व्रश्चेति षत्वे, ष्टुना ष्टुरिति ष्टुत्वे न कृते 'बभर्ष्ठ' इति । रमभावपक्षे इटि सस्य श्चुत्वेन शकारे, शस्य च जश्त्वेन जकारे, बभ्रज्जिथ इति । इडभावे स्कोरिति सलोपे, व्रश्चेति जकारस्य शकारे, ष्टुना ष्टुरिति ष्टुत्वेन थकारस्य ठकारे 'बभ्रष्ठ' इति ।

भर्क्षीष्ट—भ्रस्ज्धातोराशिषि लिङि तप्रत्यये, लिङः सीयुडिति सीयुटि अनुबन्धलोपे, सुट् तिथोरिति सुट्यनुबन्धलोपे, लोपो व्योरिति यलोपे, 'भ्रस्ज् सी स्

भ्रस्ज=पकाना, भूनना ।

१—आर्धधातुक पर हो तो भ्रस्ज धातु के रेफ और उपधा के स्थान में रम् का आगम होता है विकल्प से । २—क्ङित् या ङित् पर हो तो रमागम को बाध कर पूर्वविप्रतिषेध से सम्प्रसारण ही होता है । कृष=हल जोतना, खेती करना ।

[illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

शे मुचादीनाम् ॥ [illegible] ॥ [illegible] -कृत्-खिद्-पिशां नुम् स्यात् [illegible] । [illegible] । [illegible] अमुचन् । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] भाग्यमन्तं [illegible] । [illegible] । [illegible] सिञ्चति । [illegible] ।

[illegible] इति नियमे, [illegible] इति, [illegible], [illegible] 'षढोः कः सि' इति [illegible] ककारे, [illegible] इति [illegible] लकारस्य पत्वे, [illegible] 'अकर्क्षीत्' इति । [illegible] ।

क्रष्टा —कृष धातोर्लुटि तस्य तिपि 'स्यतासी–' इति [illegible]—अनुबन्धलोपे, 'लुटः प्रथमस्य–' इति डादेशे, [illegible] 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्' इति 'अमि' अनुबन्धलोपे, 'इको यणचि' इति यणि, ष्टुना ष्टुरिति ष्टुत्वे च कृते 'क्रष्टा' इति । अमभावे गुणे कृते 'कर्ष्टा' इति ।

कृष् धातोर्लुङि प्रथमपुरुषैकवचने अक्रांक्षीत् रूपसिद्धिः—कृष् धातोर्लुङि तस्य स्थाने तिपि, अनुबन्धलोपे, च्लि लुङीति च्लौ, च्लेः सिजिति सिजादेशे प्राप्ते 'स्पृशमृश–' इति वार्तिकबलेन वैकल्पिके सिजादेशेऽनुबन्धलोपे, 'लुङ्लङ्–' इत्यडागमेऽनुबन्धलोपे, 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्य–' इति 'अमागमे' अनुबन्धलोपे, 'अ क् र अ ष् स् ति' इति स्थिते, यणि, 'षढोः कः सि' इति षस्य ककारे, आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे, 'अस्ति-सिचोऽपृक्ते' इतीडागमे, अनुबन्धलोपे, वदव्रजेति वृद्धौ [illegible] क्षकारे जाते,

---

१—कित् से भिन्न झलादि पर हो तो उपदेश में अनुदात्त जो ऋदुपध धातु उसको अम् का आगम विकल्प से होता है । २—स्पृश, मृश, कृष, तृप, दृप–धातुओं से परे च्लि को सिच् विकल्प से होता है । [illegible] । मुचऌ=[illegible], [illegible] करना । ३—'श' पर हो तो मुचादि (मुच्, लिप्, विद्, लुप्, सिच, कृत्, खिद्, पिश्) धातुओं से नुम् का आगम होता है । लुप्लृ=काटना, लुप्त करना । विद्लृ=प्राप्त करना । सिच्=सींचना ।

लिपिसिचिह्वश्च ३।१।५३॥ [1]एभ्यश्च्लेरङ् स्यात्। असिचत्।

आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् ३।१।५४॥ [2]लिपिसिचिह्वः परस्य च्लेरङ् वा [स्यात् तङि]। असिचत-असिक्त। **लिप** उपदेहे। उपदेहो वृद्धिः। लिम्पति। लिम्पते। लेप्ता। अलिपत्। अलिपत। अलिप्त।

॥ इत्युभयपदिनः ॥

कृती छेदने। कृन्तति। चकर्त। कर्तिता। कर्तिष्यति-कर्त्स्यति। अकर्तीत्। **खिद** परिघाते। खिदति। चिखेद। खेत्ता। **पिश** अवयवे। पिशति। पेशिता। **ओव्रश्चू** छेदने। वृश्चति। वव्रश्च। वव्रश्चिथ-वव्रष्ठ। व्रश्चिता-व्रष्टा। व्रश्चिष्यति-व्रक्ष्यति। वृश्च्यात्। अव्रश्चीत्-अव्राक्षीत्। **व्यच** व्याजीकरणे। विचति। विव्याच। विविचतुः। व्यचिता। व्यचिष्यति। विच्यात्। अव्यचीत्-अव्याचीत्। व्यचेः कुटादित्वमनसीति तु नेह प्रवर्तते, अनसीति पर्युदासेन कृन्मात्रविषयत्वात्। **उछि** उञ्छे। उञ्छति। 'उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्' इति यादवः।

'अक्राक्षीत्' इति। अमभावे 'अकार्क्षीत्' इति। सिजभावे क्सकृते 'अकृक्षत्' इति। 'अकृष्ट' इत्यत्र लिङ्सिचौ कितावित्ति कित्वादम् न भवतीति।

कर्तिष्यति-कर्त्स्यति—अत्र 'सेऽसिचि—' इति—इड्विकल्पः।

वव्रष्ठ—अत्र श्चुत्वस्यासिद्धत्वात्स्कोरिति संयोगादिलोपे, व्रश्चेति षत्वे च कृते सिद्धिः।

अव्याचीत्—व्यच् धातोर्लुङि तिपि, अडागमेऽनुबन्धलोपे, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, तस्य सिजादेशेऽनुबन्धलोपे, 'आर्धधातु—०' इति इडागमेऽनुबन्धलोपे, 'अस्ति-सिचोऽपृक्ते' इतीट्यनुबन्धलोपे, 'इट ईटि' इति सस्य लोपे, अतो हलादेरिति वा वृद्धौ सवर्णदीर्घे च कृते 'अव्याचीत्' इति। वृद्ध्यभावे 'अव्यचीत्' इति।

व्यचेः कुटादित्वमनसीति—अत्रानसीति पर्युदासः। तथा च अस्भिन्ने अस्सदृशे प्रत्यये परे व्यचेः कुटादित्वमित्यर्थः। एवञ्च 'गाङ्कुटादिभ्य—०' इति तासादेर्ङिद्वद्भावे ग्रहिज्येति सम्प्रसारणे 'विचिता' इति स्यादिति चेन्न-सादृश्यस्य कृत्वेन ग्रहणात्, तथा च अस्भिन्न—कृत्प्रत्यये परे एव तत्प्रवृत्तिरिति भावः।

१—लिप्, सिच् एवं ह्वेञ् धातु से परे च्लि को अङ् होता है। २—तङ् पर हो तो लिप, सिच् और ह्वेञ् धातु से परे च्लि को अङ् विकल्प से होता है।

कृती=काटना, अलग-अलग करना। खिद=दुःख देना, दुःखी होना। पिश=चूर्ण करना, कुछ भी अनेक बार करना। व्यच्=बहाना करना, ठगना। उछि=कणों को एकत्र करना।

ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु । ऋच्छति । ऋच्छत्यृतामिति गुणः । द्विहल्ग्रहणस्याजनेकहल्पलक्षणत्वान्नुट् । आनर्च्छ । आनर्च्छतुः । ऋच्छिता । उज्झ उत्सर्गे । उज्झति ।

लुभ विमोहने । लुभति ।

तीषसहलुभरुषरिषः ७ । २ । ४८ ॥ [1]इच्छत्यादेः परस्य तादेरार्धधातुकस्येड् वा स्यात् । लोभिता-लोब्धा । लोभिष्यति । तृप तृम्फ तृप्तौ । तृपति । ततर्प । तर्पिता । अतर्पीत् । तृम्फति । ॐ[2]शे तृम्फादीनां नुम्वाच्यः । आदिशब्दः प्रकारे । तेन येऽत्र नकारानुषक्तास्ते तृम्फादयः । ततृम्फ । तृफ्यात् । मृड पृड सुखने । मृडति । पृडति । शुन गतौ । शुनति । इषु इच्छायाम् । इच्छति । एषिता-एष्टा । एषिष्यति । इष्यात् । ऐषीत् । कुट कौटिल्ये । गाङ्कुटादीति ङित्त्वम् । चुकुटिथ । चुकोट-चुकुट । कुटिता । पुट संश्लेषणे । पुटति । पुटिता । स्फुट विकसने । स्फुटति । स्फुटिता ।

स्फुर स्फुल सञ्चलने । स्फुरति स्फुलति ।

स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः ८ । ३ । ७६ ॥ [3]षत्वं वा स्यात् । निःस्फुरति-निःष्फुरति । णू स्तवने । परिणूतगुणोदयः । नुवति । नुनाव । नुविता टुमस्जो शुद्धौ । मज्जति । ममज्ज । ममज्जिथ । मस्जिनशोरिति नुम् ॐ[4]मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम्वाच्यः । संयोगादिलोपः । ममङ्क्थ । मङ्क्ता मङ्क्ष्यति । अमाङ्क्षीत् अमाङ्क्ताम् । अमाङ्क्षुः । रुजो भङ्गे । रुजति रोक्ता । रोक्ष्यति । अरौक्षीत् । भुजो कौटिल्ये । रुजिवत् । विश प्रवेशने विशति । मृश आमर्शने । आमर्शनं स्पर्शः । अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतर

ऋच्छ=गति, इन्द्रियों की निश्चेष्टता-स्तब्धता, तथा मूर्तिभाव, कठिनाई । उज्झ=छोड़ना । लुभ=विमोहित होना (करना) ।

१—इच्छत्यादि (इष्, सह्, लुभ्, रुष्, रिष्)-धातुओं से परे तादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् होता है । २—श पर हो तो तृम्फादि (नुम्वान् तृम्फसदृश) धातुओं को नुम् का आगम होता है । मृड, पृड=सुखी होना । शुन=गति । इषु=अभिलाषा करना । कुट= कुटिलता करना, धोखा देना । पुट=दो या अनेक को संयुक्त करना । स्फुट=खिलना, विकसित होना । स्फुर, स्फुल=अंगों का फड़कना, जान आना । ३—निर्, नि वा वि उपसर्ग से परे स्फुर और स्फुल धातु के सकार को षत्व होता है, विकल्प से । णु=प्रशस्त गुणों का वर्णन करना (स्तुति करना) । मस्ज=शुद्ध होना, डुबकी लगाना, इत्यादि । ४—मस्ज् धातु के अन्त्य से पूर्व में नुम् होता है (कहना चाहिये) । रुज=तोड़ना, दुःखी करना (होना) । भुज=टेढ़ा होना, धोखा देना । विश=प्रवेश करना (होना) । मृश=स्पर्श करना, छूना ।

[illegible] [illegible]म् । [illegible] । [illegible]लेनु । [illegible]

[illegible] । हीयि [illegible]

[illegible] । [illegible] । [illegible]थति । अ[illegible]म् ।

[illegible]

[illegible] [illegible] इत्स्यात् । [illegible] । कीर्यात् ।

[illegible] ॥ [illegible] सुट् [illegible]च्छेदने । उप- [illegible] सुट् [illegible] । उपास्किरन् । [illegible]

[illegible] ॥ [illegible] । [illegible]भ्यर्णः सुट् स्यात्हिं- [illegible] । [illegible] । [illegible] ।

[illegible] ॥ [illegible] वा स्यादजादौ [illegible] । [illegible] । गरीता-गरिता । [illegible] । [illegible] । पृच्छति । [illegible] । प्रक्ष्यति । अप्राक्षीत् । मृङ् प्राणत्यागे ।

[illegible] १ । ३ । ६१ ॥ [illegible] प्रकृतिभूता- न्मृङस्तङ् [illegible] । [illegible] । मृयते । ममार । मर्ता । मरिष्यति । मृषीष्ट । [illegible] । [illegible] व्यायामे । प्रायेणाऽयं व्याङ् पूर्वः । व्याप्रियते । व्यापप्रे । [illegible] । [illegible]पारिष्यते । व्यापृत । व्यापृतानाम् । जुषी प्र[illegible] सेवनयोः । [illegible] । जुजुषे । ओविजी भयचलनयोः । प्रायेणायमु[illegible] उद्विजते ।

[illegible]=अलग [illegible]), गति, दुःखी होना । [illegible]=[illegible] करना, छीलना ।

२—[illegible] आत्मनेपद होता है । [illegible] । ३—[illegible] धातु के [illegible] (काटने) अर्थ में [illegible] 'कृ' धातु को सुट् का आगम होता है । ४—[illegible] उप और प्रति से परे 'कृ' धातु को सुट् का आगम होता है । गृ=निगलना । [illegible] पर हो तो 'गृ' धातु के रेफ को लकार होता है विकल्प से । [illegible] । [illegible]=मरना । ६—केवल लुङ् या लिङ् पर हो तो 'मृङ्' धातु से आत्मनेपद [illegible] नहीं । पृङ्=उद्योग (यत्न) [illegible] । जुषी=प्रेम करना, सेवा करना । ओविजी=[illegible], काँपना ।

विज इट् १ । २ । २ ॥ [1]विजेः पर इडादिप्रत्ययो ङिद्वत्स्यात् । उद्विजिता ।

॥ इति तुदादिप्रकरणम् ॥

अथ रुधादि-प्रकरणम्

रुधादिभ्यः श्नम् ३ । १ । ७८ ॥ [2]शपोऽपवादः । रुणद्धि । श्नसोरल्लोपः । रुन्धः । रुन्धन्ति । रुणत्सि । रुन्ध । रुणध्मि । रुन्ध्वः । रुन्ध्मः । रुन्धे । रुन्धाते । रुन्धते । रुन्त्से । रुन्धाथे । रुन्द्ध्वे । रुन्धे । रुन्ध्वहे । रुन्ध्महे । रुरोध-रुरुधे । रोद्धासि-रोद्धासे । रोत्स्यति-रोत्स्यते । रुणद्धु-रुन्धात् । रुन्धाम् । रुन्धन्तु । रुन्धि । रुणधानि । रुणधाव । रुणधाम । रुन्धाम् । रुन्धताम् । रुन्धताम् । रुन्त्स्व । रुणधै । रुणधावहै । रुणधामहै । अरुणत्-अरुणद् । अरुन्धाम् । अरुन्धन् । अरुणः-अरुणत्-अरुणद् । अरुन्ध । अरुन्धाताम् । अरुन्धत । अरुन्धाः । रुन्ध्यात्-रुन्धीत रुध्यात्-रुत्सीष्ट । अरुधत्-अरौत्सीत् । अरुद्ध । अरुत्साताम् । अरुत्सत । अरोत्स्यत्-अरोत्स्यत । भिदिर् विदारणे । छिदिर् द्वैधीकरणे । युजिर् योगे । रिचिर् विरेचने । रिणक्ति-रिङ्क्ते । रिरेच । रेक्ता । रेक्ष्यति । अरिणक् । अरिचत्-अरैक्षीत् । अरिक्त । विचिर् पृथग्भावे । विनक्ति-विङ्क्ते । क्षुदिर् सम्पेषणे । क्षुणत्ति-क्षुन्ते । क्षोत्ता । अक्षुदत्-अक्षौत्सीत्-अक्षुत्त । उच्छृदिर् दीप्तिदेवनयोः । छृणत्ति-छृन्ते । चच्छर्द । सेऽसिचीति वेट् । चच्छृदिषे । चच्छृत्से । छर्दिष्यति-छर्त्स्यति । अच्छृदत्-अच्छर्दीत् । अच्छर्दिष्ट । अच्छर्दिष्यत् । उतृदिर् हिंसानादरयोः । तृणत्ति-तृन्ते । कृती वेष्टने । कृणत्ति । तृह हिसि हिंसायाम् ।

१—विज् धातु से परे इडादि प्रत्यय ङित सदृश होता है ।

॥ इति तुदादिप्रकरणम् ॥

रुध-रोकना ।

२—रुधादि सार्वधातुक पर हो तो रुधादि-गण-पठित धातुओं से श्नम् प्रत्यय होता है । भिदिर=तोड़ना-फाड़ना । छिदिर=दो टुकड़ा करना । युजिर्=दो या अनेक चीजों को जोड़ना । रिचिर्=अधिक खाली होना । विचिर्=अलग होना । क्षुदिर्=अच्छी तरह पीसना । उच्छृदिर्=चमकना, खेलना । उतृदिर्=मारना, अनादर करना । कृती=घेरना और लपेटना । तृह-हिसि=मारना, दुःख देना ।

तृणह इम् ७ । ३ । ९२ ॥ [1]तृहः श्नमि कृते इमागमः स्याद्धलादौ पिति । तृणेढि । तृण्ढः । ततर्ह तर्हिता । अतृणेट् ।

श्नान्नलोपः ६ । ४ । २३ ॥ [2]श्नमः परस्य नस्य लोपः स्यात् । हिनस्ति । जिहिंस । हिंसिता ।

तिप्यनस्तेः ८ । २ । ७३ ॥ [3]पदान्तस्य सस्य दः स्यात्तिपि न त्वस्तेः । ससजुषोरुरित्यस्यापवादः । अहिनत्-अहिनद् । अहिंस्ताम् । अहिंसन् ।

सिपि धातो रुर्वा ८ । २ । ७४ ॥ [4]पदान्तस्य धातोः सस्य रुः स्याद्वा [सिपि] । पक्षे दः । अहिनः-अहिनत्-अहिनद् । **उन्दी** क्लेदने । उनत्ति । उन्तः । उन्दन्ति । उन्दाञ्चकार । औनत् । औनद् । औन्ताम् । औन्दन् । औनः-औनत् । औनदम् । **अञ्जू** व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु । अनक्ति । अङ्क्तः । अञ्जन्ति । आनञ्ज । आनञ्जिथ-आनङ्क्थ । अञ्जिता-अङ्क्ता । अङ्ग्धि । अनजानि । आनक् ।

अञ्जेः सिचि ७ । २ । ७१ ॥ [5]अञ्जेः सिचो नित्यमिट् स्यात् । आञ्जीत् । **तञ्चू** सङ्कोचने । तनक्ति । तञ्चिता-तङ्क्ता । **ओविजी** भयचलनयोः । विनक्ति । विङ्क्तः । विज इडिति ङित्त्वम् । विविजिथ । विजिता । अविनक् । अविजीत् । **शिष्लृ** विशेषणे । शिनष्टि । शिष्टः । शिषन्ति । शिनक्षि । शिशेष । शिशेषिथ । शेष्टा । शेक्ष्यति । हेर्धिः । शिण्ड्ढि । शिनषाणि । अशिनट् ।

शिण्ढि—ऌकारेत्संज्ञक शिष् धातोर्लोटि तस्य सिपि अनुबन्धलोपे 'रुधादिभ्यः-' इति श्नम्यनुबन्धलोपे, सेर्ह्यपिच्चेति सेर्ह्यादेशे—'शिनष् हि' इति स्थिते, 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' इति हेर्धित्वे, ष्टुत्वेन धस्य ढकारे, नस्यानुस्वारे, षस्य जश्त्वेन डकारे, परसवर्णेनानुस्वारस्य णकारे, 'झरो झरि' इति डस्य पाक्षिके लोपे 'शिण्ढि' इति । लोपाभावे तु 'शिण्ड्ढ' इति ।

अशिनट्—शिष् धातोर्लङ् तिप्-श्नम्—अट्-इकारलोपादिषु कृतेषु अशि-

---

१—हलादि पित् पर हो तो 'तृह' धातु से श्नम् करने पर इम् का आगम होता है। २—श्नम् से परे नकार का लोप होता है। ३—तिप् पर हो तो अस् धातु को छोड़कर पदान्त सकार को दकार होता है। ४—सिप् पर हो तो पदान्त 'स' को 'रु' होता है विकल्प से। उन्दी=आर्द्र करना (भिगोना)। अञ्जू=प्रकाश करना, मर्दन करना, सौन्दर्य, गति। ५—अञ्जू धातु से परे जो सिच् उसको नित्य इट् होता है। ओविजी=भय करना, उद्विग्न होना, काँपना।

(अन्य मध्य के धातु प्रसिद्ध हैं, अब आगे प्रसिद्ध शब्दों का अर्थ नहीं दिया जायगा।) भुज=रक्षा करना, भोजन करना।

शिष्यात् । अशिषत् । एवं **पिष्लृ** सञ्चूर्णने । **भञ्जो** आमर्दने । **श्नान्नलोपः** । भनक्ति । बभञ्जिथ–बभङ्क्थ । भङ्क्ता । भङ्ग्धि । अभाङ्क्षीत् । **भुज** पालनाभ्यवहारयोः । भुनक्ति । भोक्ता । भोक्ष्यति । अभुनक् ।

भुजोऽनवने १ । ३ । ६६ ॥ [1]तङानौ स्तः । ओदनं भुङ्क्ते । अनवने किम् ? महीं भुनक्ति । **ञि इन्धी** दीप्तौ । इन्धे । इन्धाते । इन्त्से । इन्ध्वे । इन्धाञ्चक्रे । इन्धिता । इन्धाम् । इन्धानाम् । इनधै । ऐन्ध । ऐन्धाताम् । ऐन्धाः । **विद** विचारणे । विन्ते । वेत्ता ।

॥ इति रुधादिप्रकरणम् ॥



अथ तनादि-प्रकरणम्

तनु विस्तारे ।

तनादिकृञ्भ्य उः ३ । १ । ७९ ॥ [2][तनादेः कृञश्च उप्रत्ययः स्यात्कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे] । शपोऽपवादः । तनोति–तनुते । ततान–तेने । तनि-

---

नष् त्' इति स्थिते, 'झलां जशोऽन्ते' धातोः षस्य डकारे 'अशिनड्', 'वावसाने' इति चर्त्वेन डकारस्य टकारे 'अशिनट्' इति ।

पिष्लृ संचूर्णने—पिनष्टि । पिपेष । पेष्टा । पेक्ष्यति । पिनष्टु । अपिनट् । पिष्यात् । पिष्यात् । अपिषत् । अपेक्ष्यत् ।

भुजोऽनवने—अवनं रक्षणं, तद्भिन्ने अर्थे भुज् धातोरात्मनेपदं स्यात् । तेन रक्षणेऽर्थे 'पृथ्वीं भुनक्ति' (रक्षति) इति परस्मैपदम् । भोजने–'ओदनं द्विदलञ्च भुङ्क्ते' (खादति) इत्यात्मनेपदम् ।

॥ इति रुधादिप्रकरणम् ॥



१—रक्षा से भिन्न अर्थात् भोजन अर्थ मे भुज धातु से तङ् और आन होते हैं । अथात् आत्मनेपद होता है ।

॥ इति रुधादिप्रकरणम् ॥



तनु=फैलाव ।

२—कर्त्रर्थक सार्वधातुक पर हो तो तनादि–गण–पठित तथा कृञ् धातु से 'उ' प्रत्यय होता है।

[illegible] । तनोतु—तनुतात् [illegible]
[illegible] । [illegible]—[illegible] । [illegible]—[illegible] ।

[illegible] ६ । ४ । ३७ ॥ [illegible]

[illegible]

[illegible] ६ । ४ । ४३ ॥ [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] ।

[illegible] ६ । ४ । ४५ ॥ [illegible] स्यात् [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible]—[illegible] । [illegible] । उभयत्र [illegible] वा । [illegible]— [illegible] । [illegible]—[illegible] । [illegible] अदने । [illegible]— [illegible] । [illegible]—[illegible] ।

डुकृञ् करणे । करोति ।

अत उत्सार्वधातुके ६ । ४ । ११० ॥ [6]उप्रत्ययान्तस्य कृञोऽकारस्य उः [illegible] । कुरुतः ।

न भकुर्छुराम् ८ । २ । ७९ ॥ [7]भस्य कुर्छुरोश्चोपधाया दीर्घो न स्यात् । [illegible] ।

नित्यं करोतेः ६ । ४ । १०८ ॥ [illegible] करोतेः प्रत्ययोकारस्य नित्यं लोपः [illegible] परयोः । कुर्वः । कुर्मः । कुरुते । [illegible]—चक्रे । कर्तासि । [illegible] । करिष्यति—करिष्यते । करोतु । कुरुताम् । अकरोत् । अकुरुत ।

ये च ६ । ४ । १०९ ॥ [3]कृञ उलोपः स्याद्यादौ प्रत्यये । कुर्यात्—कुर्वीत । क्रियात्—कृषीष्ट । अकार्षीत्—अकृत । अकरिष्यत्—अकरिष्यत ।

[illegible] प्रत्यय [illegible] हो तो तनादि धातु [illegible] [illegible] का लोप विकल्प से [illegible] । [illegible]—[illegible] [illegible] पर [illegible] जन्, सन्, खन्—धातुओं को आत्व [illegible] । [illegible]—[illegible] हो और [illegible] हो तो [illegible], [illegible], [illegible]—[illegible] आत्व आदेश होता है । तृणु=खाना । डुकृञ=करना । ४—[illegible] [illegible] [illegible] उप्रत्ययान्त कृञ धातु के अकार को उकार होता है । ५—[illegible] [illegible] उपधा को दीर्घ नहीं होता है । ६—[illegible] या मकार पर हो [illegible] धातु के प्रत्ययरूप उकार का नित्य ही लोप हो जाता है । ७—यकारादि प्रत्यय [illegible] धातु के उकार का लोप हो जाता है ।

[illegible]

[illegible] श्रीम्‌ [illegible] ([illegible]) [illegible]

[illegible] उल्लिखित [illegible]

[illegible] इत्यनिविष्ये ।

[illegible] ३ [illegible] २ [illegible]

[illegible] । क्रीणाति । [illegible] । क्रीणीतः । [illegible] । क्रीणीथ । [illegible] । क्रीणासि । क्रीणीथः । क्रीणीते । क्रीणाते । क्रीणीते । क्रीणाथे । [illegible] । [illegible] । निर्क्रियणः । [illegible] । [illegible] । [illegible] । क्रीणातु [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । अक्रीणीत [illegible] । अक्रीणन्‌ [illegible] । प्रीञ्‌ तर्पणे कान्तौ च । प्रीणाति [illegible] । श्रीञ्‌ पाके । [illegible] । मीञ्‌ हिंसायाम्‌ ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

हिनुमीना ८।४।१५॥ [1]उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्यैतयोर्नस्य णः स्यात्। प्रमीणाति–प्रमीणीते। मीनातीन्यात्वम्। ममौ। मिम्यतुः। ममिथ-ममाथ। मिम्ये। माता। मास्यति। मीयात्–मासीष्ट। अमासीत्। अमासिष्टाम्। अमास्त। **षिञ् बन्धने**। सिनाति। सिनीते सिषाय-सिष्ये। सेता। **स्कुञ् आप्लवने**।

स्तन्भुस्तुन्भुस्कन्भुस्कुन्भुस्कुञ्भ्यः श्नुश्च ३।१।८२॥ [2][एभ्यः श्नुः स्यात्] चात् श्ना। स्कुनोति–स्कुनाति। स्कुनुते–स्कुनीते। चुस्काव। चुस्कुवे। स्कोता। अस्कौषीत्–अस्कोष्ट। स्तन्भ्वादयश्चत्वारः सौत्राः। सर्वे रोधनार्थाः परस्मैपदिनः।

हलः श्नः शानज्झौ ३।१।८३॥ [3]हलः परस्य श्नः शानजादेशः स्याद्धौ परे। स्तभान।

जृस्तन्भुम्रुचुम्लुचुग्रुचुग्लुचुग्लुञ्चुश्विभ्यश्च ३।१।५८॥ [4]एभ्यश्च्लेरङ् वा स्यात्।

स्तन्भेः ८।३।६७॥ [5]स्तन्भेः सौत्रस्य सस्य षः स्यात्। व्यष्टभत्। अस्तम्भीत्। **युञ् बन्धने**। युनाति–युनीते। योता। **क्नूञ् शब्दे**। क्नूनाति। क्नूनीते। क्नविता। **द्रूञ् हिंसायाम्**। द्रूणाति–द्रूणीते। **दॄ विदारणे**। दृणाति–दृणीते। **पूञ् पवने**।

प्वादीनां ह्रस्वः ७।३।८०॥ [6]पूञ्-लूञ्-स्तॄञ्-कॄञ्-धूञ्-शॄ-पॄ-वॄ-भॄ-मॄ-दॄ-जॄ-झॄ-धॄ-नॄ-कॄ-ऋॄ-गॄ-ज्या-री-ली-व्ली-वॄञ्-प्लीनां चतुर्विंशतेः शिति ह्रस्वः

स्तभान—स्तन्भ् धातोर्लोट्, सिप्, हि-आदिषु कृतेषु 'स्तन्भुस्तुन्भु–०' इति सूत्रेण श्नाप्रत्ययपक्षे (श्नाकृते) 'स्तन्भ् ना हि' इति स्थिते, ना-शब्दस्य 'हलः श्नः–' इति शानजादेशे, अनुबन्धलोपे, शित्वात्सार्वधातुकत्वे, अपित्वेन ङित्वे, 'अनिदिताम्–' इति नलोपे, अतो हेरिति हेर्लुकि 'स्तभान' इति।

१—उपसर्ग मे स्थित (रेफ षकार रूपी) निमित्त से परे हिनु एवं मीना के नकार को णकार होता है। स्कुञ्=उछलना-कूदना। २—स्तन्भु, स्तुन्भु, स्कन्भु, स्कुन्भु–इन धातुओं से परे 'श्नु' प्रत्यय होता है, चकारात् 'श्ना' प्रत्यय भी होता है। ३—हि पर हो तो हल् से परे 'श्ना' को शानच् आदेश होता है। ४–जॄ, स्तन्भु, म्रुचु, म्लुचु, ग्रुचु, ग्लुचु एवं श्वि–इन धातुओं से परे च्लि को अङ् विकल्प से होता है। ५—सौत्र (सूत्र पठित) स्तन्भ् धातु के सकार को षकार होता है। दृ=फाड़ना। पूञ्=पवित्र करना, होना। ६—शित् प्रत्यय पर हो तो पूञ्–आदि चौबीस धातुओं को ह्रस्व होता है। लूञ्=

न्यात् । पुनाति-पुनीते । पविता । लूञ् छेदने । लुनाति-लुनीते । स्तॄञ् आच्छादने । स्तृणाति । शर्पूर्वाः खयः । तस्तार । तस्तरतुः । तस्तरुः । तस्तरे । स्तरीता-स्तरिता । स्तृणीयात् । स्तृणीत । स्तीर्यात् ।

लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु ७ । २ । ४२ ॥ [1]वृङ्वृञ्भ्यामॄदन्ताच्च परयोर्लिङ्सिचोरिड् वा स्यात्तङि ।

न लिङि ७ । २ । ३९ ॥ [2]वॄत इटो लिङि न दीर्घः । स्तरिषीष्ट । उश्चेति कित्त्वम् । स्तीर्षीष्ट । सिचि च परस्मैपदेषु । अस्तारीत् । अस्तारिष्टाम् । अस्तारिषुः । अस्तरीष्ट-अस्तरिष्ट-अस्तीर्ष्ट । **कॄञ्** हिंसायाम् । कृणाति-कृणीते । चकार-चकरे । **वॄञ्** वरणे । वृणाति-वृणीते । ववार-ववरे । वरिता-वरीता । उदोष्ठ्येत्युत्वम् । वूर्यात् । वरिषीष्ट-वूर्षीष्ट । अवारीत् । अवारिष्टाम् । अवरिष्ट-अवरीष्ट-अवूर्ष्ट । **धूञ्** कम्पने । धुनाति-धुनीते । धविता-धोता । अधावीत् । अधविष्ट-अधोष्ट । **ग्रह** उपादाने । गृह्णाति । गृह्णीते । जग्राह । जगृहे ।

ग्रहोऽलिटि दीर्घः ७ । २ । ३७ ॥ [3]एकाचो ग्रहेर्विहितस्येटो दीर्घो न तु लिटि । ग्रहीता । गृह्णातु । हलः श्नः शानज्झाविति श्नः शानजादेशः । गृहाण । गृह्णातु । ग्रहीषीष्ट । ह्म्यन्तेति न वृद्धिः । अग्रहीत् । अग्रहीष्टाम् । अग्रहीष्ट । अग्रहीषाताम् । **कुष** निष्कर्षे । कुष्णाति । कोषिता । **अश**—भोजने । अश्नाति । आश । अशिता । अशिष्यति । अश्नातु । अशान । **मुष** स्तेये । मोषिता । मुषाण । **ज्ञा** अवबोधने । जज्ञौ । **वृङ्** सम्भक्तौ । वृणीत ।

गृहाण— ग्रह् धातोर्लोटि, सिपि, सेर्ह्यपिच्चेति सेर्ह्यादेशे, 'क्र्यादिभ्यः श्ना' इति शबपवादके श्ना—प्रत्यये, ङित्वाद् ग्रहिज्येत्यादिना सम्प्रसारणे, 'हलः श्नः शानज्झौ' इति शानजादेशेऽनुबन्धलोपे, नस्य णत्वे, हेर्लुकि च कृते गृहाण इति ।

ग्रहीषीष्टेत्यत्र—'न लिङि' इति दीर्घनिषेधस्तु न, 'वॄतो वा' इत्यस्यैव स बाधक इति नियमात् । एवमेवाग्रहीष्टामित्यत्र 'सिचि च परस्मैपदेषु' इति निषेधो-

---

काटना । स्तॄञ्=ढँकना ।

१—तङ् पर रहते वृङ्, वृञ् एवं ॠदन्त धातुओं से परे लिङ् सिच् को विकल्प से इट् का आगम होता है । २—लिङ् पर मे हो तो वृञ्, वृङ्, और ॠदन्त धातु से किये गये इट् को दीर्घ नहीं होता है । वृञ्–विवाह या यज्ञादि में पति या ऋत्विक् आदि के रूप में स्वीकार करना । ग्रह=ग्रहण करना । ३—लिट् लकार पर में न हो तो, एकाच् ग्रह् धातु से

[illegible]

अथ चुरादयः

[illegible]

…र नास्ति वाच्यम् । अतदार्थान्यत्र 'दान्' इति नियमात् अत्वं न ।

॥ [illegible] ॥

अचूचुरत्--चुर् इत्यस्मात्, 'सत्यापपा [illegible]–' इति णिच्यनुबन्धलोपे 'पुगन्त[illegible] उपधस्य च' इति गुणे 'चोरि' इत्यस्य 'सनाद्यन्ता–' इति धातुत्वाल्लुङि [illegible] अनुबन्धलोपे, लुङ्लङ्-इत्यडागमेऽनुबन्धलोपे, च्लि लुङि इति च्लौ, 'णिश्रिद्रु [illegible]' इति च्लेश्चङि अनुबन्धलोपे, इतश्चेति तिप इकारलोपे, 'णेरनिटि' इति णेर्लोपे, 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इत्युपधाह्रस्वे, 'चङि' इति द्वित्वे अभ्यासादिकार्ये, 'दीर्घो लघोः' इत्यनेन अभ्यासस्य दीर्घे 'अचूचुरत्' इति । तङि 'अचूचुरत' इति ।

…विहित इट् को दीर्घ होता है ।

॥ इति क्र्यादिप्रकरणम् ॥

चुर=चोरी करना ।

१—सत्यापि, पाश, रूप, वीणा, श्लोक, सेना, लोम, त्वच, वर्म, वर्ण, इन प्रातिपदिकों से और चुरादि–गण–पठित धातुओं से णिच् प्रत्यय होता है, स्वार्थ में । २–क्रिया का फल यदि कर्तृगामी (कर्ता में ही समाप्त होनेवाला) हो तो णिच्प्रत्ययान्त धातु से आत्मनेपद होता है । कथ=कहना ।

[illegible] १। १। ५७ ॥ [illegible] तुल्यम् [illegible] वृद्धिः। [illegible] । अग्लोपित्वाद्दी-[illegible] न। अचकथत्।

[illegible]

ई च गणः ७। ४। ९७ ॥ गणयतेरभ्यासस्य ईत्स्यात् चङ्परे णौ, चादत्। अजीगणत्, अजगणत्।

॥ इति चुरादयः ॥

अचः परस्मिन्निति सूत्रार्थसमन्वयः—'कथयति' इत्यत्र परं णिच्, तन्निमित्तक-आदेशोऽकारलोपः, स स्थानिवत्। स्थानिभूतादचः थकारोत्तराकारात्, पूर्वस्मिन् [illegible] विधिर्वृद्धिः [illegible] — इति सूत्रसमन्वयः।

अग्लोपित्वादिति—'सन्वल्लघुनि' इति सन्वद्भावस्तत्रैव यत्र णिनिमित्तक-अग्लोपो न, अत्र तु 'अतो लोपः' णिनिमित्तक इति।

अचकथत्—कथ इत्यस्मात् सत्यापपाशेति णिचि, धातुत्वेन लुङि, तिपि अडागमे, च्लेः कृते 'णिश्रि—' [illegible] 'अतो लोपः' इति थकारोत्तरवर्त्यकारलोपे, णिलोपे, 'चङि' [illegible], कुहोश्चुरिति कस्य चत्वे च कृते 'अचकथत्' इति।

अजीगणत्—इत्यत्र केवलं 'ई च गणः' इत्येव विशेषः। अन्यत्सर्वं समानम्। अदन्तत्वाभावादतो लोपोऽपि न।

॥ इति चुरादिप्रकरणम् ॥

१—स्थानिभूत अच् से पूर्व दृष्ट की विधि (कार्य) करना हो तो पर को निमित्त मानकर होने वाला जो अच् के स्थान मे आदेश है, वह स्थानिवत् होता है। गण=गिनना, संख्याओं का संकलन करना। २—चङ्परक 'णि' पर हो तो 'गण' धातु के अभ्यास को ईकार होता है, चकारात् अकार भी होता है।

॥ इति चुरादिप्रकरणम् ॥

अथ ण्यन्तप्रक्रिया

स्वतन्त्रः कर्ता १ । ४ । ५४ ॥ [1]क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात् ।

तत्प्रयोजको हेतुश्च १ । ४ । ५५ ॥ [2]कर्तुः प्रयोजको हेतुसंज्ञः कर्तृसंज्ञश्च स्यात् ।

हेतुमति च ३ । १ । २६ ॥ [3]प्रयोजकव्यापारे प्रेषणादौ वाच्ये धातोर्णिच् स्यात् । भवन्तं प्रेरयति–भावयति ।

ओः पुयण्ज्यपरे ७ । ४ । ८० ॥ [4]सनि परे यदङ्गं तदवयवाभ्यासोकारस्य इत्स्यात् पवर्ग-यण्-जकारेष्ववर्णपरेषु परतः । अबीभवत् । ष्ठा गतिनिवृत्तौ ।

हेतुमतीति— हेतुः = कर्तुः प्रयोजकाऽस्त्यत्र (व्यापारे) इति हेतुमान् = प्रयोजकव्यापारस्तस्मिन् वाच्ये धातोः (भूवादयो धातवः, सनाद्यन्ता–धातव इति सूत्रद्वयविहित धातु-सञ्ज्ञकेभ्यः) णिच् प्रत्ययो भवति, एतदेवाह–प्रयोजकव्यापारे इति ।

भवन्तं प्रेरयतीति—एव ज्ञेयम्–देवदत्तो भवति, यज्ञदत्तः प्रेरयति इत्यर्थे यज्ञदत्तो देवदत्तं 'भावयति' इति । अत्र देवदत्तः प्रयोज्यो यज्ञदत्तश्च प्रयोजकः । एवं देवदत्तो भवति, भवन्तं तं यज्ञदत्त-राजदत्तौ 'भावयत' इति । एवं देवदत्तो भवति, चैत्र-मैत्र-कृष्णाः प्रेरयन्ति–इत्यर्थे भवन्त देवदत्तं चैत्रमैत्रकृष्णाः 'भावयन्ति' इति । सः भवति त्वं प्रेरयसि–इत्यर्थे तं त्व भावयसि । एवमेव सर्ववचनेषु सर्वलकारेषु च प्रत्ययाः भवन्तीति बोध्यम् । अत्र प्रयोज्यकर्तुः स्वतन्त्रः कर्तेति प्राप्तां कर्तृसंज्ञां प्रबाध्य 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ' इति सूत्रेण कर्मसंज्ञाया 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया क्रियते । तथा चैवमेव सर्वेषां धातूनां विग्रहे क्रमः ज्ञेयः ।

अबीभवत्—'भू' इत्यस्याद्धेतुमति चेति णिच्यनुबन्धलोपे सनाद्यन्तेति धातुत्वे,

---

१—क्रिया (कार्य) मे स्वतन्त्रता से विवक्षित जो अर्थ वह कर्तृ-संज्ञक होता है । जैसे—'देवदत्त पढ़ता है' यहाँ पठन रूप क्रिया में देवदत्त 'कर्ता' है, इसी प्रकार सभी जगह जानना । २—कर्ता का प्रयोजक (प्रेरणा करने वाला) हेतुसंज्ञक तथा कर्तृसंज्ञक भी होता है । जैसे देवदत्त पढ़ता है, यज्ञदत्त प्रेरणा करता है तो यहाँ यज्ञदत्त उसके पढ़ने मे हेतु भी हो रहा है । ३–प्रयोजक प्रेरणा करनेवाले के व्यापार में प्रेरणा अध्येषणा–आदि कोई वाच्य हो तो धातु से णिच् प्रत्यय होता है । ४–अवर्णपरक पवर्ग, यण् या जकार पर हो तो सन् परे रहते अङ्गावयव अभ्यास के उकार को इकार आदेश होता है । ष्ठा चलने से रुकना, ठहरना खड़ा होना, बैठना ।

[1]अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ् णौ ७ । ३ । ३६ ॥ स्थापयति ।

तिष्ठतेरित् ७ । ४ । ५ ॥ [2]उपधाया इदादेशः स्याच्चङ् परे णौ । अतिष्ठिपत् । घट चेष्टायाम् ।

मितां ह्रस्वः ६ । ४ । ९२ ॥ [3]घटादीनां ज्ञपादीनां चोपधाया ह्रस्वः स्याण्णौ । घटयति । ज्ञप ज्ञाने ज्ञापने च । ज्ञपयति । अजिज्ञपत् ।

॥ इति ण्यन्तप्रक्रिया ॥



अथ सन्नन्तप्रक्रिया ।

धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा ३ । १ । ७ ॥ [4]इषिकर्मण इषिणैककर्तृकाद्धातोः सन्प्रत्ययो वा स्यादिच्छायाम् । पठ व्यक्तायां वाचि ।

लुङ्, तिप्, अट्, च्लि—आदिषु कृतेषु "णिश्रिद्रु–' इति च्लेश्चङि—अनुबन्धलोपे, णेरनिटीति णेर्लोपे, चङीति द्वित्वेऽभ्यासत्वे, ह्रस्व इति ह्रस्वे, अभ्यासे चर्चेति भकारस्य बकारे 'अबुभू अति' इति स्थिते वृद्धावादेशे, 'णौ चङि–' इति ह्रस्वे, 'सन्वल्लघुनि–' इति सन्वद्भावे 'ओः पुयण्ज्यपरे' इति अभ्यासोकारस्येत्वे, दीर्घो लघोरित्यभ्यासस्य दीर्घे, इतश्चेति तिप इकारलोपे 'अबीभवत्' इति ।

अतिष्ठिपत्—'ष्ठा' इत्यस्य 'धात्वादेः षः सः' इति षस्य सत्वे, निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाय इति ठकारस्यापि निवृत्तौ 'स्था' इत्यस्मात् 'हेतुमति च' इति णिच्यनुबन्धलोपे, धातुसंज्ञायां लुङ्, तिप्, अट्, च्लि—आदिषु कृतेषु—'अर्तिह्री-व्ली–' इत्यादिना पुक्यनुबन्धलोपे, 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः–' इति च्लेश्चङ्यनुबन्धलोपे, तिष्ठतेरिदिति—उपधाया इकारे, णेर्लुकि, 'चङि' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिः शेषं बाधित्वा 'शर्पूर्वाः खयः' इति थशेषे, अभ्यासस्य चर्त्वे, 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे च कृते 'अतिष्ठिपत्' इति ।

॥ इति ण्यन्तप्रक्रिया ॥



इषिकर्मणः—धातोरर्थाद्धातुमात्रात् सन् प्रत्ययो भवतीच्छायाम् । कीदृशाद्

१—णि पर में हो तो अर्ति, ह्री, व्ली, री, क्नूयी, क्ष्मायी, एवं आदन्तधातुओं को पुक् का आगम होता है । २—चङ्परक णि पर हो तो स्था धातु की उपधा के स्थान में इकार होता है । ३—णि पर हो तो घटादि एवं ज्ञपादि धातुओं की उपधा को ह्रस्व होता है ।

॥ इति ण्यन्तप्रक्रिया ॥



४—इच्छारूपी क्रिया का कर्म होता हुआ इच्छारूपी क्रिया का कर्ता ही कर्ता हो जिसका

सन्यङोः ६ । १ । ९ ॥ [1]सन्नन्तस्य यङन्तस्य च धातोरनभ्यासस्य प्रथमस्यैकाचो द्वे स्तोऽजादेस्तु द्वितीयस्य । सन्यतः । पठितुमिच्छति पिपठिषति । कर्मणः किम् ? गमनेनेच्छति । समानकर्तृकात् किम् ? शिष्याः पठन्त्वितीच्छति गुरुः । वा ग्रहणद्वाक्यमपि । लुङ् सनोर्घस्लृ ।

सः स्यार्धधातुके ७ । ४ । ४९ ॥ [2]सस्य तः स्यात्सादावार्धधातुके । अत्तुमिच्छति जिघत्सति । 'एकाच' इति नेट् ।

अज्झनगमां सनि ६ । ४ । १६ ॥ [3]अजन्तानां हन्तेरजादेशगमेश्च दीर्घो झलादौ सनि ।

इको झल् १ । २ । ९ ॥ [4]इगन्ताज्झलादिः सन् कित् स्यात् । ऋत इद्धातोः । कर्तुमिच्छति चिकीर्षति ।

सनि ग्रहगुहोश्च ७ । २ । १२ ॥ [5]ग्रहेर्गुहेरुगन्ताच्च सन इण् न स्यात् । बुभूषति ।

॥ इति सन्नन्तप्रक्रिया ॥



धातोः ? इषिकर्मणः, इच्छाक्रिया-कर्मभूतात्, पुनश्च इच्छाकर्तृकर्तृकात् । यथा—'पठितुमिच्छति' इति विग्रहे इच्छाक्रियाकर्म—पठनम्, इच्छाक्रियाकर्ता—चैत्रादिः स एव पठनस्यापि । पठनेनेच्छतीत्यत्र पठनस्येच्छाकर्मत्वाभावात् सन् प्रत्ययो न । एवं शिष्याः पठन्त्वितीच्छति गुरुरित्यत्र शिष्याणां पठनकर्तृत्वाद् गुरुश्चेच्छाकर्तृत्वात्समानकर्तृत्वाभावान्न सन् ।

पिपठिषति—पठितुमिच्छतीति विग्रहे 'धातोः कर्मणः—' इत्यादिना पठेः सन् प्रत्यये 'सन्यङोः' इति 'पठ्' इत्यस्य द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये 'सन्यतः' इतीत्वे, 'सनाद्यन्ताः—०' इति सन्नन्तस्य धातुत्वे लट्—तिप्—शप्—पररूपादिषु कृतेषु सस्य षत्वे 'पिपठिषति' इति ।

बुभूषति—भवितुमिच्छतीति विग्रहे 'धातोः कर्मणः—' इति सनि, आर्धधातुक-

ऐसे धातु से सन् प्रत्यय होता है विकल्प से, इच्छारूपी अर्थ गम्यमान हो तब । पठ=पढ़ना ।

१—सन्नन्त एवं यङन्त धातुओं के प्रथम एकाच् को द्वित्व होता है तथा अजादि धातुओं के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है । पिपठिषति–पढ़ना चाहता है । २—सादि आर्धधातुक पर हो तो सकार के स्थान में तकार होता है । जिघत्सति=भक्षण करना चाहता है । ३—झलादि सन् प्रत्यय पर हो तो अजन्त धातु हन् धातु, एवं अजादेश गम् धातु को दीर्घ होता है । ४—इगन्त (इक् है अन्त में जिसके ऐसे) धातु से परे झलादि सन् कित् होता है । चिकीर्षति=करना चाहता है । ५—ग्रह्, गुह्, एवं उगन्त धातु से परे सन् को

अथ यङन्तप्रक्रिया ।

धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् ३ । १ । २२ ॥ [1]पौनःपुन्ये भृशार्थे च द्योत्ये धातोरेकाचो हलादेर्यङ् स्यात् ।

गुणो यङ्लुकोः ७ । ४ । ८२ ॥ [2]अभ्यासस्य गुणो यङि यङ्लुकि परतः। ङिदन्तत्वादात्मनेपदम् । पुनः पुनरतिशयेन वा भवति बोभूयते । बोभूयाञ्चक्रे । अबोभूयिष्ट ।

नित्यं कौटिल्ये गतौ ३ । १ । २३ ॥ [3]गत्यर्थात्कौटिल्य एव यङ् स्यान्न तु क्रियासमभिहारे ।

दीर्घोऽकितः ७ । ४ । ८३ ॥ [4]अकितोऽभ्यासस्य दीर्घः स्याद्यङ्यङ्लुकोः । कुटिलं व्रजति-वाव्रज्यते ।

स्येड् वलादेरिति प्राप्तस्येटः सनि ग्रहगुहोश्चेति निषेधे, इको झलीति कित्वेन गुणस्यापि निषेधे, सन्यङोरिति द्वित्वेऽभ्यासत्वे ह्रस्वे, अभ्यासे चर्चेति चर्त्वे, जश्त्वे, सस्य षत्वे बुभूष इत्यस्य सनाद्यन्तेति धातुसंज्ञायां लट्–तिप्–शप्–परस्मादिषु कृतेषु 'बुभूषति' इति ।

॥ इति सन्नन्तप्रक्रिया ॥



बोभूयते—अतिशयेन पुनः पुनर्वा भवतीति विग्रहे भूधातोः 'धातोरेकाचो–' इति यङि, 'सन्यङोः' इति द्वित्वे, अभ्यासत्वेऽभ्यासस्य ह्रस्वे जश्त्वे, 'गुणो यङ्लुकोः' इति गुणे च कृते 'बोभूय' इत्यस्य धातुसंज्ञायां ङित्वादात्मनेपदत्वेन तप्रत्यये, शबादिकार्ये कृते 'बोभूयते' इति । स्मारं स्मारमितिवत् 'बोभूयते' इत्यस्य द्वित्वं तु न 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति न्यायेन यङा उक्तत्वात् ।

इट् नहीं होता है । बुभूषति=होना चाहता है ।

॥ इति सन्नन्तप्रक्रिया ॥



१—पौनः पुन्य (बारम्बार) भृश (अत्यधिक) अर्थ द्योत्य (गम्यमान) हो तो एकाच् हलादि धातु से यङ् प्रत्यय होता है । २—यङ् पर हो या यङ्लुक् का विषय हो तो अभ्यास को गुण होता है । बोभूयते=बारम्बार या अत्यन्त हो रहा है । ३—गत्यर्थक धातुओं से कौटिल्य (टेढ़े) अर्थ से ही यङ् प्रत्यय होता है, क्रियासमभिहार (बारम्बार) करने अर्थ में नहीं होता । ४—यङ् प्रत्यय पर हो या यङ्लुक् का विषय हो तो किद् भिन्न अभ्यास को दीर्घ होता है । वाव्रज्यते=टेढ़ा जा रहा है ।

यस्य हलः ६ । ४ । ४९ ॥ [1]यस्येति संघातग्रहणम् । हलः परस्य य-शब्दस्य लोपः स्यादार्धधातुके । आदेः परस्य । अतो लोपः । वाव्रजाञ्चक्रे । वाव्रजिता ।

रीगृदुपधस्य च ७ । ४ । ९० ॥ [2]ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य रीगागमो यङ्यङ्लुकोः । वरीवृत्यते । वरीवृताञ्चक्रे । वरीवर्तिता ।

क्षुभ्नादिषु च ८ । ४ । ३९ ॥ [3]णत्वं न । नरीनृत्यते । जरीगृह्यते ।

॥ इति यङन्तप्रक्रिया ॥



अथ यङ्लुक्प्रक्रिया ।

यङोऽचि च २ । ४ । ७४ ॥ [4]यङोऽचि प्रत्यये लुक् स्यात्, चकारात्तं विनाऽपि क्वचित् । अनैमित्तिकोऽयमन्तरङ्गत्वादादौ भवति । प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वाद् द्वित्वम् । अभ्यासकार्यम् । धातुत्वाल्लडादयः । शेषात्कर्तरीति परस्मैपदम् । चर्करीतं चेत्यदादौ पाठाच्छपो लुक् ।

यङो वा ७ । ३ । ९४ ॥ [5]यङ्लुगन्तात्परस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्येड् वा स्यात् । भूसुवोरिति गुणनिषेधो यङ्लुकि भाषायां न, 'बोभूतु तेतिक्ते' इति छन्दसि निपातनात् । बोभवीति—बोभोति । बोभूतः ।

बोभवीति—बोभोति—अतिशयेन पुनःपुनर्वा भवतीति विग्रहे भूधातोः 'धातोरेकाचः–' इति यङि, द्वित्वापेक्षयान्तरङ्गत्वात्पूर्वं यङोऽचि चेति यङो लुकि, प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वमाश्रित्य 'भू' इत्यस्य द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये कृते 'बोभू' इत्यस्य धातुसंज्ञायां लटि, शेषात्कर्तरीति सहकारेण लटः परस्मैपदमिति परस्मैपदे तिपि, शपि, यङ्लुग्बोधक 'चर्करीत' शब्दस्यादादिपाठाच्छपो लुकि, 'यङो वा' इति—

१—आर्धधातुक पर हो तो हल् से परे 'य' शब्द का लोप होता है । २—यङ् पर हो या यङ्लुक का विषय हो तो ऋदुपधक (ऋत् उपधा वाले) धातु के अभ्यास को रीक् आगम होता है । वरीवृत्यते=बार-बार या अत्यन्त वर्तता है । ३—क्षुभ्नादिगण पठित धातुओं के नकार को णकार होता है । नरीनृत्यते=बारबार या अत्यन्त नाचता है । जरीगृह्यते=बारम्बार या अत्यन्त ग्रहण करता है ।

॥ इति यङन्तप्रक्रिया ॥



४—अच् प्रत्यय पर हो तो यङ् का लोप होता है, चकारात्—कहीं-कहीं अच् प्रत्यय के बिना भी लोप होता है । ५—यङ् लुगन्त से परे हलादि पित् सार्वधातुक को ईट्

अदभ्यस्तात् । बोभुवीति । बोभवाञ्चकार । बोभवामास । बोभविता । बोभविष्यति । बोभवीतु–बोभोतु–बोभूतात् । बोभूताम् । बोभुवतु । बोभूहि । बोभवानि । अबोभवीत्-अबोभोत् । अबोभूताम् । अबोभवुः । बोभूयात् । बोभूयाताम् । बोभूयुः । बोभूयात् । बोभूयास्ताम् । बोभूयासुः । गातिस्थेति सिचो लुक् । यङो वेतीट्पक्षे गुणं बाधित्वा नित्यत्वाद् वुक् । अबोभूवीत्–अबोभोत् । अबोभूताम् । अबोभूवुः । अबोभविष्यत् ।

॥ इति यङ्लुक्प्रक्रिया ॥



अथ नामधातवः ।

सुप आत्मनः क्यच् ३ । १ । ८ ॥ [1]इषिकर्मण एषितुः सम्बन्धिनः सुबन्तादिच्छायामर्थे क्यच् प्रत्ययो वा स्यात् ।

ईड्विकल्पे गुणावादेशयोः कृतयोः 'बोभवीति' इति । ईडभावे 'बोभोति' इति । अत्र 'भूसुवोस्तिङि' इति गुणनिषेधस्तु न 'बोभोतु' इति छन्दसि गुणस्य निपातनेन लोके यङ्लुकि गुणस्येष्टत्वात् ।

अबोभूवीत्—भूधातोरेकाच–' इति यङि, यङो लुकि, प्रत्ययलक्षणेन सन्यङोरिति द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये, अभ्यासगुणे, ततो धातुसंज्ञायां लुङि, अटि, च्लौ, सिचि कृते गातिस्थेति सिचो लुकि, 'यङो वा' इति वैकल्पिके 'ईटि' अनुबन्धलोपे, नित्यत्वाद् गुणं बाधित्वा 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' इति वुक्यनुबन्धलोपे, इतश्चेति तिप इकारलोपे 'अबोभूवीत्' इति । ईडभावे गुणे च कृते 'अबोभोत्' इति ।

॥ इति यङ्लुक्प्रक्रिया ॥



इषिकर्मण इत्यादि—इच्छाक्रियाकर्तृसम्बधिनः इच्छाक्रियाकर्मीभूतात्सुबन्तादिच्छायामर्थे क्यच् प्रत्ययो भवतीति स्पष्टार्थः । समन्वयो यथा—आत्मनः पुत्रमिच्छति इत्यत्र 'पुत्रम्' सुबन्तमिच्छा-कर्तृ तथा इच्छाक्रियाकर्म च, तत्र द्वितीयान्तात्क्यच् । यत्र तु परस्य पुत्रमिच्छतीति विग्रहस्तत्र पुत्रस्य परसम्बन्धित्वात् क्यच् न ।

विकल्प से होता है । बोभवीति=बारम्बार या उत्तम प्रकार से हो रहा है ।

॥ इति यङ्लुक्प्रक्रिया ॥



१—इष् (इषु इच्छायाम्) धातु का कर्म और इच्छा करनेवाले का सम्बन्धी जो सुबन्त उससे इच्छा अर्थ में क्यच् प्रत्यय होता है विकल्प से ।

सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २ । ४ । ७२ ॥ [1]एतयोरवयवस्य सुपो लुक् ।

क्यचि च ७ । ४ । ३३ ॥ [2]अवर्णस्य ईत्स्यात् । आत्मनः पुत्रमिच्छति पुत्रीयति ।

नः क्ये १ । ४ । १५ ॥ [3]क्यचि क्यङि च नान्तमेव पदं नाऽन्यत् । नलोपः । राजीयति । नान्तमेवेति किम् ? वाच्यति । हलि च । गीर्यति । पूर्यति । धातोरित्येव । नेह—दिवमिच्छति दिव्यति ।

क्यस्य विभाषा ६ । ४ । ५० ॥ [4]हलः परयोः क्यच्क्यङोर्लोपो वाऽऽर्धधातुके । आदेः परस्य । अतो लोपः । तस्य स्थानिवत्त्वाल्लघूपधगुणो न । समिधिता । समिध्यिता ।

काम्यच्च ३ । १ । ९ ॥ [5]उक्तविषये काम्यच् स्यात् । पुत्रमात्मन इच्छति पुत्रकाम्यति । पुत्रकाम्यिता ।

उपमानादाचारे ३ । १ । १० ॥ [6]उपमानात्कर्मणः सुबन्तादाचारेऽर्थे क्यच् । पुत्रमिवाचरति पुत्रीयति छात्रम् । विष्णूयति द्विजम् । ॐ[7]**सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः** । अतो गुणे । कृष्ण इवाचरति कृष्णति ।

एवं पुत्रेणेच्छतीत्यत्रापि न पुत्रस्येच्छाकर्मत्वाभावात् ।

पुत्रीयति—आत्मनः पुत्रमिच्छति—इति लौकिकविग्रहे 'पुत्र अम्' इत्यस्मात् 'सुप आत्मनः क्यच्' इति क्यचि, अनुबन्धलोपे, सनाद्यन्तेति धातुत्वे सुपो धातुप्रातिपदिकयोरिति सुपो (अमो) लुकि, 'क्यचि च' इति—ईत्वे, धातुत्वाल्लट्—तिप्—शबादिषु कृतेषु 'पुत्रीयति' इति ।

१—धातु एवं प्रातिपदिक के अवयव सुप् का लोप होता है । २—क्यच् प्रत्यय पर हो तो अवर्ण को 'ईकार' आदेश होता है । पुत्रीयति=अपने वास्ते पुत्र की इच्छा करता है । ३—क्यच् या क्यङ् प्रत्यय पर हो तो नान्त की पदसंज्ञा होती है अन्य की नहीं । गीर्यति=अपने लिये वाणी चाहता है । पूर्यति=अपने लिये पू: (नगरी, गाँव) चाहता है । दिव्यति=अपने लिये स्वर्ग चाहता है । ४—आर्धधातुक पर हो तो हल् से परे जो क्यच् उसका लोप विकल्प से होता है । समिध्यति=अपने लिये लकड़ी चाहता है । ५—उक्त विषय में (इष् धातु का कर्म हो, इच्छा कर्ता का सम्बन्धी हो तद्वाचक सुबन्त से इच्छा अर्थ में) क्यच् प्रत्यय होता है । पुत्रकाम्यति—अपने वास्ते पुत्र चाहता है । ६—उपमानवाचक कर्मसंज्ञक सुबन्त से आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय होता है । पुत्रीयति छात्रम्=शिष्य को पुत्र के समान मानता है । विष्णूयति द्विजम्—ब्राह्मण को विष्णु की तरह मानता है । ७—प्रातिपदिकमात्र से आचार अर्थ में विकल्प से क्विप् प्रत्यय होता है । कृष्णति=कृष्ण

स्व इवाचरति स्वति । सस्वौ ।

अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति ६ । ४ । १५ ॥ [1]अनुनासिकान्तस्योपाधाया दीर्घः स्यात्क्वौ झलादौ च क्ङिति । इदमिवाचरति इदामति । राजेव राजानति । पन्था इव पथीनति ।

कष्टाय क्रमणे ३ । १ । १४ ॥ [2]चतुर्थ्यन्तात्कष्टशब्दादुत्साहेऽर्थे क्यङ् स्यात् । कष्टाय क्रमते कष्टायते । पापं कर्तुमुत्सहत इत्यर्थः ।

शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे ३ । १ । १७ ॥ [3]एभ्यः कर्मभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् स्यात् । शब्दं करोति शब्दायते । [ग. सू.] [4]**तत्करोति तदाचष्टे**—इति णिच् । [5]**प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च** । प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे णिच् स्यात्, इष्ठे यथा–प्रातिपदिकस्य पुंवद्भाव-रभाव-टिलोप-विन्मतुब्लोपयणादिलोप—प्रस्थस्फाद्यादेश—भसंज्ञास्तद्वण्णावपि स्युः । इत्यल्लोपः । घटं करोत्याचष्टे वा–घटयति ।

॥ इति नामधातवः ॥



पुंवद्भावरभावेत्यादि—उदाहरणानि—पुंवद्भावस्य—पट्वीमाचष्टे पटयति, भसंज्ञाया अपि इदमेव । रभावस्य—दृढमाचष्टे द्रढयति । टिलोपस्य–पटुमाचष्टे पटयति । विनो लुकि–स्रग्विणमाचष्टे स्रजयति । मतुब्लुकि–श्रीमन्तं करोति श्रायति । यणादिलोपे–स्थूलमाचष्टे स्थवयति, दूरं करोति दवयति । प्रादेशस्य–प्रियमाचष्टे प्रापयति । स्थादेशस्य–स्थिरं करोति स्थापयति । स्फादेशस्य–स्फिरमाचष्टे स्फापयति ।

के समान आचरण करता है । स्वति=अपने सदृश मानता है ।

१—क्विप् और झलादि कित् ङित् पर हो तो अनुनासिकान्त की उपधा को दीर्घ होता है । इदामति=इसके समान व्यवहार करता है । राजानति—राजा जैसा व्यवहार करता है । पथीनति–मार्ग सा मानता है । २—चतुर्थ्यन्त कष्ट शब्द से उत्साह अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है । कष्टायते पाप करना चाहता है । ३—कर्मवाचक शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व, मेघ–शब्दों से 'करोति' अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है । ४—द्वितीयान्त से 'करोति' एवं 'आचष्टे' अर्थ में णिच् प्रत्यय होता है । ५—प्रातिपादिक से धात्वर्थ में 'णिच्' प्रत्यय होता है, वह बहुलता से इष्ठवत् होता है । (इष्ठन् प्रत्यय के पर रहने पर जो कार्य होते हैं, वे णिच् पर रहते भी होते हैं) ।

॥ इति नामधातवः ॥



अथ कण्ड्वादयः ।

कण्ड्वादिभ्यो यक् ३ । १ । २७ ॥ [१]एभ्यो धातुभ्यो नित्यं यक् स्यात्स्वार्थे । कण्डूञ् गात्रविघर्षणे । कण्डूयति । कण्डूयते–इत्यादि ।

॥ इति कण्ड्वादयः ॥



अथात्मनेपदप्रक्रिया ।

कर्तरि कर्मव्यतिहारे १ । ३ । १४ ॥ [२]क्रियाविनिमये द्योत्ये कर्तर्यात्मनेपदम् । व्यतिलुनीते । अन्यस्य योग्यं लवनमन्यः करोतीत्यर्थः ।

न गतिहिंसार्थेभ्यः १ । ३ । १५ ॥ [३]व्यतिगच्छन्ति । व्यतिघ्नन्ति ।

नेर्विशः १ । ३ । १७ ॥ [२]निविशते ।

परिव्यवेभ्यः क्रियः १ । ३ । १८ ॥ [४]परिक्रीणीते । विक्रीणीते । अवक्रीणीते ।

विपराभ्यां जेः १ । ३ । १९ ॥ [५]विजयते । पराजयते ।

समवप्रविभ्यः स्थः १ । ३ । २२ ॥ [६]सन्तिष्ठते । अवतिष्ठते । प्रतिष्ठते । वितिष्ठते ।

अपह्नवे ज्ञः १ । ३ । ४४ ॥ [७]शतमपजानीते । अपलपतीत्यर्थः ।

अकर्मकाच्च १।३।४५॥ [८]सर्पिषो जानीते । सर्पिषोपायेन प्रवर्तते इत्यर्थः ।

उदश्चरः सकर्मकात् १ । ३ । ५३ ॥ [९]धर्ममुच्चरते । उल्लङ्घ्य गच्छतीत्यर्थः ।

न गतिहिंसार्थेभ्य—गत्यर्थकेभ्यो हिंसार्थेभ्यश्च कर्मव्यतिहारे आत्मनेपदं न ।

१—कण्ड्वादिगणपठित धातुओं से स्वार्थ में 'यक्' प्रत्यय नित्य ही होता है ।

॥ इति कण्ड्वादयः ॥



२—क्रिया का विनिमय (अदल-बदल) द्योत्य (गन्यमान) हो तो, धातु से कर्ता अर्थ में आत्मनेपद होता है। ३—गत्यर्थक एवं हिंसार्थक धातुओं से कर्मव्यतिहार अर्थ में आत्मनेपद नहीं होता है । ४—'नि' उपसर्ग से युक्त विश् धातु से आत्मनेपद होता है । ३—परि, वि या अव उपसर्ग पूर्वक क्रीञ् धातु से आत्मनेपद होता है । ५—वि या परा उपसर्ग से युक्त 'जि' धातु से आत्मनेपद होता है । ६—सम्, अव, प्र, वि उपसर्ग से युक्त स्था धातु से आत्मनेपद होता है । ७—अपह्नव (छिपाने) अर्थ में ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है । शतमपजानीते–सौ रुपया छिपा रहा है । ८—अकर्मक ज्ञा धातु से भी आत्मनेपद होता है । सर्पिषो जानीते–घी के बहाने से प्रवृत्त हो रहा है । ९—उत् पूर्वक सकर्मक चर् धातु से आत्मनेपद होता है ।

समस्तृतीयायुक्तात् १ । ३ । ५४ ॥ [1]रथेन सञ्चरते ।

दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे १ । ३ । ५५ ॥ [2]सम्पूर्वाद्दाणस्तृतीयान्तेन युक्तादुक्तं स्यात्, तृतीया चेच्चतुर्थ्यर्थे । दास्या संयच्छते कामी ।

पूर्ववत्सनः १ । ३ । ६२ ॥ [3]सनः पूर्वो यो धातुस्तेन तुल्यं सन्नन्तादप्यात्मनेपदं स्यात् । एदिधिषते ।

हलन्ताच्च १ । २ । १० ॥ [4]इक्समीपाद्धलः परो झलादिः सन् कित्स्यात् । निविविक्षते ।

गन्धनाऽवक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः १ । ३ । ३२ ॥ [5]**गन्धनं**—सूचनम् । उत्कुरुते । सूचयतीत्यर्थः । **अवक्षेपणं**—भर्त्सनम् । [6]श्येनो वर्तिकामुत्कुरुते । भर्त्सयतीत्यर्थः [7]हरिमुपकुरुते । सेवते इत्यर्थः । [8]परदारान्प्रकुरुते । तेषु सहसा प्रवर्तते । [9]एधो दकस्योपस्कुरुते । गुणमाधत्ते । [10]कथाः प्रकुरुते । प्रकथयतीत्यर्थः । [11]शतं प्रकुरुते । धर्मार्थं विनियुङ्क्ते । एषु किम् ? कटं करोति ।

भुजोऽनवने १।३।६६ ॥ [12]ओदनं भुङ्क्ते । अनवने किम् ? महीं भुनक्ति ।

॥ इत्यात्मनेपदप्रक्रिया ॥



समस्तृतीयायुक्तात्—तृतीयान्तेन युक्तात्सम्पूर्वाच्चरतेरात्मनेपद स्यात् ।

गन्धनेति—गन्धनाद्यर्थेषु कृञ आत्मनेपदं स्यात् ।

॥ इत्यात्मनेपदक्रिया ॥



१—तृतीयान्त से युक्त सम्-पूर्वक चर् धातु से आत्मनेपद होता है । रथेन सञ्चरते=रथ से घूमता है । २—तृतीया विभक्ति चतुर्थी के अर्थ में यदि प्रयुक्त हो तो उस तृतीयान्त से युक्त सम्-पूर्वक दाण् धातु से आत्मनेपद होता है । दास्या संयच्छते कामी=कामुक मनुष्य दासी को धन दे रहा है । ३—सन् से पूर्व जो धातु उसके तुल्य सन्नन्त से भी आत्मनेपद होता है । एदिधिषते-बढ़ना चाहता है । ४—इक् के समीप हल् से झलादि सन् प्रत्यय कित् संज्ञक होता है । निविविक्षते-प्रविष्ट होना चाहता है । ५-गन्धन (चुगुलखोरी), अवक्षेपण (भय देना), सेवन, साहसिक्य (बलात्कार), प्रतियत्न (गुणग्राहकता), प्रकथन, उपयोग (धर्मार्थदानादि) अर्थों में कृ धातु से आत्मनेपद होता है । उत्कुरुते—चुगुली करता है । ६—बाज (अन्य) पक्षीपर झपटता है । ७—हरि की सेवा करता है । ८—दूसरे की स्त्री के साथ बलात्कार करता है । ९—काठ जल का गुण लेता है । १०—कथा कहता है । ११—सौ या सैकड़ों रुपया धर्मार्थ करता है । १२-भुज् धातु से भोजन अर्थ में आत्मनेपद होता है ।

॥ इत्यात्मनेपदप्रक्रिया ॥



अथ परस्मैपदप्रक्रिया ।

अनुपराभ्यां कृञः १ । ३ । ७९ ॥ [1][अनुपराभ्यां कृञः] कर्तृगे च फले गन्धनादौ च परस्मैपदं स्यात् । अनुकरोति । पराकरोति ।

अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः १ । ३ । ८० ॥ [2]क्षिप प्रेरणे । स्वरितेत् । अभिक्षिपति ।

प्राद्वहः १ । ३ । ८१ ॥ [3]प्रवहति ।

परेर्मृषः १ । ३ । ८२ ॥ [4]परिमृषति ।

व्याङ्परिभ्यो रमः १ । ३ । ८३ ॥ [5]रमु क्रीडायाम् । विरमति ।

उपाच्च १ । ३ । ८४ ॥ यज्ञदत्तमुपरमति । [6]उपरमयतीत्यर्थः । अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम् ।

॥ इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥ इति पदव्यवस्था ॥



अनुपराभ्यामिति—आभ्यां कृञः परस्मैपदं स्यात् ।

अभिप्रति—इत्यादिभ्यः परस्मात् क्षिपः परस्मैपदं स्यात् ।

परेर्मृष इति—परिपूर्वान्मृषतेः परस्मैपदं स्यात् ।

व्याङ्परीति—एभ्यो रमतेः परस्मैपदं स्यात् ।

विरमति—विपूर्वक-रम्-धातोर्लटि, तस्य व्याङ्परिभ्य इति परस्मैपदे कृते तिप्-शबादिना तस्य सिद्धिः । **उपाच्चेति**—उपाद्रमतेः परस्मैपदं स्यात् ।

॥ इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥



१—क्रिया का फल कर्ता में जाय और गन्धनावक्षेपण-आदि कोई अर्थ गम्यमान हो तो अनु या परा उपसर्ग से युक्त कृ धातु से परस्मैपद होता है । २—अभि, प्रति या अति पूर्वक क्षिप् धातु से परस्मैपद होता है । अभिक्षिपति=फेंकता है । ३—प्र उपसर्ग से परे वह् धातु से परस्मैपद होता है । प्रवहति=बहता है । ४—परि उपसर्ग से परे मृष् धातु से परस्मैपद होता है । परिमृषति=सहन करता है । ५—वि, आङ् या परि उपसर्ग से परे रम् धातु से परस्मैपद होता है । ६—उप उपसर्ग से परे रम् धातु से परस्मैपद होता है ।

॥ इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥



अथ भावकर्मप्रक्रिया ।

भावकर्मणोः १।३।१३ ॥ [1][भावे कर्मणि च धातोः] लस्यात्मनेपदम् ।

सार्वधातुके यक् ३ । १ । ६७ ॥ [2]धातोर्यक् भावकर्मवाचिनि सार्वधातुके । **भावः**—क्रिया । सा च भावार्थकलकारेणानूद्यते । युष्मदस्मद्भ्यां सामानाधिकरण्याऽभावात्प्रथमः पुरुषः । तिङ्वाच्यक्रियाया अद्रव्यरूपत्वे द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादि, किं त्वेकवचनमेवोत्सर्गतः । त्वया मया अन्यैश्च भूयते । बभूवे ।

स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च ६ । ४ । ६२ ॥ [3]उपदेशे योऽच् तदन्तानां हनादीनां च चिणीवाङ्-

---

इदमत्र ध्येयम्—एतावत्पर्यन्तं धातुभ्यः कर्तरि लकारानभिधायेदानीमकर्मकेभ्यो भावे सकर्मकेभ्यः कर्मणि च लकारं विधातुं प्रकरणस्यारम्भः ।

भावकर्मणोः—भावे कर्मणि च यो लस्तस्यात्मनेपदम् स्यात् ।

भाव इति—नन्वकर्मकधातुभ्यो भावे 'लः' क्रियते, तत्र भावपदार्थः क इति चेत् ? भावः क्रिया भावना व्यापार इति पर्यायशब्दाः । ननु सर्वेषां धातूनां क्रियावाचित्वाद्धातुमात्रस्य भावरूपोऽर्थः, स च धातुनैव लब्धः, पुनस्तदर्थे लकारविधानं किमर्थमिति चेच्छृणु—यो हि भावो धातुनोच्यते स एव लकारेणानूद्यते न तु लकारस्य तद्भिन्नभावोऽर्थः । ननु भावे लकारे प्रथममध्यमोत्तमपुरुषमध्ये कस्य प्रयोग इति चेच्छृण्वन्तु । तिङ्वाच्यकारकवाचिनोर्युष्मदस्मदोः सत्त्वे एव मध्यमोत्तमयोः प्रयोगः, भावे तु तिङ्वाच्यकारकाभावेन तयोर्न प्रयोगः । तर्हि प्रथमपुरुषस्यैव सर्वाणि वचनानि भवेयुरितीदमपि न, तेनानूद्यमानस्य भावस्याद्रव्यरूपत्वाद् द्वित्वाद्यभावात्प्रथमपुरुषस्यापि द्विवचन—बहुवचने न स्याताम् । एकवचनस्याभावत्वं तु न शङ्क्यम्, भावे प्रत्यये सर्वत्रौत्सर्गिकैकवचनस्य स्वीकारात् । तथा च भावे लकारे कृते 'कर्ता' अनुक्तो भवतीति कर्तरि तृतीया, सर्वलकारेषु प्रथमपुरुषैकवचनञ्च । यथोदाहरणम् त्वया मया अन्यैश्च भूयते इति । कर्मणि लकारे तु कर्मण उक्तत्वात्तत्र प्रथमा, कर्तुश्चानुक्तत्वात्तत्र तृतीया, परन्तु कर्मणोऽनुसारेणैव सर्वेषां पुरुषाणां वचनानाञ्च प्रयोगः, यथा—चैत्र आनन्दमनुभवतीति 'चैत्रेणानन्दोऽनुभूयते' । चैत्रस्त्वामनुभवतीति 'चैत्रेण त्वमनुभूयते' मैत्रो मामनुभवतीति 'मैत्रेणाहमनुभूये' इत्यादि ।

१—भाव एवं कर्म में प्रत्यय होने पर धातु के लकार को आत्मनेपद होता है । २—भाव या कर्म-वाची सार्वधातुक पर हो तो धातु से यक् प्रत्यय होता है । ३—लकार यदि भाव

गकार्यं वा स्यात्स्यादिषु भावकर्मणोर्गम्यमानयोः स्यादीनामिडागमश्च। चिण्वद्भावपक्षेऽयमिट्। चिण्वद्भावाद्वृद्धिः। भाविता-भविता। भाविष्यते-भविष्यते। भूयताम्। अभूयत। भूयेत। भाविषीष्ट-भविषीष्ट।

चिण् भावकर्मणोः ३।१।३६॥ [1]च्लेश्चिण् स्याद्भावकर्मवाचिनि तशब्दे परे। अभावि। अभाविष्यत। अभविष्यत।

अकर्मकोऽप्युपसर्गवशात्कर्मकः। अनुभूयते आनन्दश्चैत्रेण त्वया मया च। अनुभूयेते। अनुभूयन्ते। त्वमनुभूयसे। अहमनुभूये। अन्वभावि। अन्वभाविषाताम्-अन्वभविषाताम्। णिलोपः। भाव्यते। भावयाञ्चक्रे। भावयाम्बभूवे। भावयामासे। चिण्वदिट्। आभीयत्वेनाऽसिद्धत्वाण्णिलोपः। भाविता-भावयिता। भाविष्यते-भावयिष्यते। अभाव्यत। भाव्येत। भाविषीष्ट-भावयिषीष्ट। अभावि। अभाविषाताम्-अभावयिषाताम्। बुभूष्यते। बुभूषाञ्चक्रे। बुभूषिता। बुभूषिष्यते। बोभूय्यते। बोभूयते। अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः। स्तूयते विष्णुः। स्ताविता-स्तोता। स्ताविष्यते-स्तोष्यते। अस्तावि। अस्ताविषाताम्-अस्तोषाताम्।

भाविता-भविता—भूधातोर्भावे लुटि, तस्य तादेशे, स्यतासीति तासि 'भू तास् त' इति स्थिते, 'स्यसिच्—' इति चिण्वद्भावे, तासेरिडागमे च, चिण्वद्भावाद् वृद्धावादेशे च 'भावि तास् त' इति जाते तस्य डादेशे, टिलोपे 'भाविता' इति। चिण्वद्भावाभावपक्षे 'आर्धधातुकस्य—' इतीटि गुणादि कृते 'भविता' इति।

भाव्यते इति—अत्रेदं ध्येयम्—अकर्मधातुभ्यो यत्र हेतुमण्णिच् तत्र णिजन्तावस्थायां प्रयोज्यस्य 'गतिबुद्धि०' इति कर्मत्वं, प्रयोजकस्य कर्तृत्वम्। एवञ्च णिच्यकर्मकाणां सकर्मकत्वम्, तत्र प्रयोज्यकर्मणि प्रत्यये तस्य प्रथमान्तता, प्रयोजकस्य तृतीयान्तता। यथा—'देवदत्तो यज्ञदत्तं भावयति' 'देवदत्तेन यज्ञदत्तो भाव्यते'। चैत्रस्त्वां भावयति-चैत्रेण त्वं भाव्यसे। चैत्रो मां भावयति-चैत्रेणाहं भाव्ये इत्यादि।

भाविता-भावयिता—ण्यन्ताद् भावयतेः कर्मणि लुटि त-तासादि कार्ये कृते

या कर्म में हुआ हो और स्य, सिच्, सीयुट् या तास् प्रत्यय पर हों तो, उपदेश में जो अच् तदन्त जो धातु उनको एवं हन्, ग्रह्, दृश्-धातुओं को विकल्प से चिण्वत् 'चिण् के सदृश' अङ्गकार्य होता है एवं स्यादियों को इट् का आगम भी होता है।

१—भाव-कर्म-वाची 'त' शब्द पर हो तो च्लि के स्थान में चिण् होता है। अनुभूयते =अनुभव किया जाता है।

ऋ गतौ । गुणोऽर्तीति गुणः । अर्यते । स्मृ स्मरणे । स्मर्यते । सस्मरे । उपदेशग्रहणाच्चिण्वदिट् । आरिता–अर्ता । स्मारिता–स्मर्ता । अनिदिताम् इति नलोपः । स्रस्यते । इदितस्तु नन्द्यते । सम्प्रसारणम्–इज्यते ।

तनोतेर्यकि ६ । ४ । ४४ ॥ [1][तनोतेर्यकि] आकारोऽन्तादेशो वा स्यात् । तायते-तन्यते ।

तपोऽनुतापे च ३ । १ । ६५ ॥ [2]तपश्च्लेश्चिण् न स्यात् कर्मकर्तर्यनुतापे च । अन्वतप्त पापेन । घुमास्थेतीत्त्वम् । दीयते । धीयते । ददे ।

आतो युक् चिण्कृतोः ७ । ३ । ३३ ॥ [3]आदन्तानां युगागमः स्याच्चिणि ञ्णिति कृति च । दायिता-दाता । दायिषीष्ट-दासीष्ट । अदायिषाताम् । भज्यते ।

भञ्जेश्च चिणि ६ । ४ । ३३ ॥ [4]नलोपो वा स्यात् । अभाजि–अभञ्जि । लभ्यते ।

विभाषा चिण्णमुलोः ७ । १ । ६९ ॥ [5]लभेर्नुमागमो वा स्यात् । अलम्भि–अलाभि ।

॥ इति भावकर्मप्रक्रिया ॥

'भावि तास् त' इति स्थिते, 'स्यसिच्सीयुट्' इति चिण्वद्भावे इटि च कृते 'भावि इ तास् त' इति दशायाम् असिद्धवदत्राभादिति चिण्वदिटोऽसिद्धत्वेनेट्परत्वाभावात् णेरनिटीति णेर्लोपे, 'लुटः प्रथमस्य–' इति डादेशे टिलोपे च कृते 'भाविता' इति । चिण्वद्भावपक्षे 'आर्धधातुकस्य– इति—इट्यनुबन्धलोपेऽत्र पक्षे णिलोपाभावे गुणायादेशयोः कृतयोः 'भावयिता' इति ।

उपदेशग्रहणादिति—अयम्भावः ऋधातोर्लुटि 'ऋ तास् त' इति स्थिते परत्वात् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे कृतेऽजन्तत्वाभावाच्चिण्वद्भावो न स्यादिति न शङ्क्यम्, 'उपदेशे ऋ' इत्यस्याजन्तत्वेन सम्प्रति हलन्तत्वेऽपि तस्य प्रवृत्तेः ।

॥ इति भावकर्मप्रक्रिया ॥

१—यक् प्रत्यय पर हो तो तन् धातु को आकार अन्तादेश होता है, विकल्पसे । २—कर्मकर्तृ 'कर्म ही हो कर्ता जिसमें ऐसे' या अनुताप अर्थ गम्यमान रहने पर तप् धातु से परे जो च्लि उसको चिण् नहीं होता है । ३—चिण् एवं ञित णित् या कृत् प्रत्यय पर हो तो आदन्त धातुओं को युक् का आगम होता है । ४–चिण् पर हो तो भञ्ज् धातु के नकार का लोप विकल्प से होता है । ५—चिण् या णमुल् प्रत्यय पर हो तो लभ् धातु को नुम् का आगम होता है, विकल्प से ।

॥ इति भावकर्मप्रक्रिया ॥



अथ कर्मकर्तृप्रक्रिया ।

[1]यदा कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितं तदा सकर्मकाणामप्यकर्मकत्वात्कर्तरि भावे च लकारः ।

कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः ३ । १ । ८७ ॥ [2]कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्ता कर्मवत्स्यात् । कार्यातिदेशोऽयम् । तेन यगात्मनेपदचिण्चिण्वदिटः स्युः । पच्यते फलम् । भिद्यते काष्ठम् । अपाचि । अभेदि । भावे तु–भिद्यते काष्ठेन ।

॥ इति कर्मकर्तृप्रक्रिया ॥



अथ लकारार्थप्रक्रिया ।

अभिज्ञावचने लृट् ६ । २ । ११२ ॥ [3]स्मृतिबोधिन्युपपदे भूतानद्यतने

कर्मकर्तृप्रक्रिया—इदमत्र ध्येयम्—यत्र कर्तृकरणाधिकरणकर्मकारकाणामेकस्मिन्नेव पच्—आदिधातुप्रयोगे सम्मेलनं (प्रयोगो) दृश्यते, यथा चैत्रो वह्निना स्थाल्यां तण्डुलं पचति इति, अत्र चैत्रस्य कर्तृत्वाविवक्षायां तथा करणादीनामेव कर्तृत्वविवक्षायां 'वह्निः पचति', स्थाली पचति', 'तण्डुलः पचति', इतिवत्प्रयोगाः । अनुभवविरोधात्सम्प्रदानापादानयोस्तु न कदापि कर्तृत्वविवक्षेति विशेषः ।

॥ इति कर्मकर्तृप्रक्रिया ॥



सामान्यतो लकारार्थाः प्रतिपादिताः किन्तु कतिपयानां लकाराणां विशेषार्थप्रदर्शनाय लकारार्थप्रक्रिया ।

१—जब कर्म ही कर्ता के रूप से कहा जाय 'कहना चाहे'-तब वे सकर्मक धातु भी अकर्मक हो जाते हैं, अतः 'अकर्मक हो जाने से' उनसे भी कर्ता एवं भाव में लकार होता है । २—कर्म में स्थित जो क्रिया उसके साथ तुल्यक्रियावाला कर्ता कर्मवद् 'कर्म के सदृश' होता है । इस प्रकरण का अर्थ यह है—कर्म में ही कर्तृत्व की इच्छा । जैसे–पच्यते फलम्= फल स्वयं पकता है, यहाँ कर्म में कर्तृत्व बुद्धि की गयी है । 'कालेन फलं पच्यते' इस दशा में फल कर्म था, यहाँ 'स्वयमेव' कर्ता हो गया । भिद्यते काष्ठम्=काठ स्वयं फटता है । यह भी पूर्ववत् है ।

॥ इति कर्मकर्तृप्रक्रिया ॥



३—स्मृतिबोधक शब्द धातु के उपपद 'पद के समीप' रहे तो भूत अनद्यतन अर्थ में

धातोर्लृट् । लङोऽपवाद । **वस** निवासे । स्मरसि कृष्ण ! गोकुले वत्स्यामः । एवं 'बुध्यसे'—'चेतयसे' इत्यादिप्रयोगेऽपि ।

न यदि ३ । २ । ११३ ॥ [1]यद्योगे उक्तं न । अभिजानासि कृष्ण ! यद्वने अभुञ्ज्महि ?

लट् स्मे ३ । २ । ११८ ॥ [2]लिटोऽपवादः । यजति स्म युधिष्ठिरः ।

वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा ३ । ३ । १३१ ॥ [3]वर्तमाने ये प्रत्यया उक्तास्ते वर्तमानसामीप्ये भूते भविष्यति च वा स्युः । कदाऽऽगतोऽसि ? अयमागच्छामि, अयमागमं वा । कदा गमिष्यसि ? एष गच्छामि, गमिष्यामि वा ।

हेतुहेतुमतोर्लिङ् ३ । ३ । १५६ ॥ [4][हेतुहेतुमतोर्लिङ्] वा स्यात् । कृष्णं नमेच्चेत्सुखं यायात् । कृष्णं नंस्यति चेत्सुखं यास्यति । भविष्यत्येवे-

---

स्मरसि कृष्ण गोकुले वत्स्यामः—वस धातोर्लङि प्राप्ते 'अभिज्ञावचने लृट्' इति लृटि, तस्य मस्प्रत्यये, स्यतासीति स्यप्रत्यये, 'सः स्यादार्धधातुके' इति सस्य तत्वे 'अतो दीर्घो यञि' इति दीर्घे, मसो सस्य रुत्वे विसर्गे च उक्तरूपं सिद्धयति ।

यजतिस्म युधिष्ठिरः—यज्धातोर्लिटि प्राप्ते 'लट् स्मे' इति लटि, तत्स्थाने तिबादि कृते 'यजतिस्म' इति । **लट् स्मे**—स्मशब्दयोगे लट् स्यात् ।

हेतुहेतुमतोः—हेतुः करणं, हेतुमत्कार्यं, तयोर्गम्यमानत्वे भविष्यत्यर्थे लिङ् वा स्यात्पक्षे लृट् ।

धातु से लृट् लकार होता है । हे कृष्ण ! स्मरण करते हो कि हम सब गोकुल में रहा करते थे ।

१—स्मृति-बोधक पद उपपद हो तो यद् शब्द के योग में धातु से लृट् लकार नहीं होता है । हे कृष्ण ! क्या स्मरण कर रहे हो ? जो कि हमलोगोंने वन में खाया था । २—लिट् के विषय 'भूतकाल' में स्म के योग में धातु से लट् लकार होता है । लिट् का बाधक है । युधिष्ठिर ने यज्ञ किया था । ३—'वर्तमाने' सूत्र के अधिकार में जो प्रत्यय जिस धातु से कहे गये हैं, वे सभी उसी धातु से वर्तमान के समीप भूत एवं भविष्यत् अर्थ में विकल्प से भी होते हैं । 'अर्थात् वर्तमान काल के समीपवर्ती भूत तथा भविष्यत्काल में वैकल्पिक-ऐच्छिक प्रयोग हो सकते हैं । जैसे भूतकाल में प्रश्न—कदागतोऽसि=कब आये हो ? उत्तर—अयमागच्छामि—यह अभी आया हूँ । भविष्य में—कदा गमिष्यसि=कब जाओगे ? एष गच्छामि=अभी जाऊँगा, जा रहा हूँ । ४—हेतु 'कारण', हेतुमत् फल, कार्य । अर्थात् कार्य—कारण—भाव अर्थ में वर्तमान जो धातु उससे भविष्यत् अर्थ में लिङ् लकार विकल्प से होता है । कृष्णं

प्यने। नेह-हन्तीति पलायते। विधिनिमन्त्रणेति लिङ्। **विधिः** प्रेरणं भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम्। यजेन। **निमन्त्रणं**-नियोगकरणम्, आवश्यके श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनम्। इह भुञ्जीत। **आमन्त्रणं** कामचारानुज्ञा। इहाऽऽसीत। **अधीष्टः** सत्कारपूर्वको व्यापारः। पुत्रमध्यापयेद्भवान्। **सम्प्रश्नः** सम्प्रधारणम्। किं भो वेदमधीयीय उत तर्कम्? **प्रार्थनं** याच्ञा। भो भोजनं लभेय। एवं लोट्।

॥ इति लकारार्थप्रक्रिया ॥ इति तिङन्तप्रकरणम् ॥



अथ कृदन्ते कृत्यप्रक्रिया।

धातोः ३।१।९१॥ [1]आतृतीयाध्यायसमाप्तेर्ये प्रत्ययास्ते धातोः परे स्युः। कृदतिङिति कृत्संज्ञा।

वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् ३।१।९४॥ [2]अस्मिन्धात्वधिकारेऽसरूपोऽपवादप्रत्यय उत्सर्गस्य बाधको वा स्यात् स्त्र्यधिकारोक्तं विना।

कृत्याः ३।१।९५॥ [3]ण्वुल्तृचावित्यतः प्राक् कृत्यसंज्ञाः स्युः।

कर्तरि कृत् ३।४।६७॥ [4]कृत्प्रत्ययः कर्तरि स्यात्। इति प्राप्ते—

तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ३।४।७०॥ [5]एते भावकर्मणोरेव स्युः।

तव्यत्तव्यानीयरः ३।१।९६॥ [6]धातोरेते प्रत्ययाः स्युः। एधितव्यम्, एधनीयं त्वया। भावे औत्सर्गिकमेकवचनं क्लीबत्वं च। चेतव्यश्च-

---

एधितव्यम्—अत्रेदम्बोध्यम्-त्वमेधस्व ऐधेथा वा त्वया एध्यताम्-एध्येत वा त्वया एधितव्यम्-एधनीयम् वैते सर्वे लिङ्लोट्कृत्यप्रत्ययाः समानार्थप्रतिपादकाः। अत्र एध् धातोरकर्मकत्वाद् भावे 'तयोरेव कृत्य-०' इति नियमात् 'तव्यत्तव्या-०'

नमेच्चेत्सुखं यायात्= यदि श्रीकृष्ण को नमस्कार करेगा तो सुख पावेगा।

॥ इति लकारार्थप्रक्रिया ॥ ॥ इति तिङन्तप्रकरणम् ॥



१—'धातोः' सूत्र से लेकर तृतीय अध्याय की समाप्ति तक जितने प्रत्यय होंगे वे धातु से परे होवें 'होते हैं'। २—इस धातोः सूत्र के अधिकार में असमानरूप जो अपवाद प्रत्यय वह उत्सर्ग का बाधक विकल्प से होता है, 'स्त्रियां' सूत्र के अधिकार में कहे गये को छोड़कर। ३—'ण्वुल्तृचौ' सूत्र से पूर्व के प्रत्ययों की 'कृत्य' संज्ञा होती है। ४—कृत् प्रत्यय कर्ता में होता है। ५—कृत्य, क्त एवं खलर्थ-प्रत्यय भाव एवं कर्म में ही होते हैं। ६—तव्यत्, तव्य एवं अनीयर् प्रत्यय धातु से होते हैं। एधितव्यम्, एधनीयम्=बढ़ने योग्य, बढ़ना

यनीयो वा धर्मस्त्वया । ॐ[1]**केलिमर उपसंख्यानम्** । पचेलिमा मापाः । पक्तव्या इत्यर्थः । [2]भिदेलिमाः सरलाः । भेत्तव्या इत्यर्थः । कर्मणि प्रत्ययः ।

[3]**कृत्यल्युटो बहुलम् ३ । ३ । ११३ ॥**

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

स्नात्यनेनेति स्नानीयं चूर्णम् । दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः ।

अचो यत् ३ । १ । ९७ ॥ [4]अजन्ताद्धातोर्यत् । चेयम् ।

ईद्यति ६ । ४ । ३५ ॥ [5]यति परे आत ईत्स्यात् । देयम् । ग्लेयम् ।

पोरदुपधात् ३ । १ । ९८ ॥ [6]पवर्गान्तादद्रुपधाद्यत्स्यात् । ण्यतोऽपवादः । शप्यम् । लभ्यम् ।

एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् ३ । १ । १०९ ॥ [7]एभ्यः क्यप् स्यात् ।

इति तव्यप्रत्यये, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सु अम् आदि कृते उक्तरूपस्य सिद्धिः । अत्रैकवचनमौत्सर्गिकम् । सामान्ये नपुंसकमिति नपुंसकम् ।

चेयम्—त्वं चिनु, त्वया चीयताम्–इति वाक्ये त्वया 'चेयम्' इति । **देयम्**—दा धातोः 'अचो यत्' इति यति—तकारलोपे, 'ईद्यति' इति धातोराकारस्य-ईत्वे, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे विभक्तिकार्ये च 'देयम्' इति । **'एतिस्तु'**—इण् गतौ, ष्टुञ् स्तुतौ, शासु अनुशिष्टौ, वृञ् वरणे, दृङ् आदरे, जुषी प्रीतिसेवनयोरित्येभ्यः क्यप् स्यात् ।

चाहिये । चेतव्यः, चयनीयः=एकत्र करने योग्य इकट्ठा करना चाहिये ।

१—केलिमर् प्रत्यय धातु से होता है–'ऐसा कहना चाहिये' । पचेलिमा मापाः=उड़द पकाने के योग्य हैं । २—देवदारु कटाने लायक है । ३—कृत्य एवं ल्युट् प्रत्यय बहुलता से होते हैं । 'बाहुलक चार प्रकार का होता है'–कहीं प्रवृत्ति का होना 'मूलका लगना', कहीं अप्रवृत्त होना, कहीं विकल्प से होना, कहीं भिन्न विधान का हो जाना इत्यादि विधि के विधान को अनेक प्रकार से देखकर बहुलता को चार प्रकार से कहते हैं । स्नानीय चूर्णम्=स्नान करने योग्य चूर्ण । दानीयो विप्रः=दान देने योग्य ब्राह्मण । ४—अजन्त धातु से यत् प्रत्यय होता है । चेयम्=चुनने लायक । ५—यत् प्रत्यय पर हो तो आदन्त धातु के आकार को इकार आदेश होता है । देयम्=देने लायक । ग्लेयम्=दुःख होने लायक । ६—अदुपध (अकार है उपधा में जिसके ऐसे) पवर्गान्त धातु से यत् प्रत्यय होता है । शप्यम्–शाप देने योग्य । लभ्यम्–प्राप्त करने योग्य । ७—इण् , स्तु, शास् , वृ, दृ, एवं जुष् धातु से क्यप् प्रत्यय होता है ।

ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६ । १ । ७१ ॥ [1]इत्यः । स्तुत्यः । शासु अनुशिष्टौ ।

शास इदङ्हलोः ६ । ४ । ३४ ॥ [2]शास उपधाया इत्स्यादङि हलादौ क्ङिति । शिष्यः । वृत्य. । आदृत्यः । जुष्यः ।

मृजेर्विभाषा ६ । १ । ११३ ॥ [3]मृजेः क्यब्वा स्यात् । मृज्यः ।

ऋहलोर्ण्यत् ३ । १ । १२४ ॥ [4]ऋवर्णान्ताद्धलन्ताच्च धातोर्ण्यत् । कार्यम् । हार्यम् । धार्यम् ।

चजोः कु घिण्ण्यतोः ७ । ३ । ५२ ॥ [5]चजोः कुत्वं स्याद्धिति ण्यति च परे ।

मृजेर्वृद्धिः ७ । २ । ११४ ॥ [6]मृजेरिको वृद्धिः स्यात्सार्वधातुकार्धधातुकयोः । मार्ग्यः ।

भोज्यं भक्ष्ये ७ । ३ । ६९ ॥ [7]भोग्यमन्यत् ।

॥ इति कृत्यप्रक्रिया ॥



शिष्यः—शास् धातोः 'एतिस्तुशास्वृ—' इति क्यप्यनुबन्धलापे, 'शास इदङ्हलो' इति—उपधाया इत्वे, 'शासिवसि—' इति सस्य षत्वे, विभक्तिकार्ये च 'शिष्यः' इति । **मार्ग्यः**—मृज् धातोः 'ऋहलाण्र्यत्' इति ण्यति, 'चजोः कु—' इति कुत्वेन जकारस्य गकारे, 'मृजेर्वृद्धिः' इति वृद्धौ, ततो विभक्तिकार्ये 'मार्ग्यः' इति ।

॥ इति कृत्यप्रक्रिया ॥



१-पित् एवं कृत् प्रत्यय पर हो तो ह्रस्व को तुक् का आगम होता है । इत्यः=जाने लायक । स्तुत्यः=स्तुति करने लायक । २-अङ् पर हो या हलादि कित् या ङित् पर हो तो शास् धातु की उपधा को इकार आदेश होता है । शिष्यः=शासन करने, शिक्षा देने योग्य । वृत्यः=वरने लायक । आदृत्यः=आदर करने लायक । जुष्यः=सेवा के लायक । ३-मृज् धातु से क्यप् प्रत्यय होता है, विकल्प से । मृज्यः=शुद्धि करने लायक । ४-ऋवर्णान्त एवं हलन्त धातु से ण्यत् प्रत्यय होता है । कार्यम्=करने योग्य । हार्यम्=हरण करने योग्य । धार्यम्=धारण करने योग्य । ५-घित् या णित् प्रत्यय पर हो तो च एवं ज को कुत्व होता है । ६-सार्वधातुक पर हो तो मृज् धातु के इक् को वृद्धि होती है । मार्ग्यः-शोधन योग्य । ७-भक्षण के अर्थ मे 'भोज्यम्' ऐसा 'कुत्वाभाव' निपातन होता है । अन्य अर्थ मे 'भोग्यम्' ऐसा होता है ।

॥ इति कृत्यप्रक्रिया ॥



अथ पूर्वकृदन्तम्

ण्वुल्तृचौ ३ । १ । १३३ ॥ [1]धातोरेतौ स्तः । कर्तरि कृदिति कर्त्रर्थे ।

युवोरनाकौ ७ । १ । १ ॥ [2]'यु' 'वु' एनयोरनाकौ स्तः । कारकः । कर्ता ।

नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ३ । १ । १३४ ॥ [3]नन्द्यादेर्ल्युः, ग्रह्यादेर्णिनिः, पचादेरच् स्यात् । नन्दयतीति नन्दनः । जनमर्दयतीति जनार्दनः । लवणः । ग्राही । स्थायी । मन्त्री । पचादिराकृतिगणः ।

इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः ३ । १ । १३५ ॥ [4]एभ्यः कः स्यात् । बुधः । कृशः । ज्ञः । प्रियः । किरः ।

आतश्चोपसर्गे ३ । १ । १३६ ॥ [5]प्रज्ञः । सुग्लः ।

गेहे कः ३ । १ । १४४ ॥ [6]गेहे कर्तरि ग्रहेः कः स्यात् । गृहम् ।

कर्मण्यण् ३ । २ । १ ॥ [7]कर्मण्युपपदे धातोरण् प्रत्ययः स्यात् । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ।

पुंसि करोतीति कारकः, स्त्रियां कारिका, नपुंसके कारकम्, करोतीति कर्ता, स्त्रीलिङ्गे कर्त्री, नपुंसके **कर्तृ**–इति विशेषः ।

कारकः—कृ धातोः 'ण्वुल्तृचौ' इति ण्वुल्यनुबन्धलोपे, 'युवोरनाकौ' इति 'वु' इत्यस्य अकि, णित्वाद् वृद्धौ (आर्) विभक्तिकार्ये च कृते कारकः इति । **नन्दनः**–'टुनदि समृद्धौ' इत्यस्य धातोर्णिलोपे, नन्दिग्रहीत्यादिना ल्युकृतेऽनुबन्धलोपे, 'युवोरनाकौ' इत्यनादेशे, विभक्तिकार्ये 'नन्दनः' इति । लुनातीति **लवणः**–लूञ् छेदने क्र्यादिः । अत्र निपातनाण्णत्वम् । गृह्णातीति **ग्राही** । ग्रह उपादाने । तिष्ठतीति **स्थायी**–ष्ठा गतिनिवृत्तौ । मन्त्रयते–इति **मंत्री**—मत्रि गुप्तभाषणे चुरा० । बुध्यते इति **बुधः**–बुध अवगमने दिवा० । कृश्यतीति **कृशः**–कृश तनूकरणे दि० । जानातीति **ज्ञः** । प्रीणातीति **प्रियः** । किरतीति **किरः** । गृह्णाति धान्यादिकमिति **गृहम्** । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ।

१—धातु से ण्वुल् एवं तृच् प्रत्यय होते हैं, 'कर्ता अर्थ में' । २—यु को अन एवं वु को अक आदेश होते हैं । कारकः—कर्ता=करनेवाला । ३—नन्द्यादि धातु से ल्यु, ग्रह्यादि से णिनि एवं पचादि धातु से अच् प्रत्यय होता है । ४—इगुपध धातु एवं ज्ञा, प्री, कृ-धातुओं से 'क' प्रत्यय होता है । ५—उपसर्ग युक्त आदन्त धातु से 'क' प्रत्यय होता है । ६—गेह 'गृह' यदि कर्ता हो तो ग्रह् धातु से 'क' प्रत्यय होता है । ७—कर्म उपपद=पद के समीप 'कर्म कारक' हो तो धातु से अण् प्रत्यय होता है । कुम्भकारः=कुम्हार ।

आतोऽनुपसर्गे कः ३ । २ । ३ ॥ [1]आदन्ताद्धातोरनुपसर्गात्कर्मण्युपपदे कः स्यात् । अणोऽपवादः । आतो लोप इटि च । गोदः । धनदः । कम्बलदः । अनुपसर्गे किम् ? गोसन्दाय. । [2]**मूलविभुजादिभ्यः कः** । मूलानि विभुजति मूलविभुजो रथः । आकृतिगणोऽयम् । महीध्रः । कुध्रः ।

चरेष्टः ३ । २ । १६ ॥ [3]अधिकरण उपपदे । कुरुचरः ।

भिक्षासेनादायेषु च ३ । २ । १७ ॥ [4]भिक्षाचरः । सेनाचरः । आदायेति ल्यबन्तम् । आदायचरः ।

कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु ३ । २ । २० ॥ [5]एषु द्योत्येषु करोतेष्टः स्यात् ।

अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य ८ । ३ । ४६ ॥ [6]आदुत्तरस्याऽनव्ययस्य विसर्गस्य समासे नित्यं सादेशः स्यात्करोत्यादिषु परेषु । यशस्करी विद्या । श्राद्धकरी । वचनकरः ।

एजेः खश् ३ । २ । २८ ॥ [7]ण्यन्तादेजेः खश् स्यात् ।

अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् ६ । ३ । ६७ ॥ [8]अरुषो द्विषतोऽजन्तस्य च मुमागमः स्यात्खिदन्ते परे न त्वव्ययस्य । शित्वाच्छवादिः । जनमेजयीति जनमेजयः ।

गां ददातीति–**गोदः** । कम्बलं ददातीति–**कम्बलदः** । धनं ददातीति–**धनदः** । कुरुषु देशेषु चरति–गच्छतीति **कुरुचरः** । अत्र 'चरेष्टः' इति टप्रत्यये तस्येत्संज्ञालोपयोः सुपो लुकि प्रातिपदिकत्वेन सौ, तस्य रुत्वे, विसर्गे च 'कुरुचरः' इति । भिक्षां चरतीति–**भिक्षाचरः** । आदाय=गृहीत्वा चरतीति = **आदायचरः** । यशः करोतीति **यशस्करी** । श्राद्धं करोतीति **श्राद्धकरः** । वचनं करोतीति **वचनकरः** ।

जनमेजयः–जनान् (दुष्टान् साधून् वा) एजयति कम्पयति इति लौकिके

१—उपसर्ग से भिन्न कर्म उपपद रहते आदन्त धातु से क प्रत्यय होता है । २—मूलविभुजादिगण पठित धातुओं से क प्रत्यय होता है । महीध्रः, कुध्रः=पर्वत । ३—अधिकरण उपपद रहते चर् धातु से ट प्रत्यय होता है । ४—भिक्षा-सेना या आदाय-रूप उपपद रहते चर् धातु से ट प्रत्यय होता है । ५—हेतु, ताच्छील्य या आनुलोम्य अर्थ द्योत्य हो तो कृ धातु से ट प्रत्यय होता है । ६—समास कर्तव्यता में कृ, कमि, कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा या कर्णी शब्द पर हो तो अवर्ण से परे अव्यय भिन्न विसर्ग को नित्य सकार आदेश होता है । ७—ण्यन्त एज् धातु से खश प्रत्यय होता है । ८—खित् प्रत्ययान्त धातु पर हो तो अरुष्, द्विषत् एवं अजन्त को मुम् का आगम होता है, किन्तु अव्यय को छोड़कर ।

प्रियवशे वदः खच् ३ । २ । ३८ ॥ [1]प्रियंवदः । वशंवदः ।

अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ३ । २ ७५ ॥ [2]मनिन् क्वनिप् वनिप् विच् एते प्रत्यया धातोः स्युः ।

नेड् वशि कृति ७ । २ । ८ ॥ [3]वशादेः कृतः इण् न स्यात् । **शॄ** हिंमायाम् । सुशर्मा । प्रातरित्वा ।

विड्वनोरनुनासिकस्याऽऽत् ६ । ४ । ४१ ॥ [4]अनुनासिकस्याऽऽत्स्यात् । विजायते इति विजावा । **ओणृ** अपनयने । अवावा । विच् । **रुष रिष** हिसायाम् । रोट् । रेट् । सुगण् ।

क्विप् च २ । २ । ७६ ॥ [5]अयमपि दृश्यते । उखास्रत् । पर्णध्वत् । वाहभ्रट् ।

विग्रह ण्यन्ताद् 'एज्' धातोः एाज इत्यस्माद् 'एजेः खश्' इति खश् प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, शित्वात्सार्वधातुकत्वे शपि, गुणेऽयादेशे पररूपे च जनशब्देन सह समासे विभक्तेर्लुकि, 'अरुर्द्विष–' इति पूर्वपदस्य मुमागमे जनमेजय शब्दात्सौ, तस्य रुत्वे विसर्गे च 'जनमेजयः' इति ।

प्रियंवदः—प्रियम् वदतीति विग्रहे 'प्रियवशे वदः खच्' इति खच्यनुबन्धलोपे, 'सुपो धातु–' इति सुपो लुकि, 'अरुर्द्विषद–' इति मुम्यनुबन्धलोपे, मोऽनुस्वारे विभक्तिकार्ये च कृते 'प्रियंवदः' इति । एवं वशं वदतीति 'वशंवदः' इति ।

सुशर्मा—सु–पूर्वक हिंसार्थक शॄ धातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति मनिन्यनुबन्धलोपे, 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वेन सार्वधातुकार्धधातुकयोरिति गुणे, रपरे, 'आर्धधातुकस्येड्–' इति प्राप्तस्येटो 'नेड् वशि कृति' इति निषेधे 'सुशर्मन्' इत्यस्मात् प्रातिपदिकत्वेन सौ, उपधादीर्घे, सोर्लोपे नलोपे च कृते 'सुशर्मा' इति । एवं प्रातरेति गच्छतीति **प्रातरित्वा** । 'उखायाः' (पात्रात्) स्रंसते' इति 'उखास्रत्' । अत्र 'अनिदिताम्' इति नलोपः । 'वसु स्रंसु–०' इति दत्वं चर्त्वं च । एवं पर्णात् ध्वंसते 'पर्णध्वत्' इत्यादि ज्ञेयम् । वाहात्-भ्रंशते 'वाहभ्रट्' इत्यत्र व्रश्चेति षत्वे जश्त्वे, चर्त्वादिना तस्य सिद्धिः ।

१—प्रिय या वश उपपद हो तो वद् धातु से खच् प्रत्यय होता है । २—धातु से मनिन्, क्वनिप् , वनिप् एवं विच् प्रत्यय होते हैं । ३—वशादि कृत् को इट् का आगम नहीं होता है । सुशर्मा=अच्छा हिंसक । प्रातरित्वा=सबेरे जानेवाला । ४—विट् या वन् प्रत्यय पर रहे तो अनुनासिक के स्थान में आकार आदेश होता है । ५—धातु से क्विप् प्रत्यय भी (देखा जाता) होता है ।

सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये ३ । २ । ७८ ॥ [1]अजात्यर्थे सुपि धातोर्णिनिस्ताच्छील्ये द्योत्ये । उष्णभोजी ।

मनः ३ । २ । ८२ ॥ [2]सुपि मन्यतेर्णिनिः स्यात् । दर्शनीयमानी ।

आत्ममाने खश्च ३ । २ । ८३ ॥ [3]स्वकर्मके मनने वर्त्तमानान्मन्यतेः सुपि खश् स्यात् । चाण्णिनिः । पण्डितम्मन्यः । पण्डितमानी ।

खित्यनव्ययस्य ६ । ३ । ६६ ॥ [4]खिदन्ते परे पूर्वपदस्य ह्रस्वः । ततो मुम् । कालिम्मन्या ।

करणे यजः ३ । २ । ८५ ॥ [5]करणे उपपदे भूतार्थे यजेर्णिनिः स्यात्कर्तरि । सोमेनेष्टवान् सोमयाजी । अग्निष्टोमयाजी ।

दृशेः क्वनिप् ३ । २ । ९४ ॥ [6]कर्मणि भूते । पारं दृष्टवान्—पारदृश्वा ।

राजनि युधि कृञः ३ । २ । ९५ ॥ [7]क्वनिप्स्यात् । युधिरन्तर्भावितण्यर्थः । राजानं योधितवान् राजयुध्वा । राजकृत्वा ।

उष्णभोजी—उष्णं भुङ्क्ते तच्छील इति वा विग्रहे 'सुप्यजातौ–' इति णिन्यनुबन्धलोपे, पुगन्तेति गुणे, कृत्तद्धितेति प्रातिपदिकत्वेन सौ, 'सौ च' इत्यनेनोपधादीर्घे, सोर्लोपे, नलोपे च कृते 'उष्णभोजी' इति ।

पण्डितम्मन्यः—आत्मानं पण्डितं मन्यते इति विग्रहे आत्ममाने खश्चेति खश्यनुबन्धलोपे, दिवादिभ्यः श्यनिति श्यन्यनुबन्धलोपे, 'अरुर्द्विषद—' मुमि—उमावितौ लोपयोश्च कृतयोः प्रातिपदिकसंज्ञायां विभक्तिकार्ये च कृते 'पण्डितम्मन्यः' इति । खश्चेति चकाराण्णिनिस्तत्पक्षे 'पण्डितमानी' इति । आत्मानं कालीम्मन्यते **'कालिम्मन्या'** । अत्र सर्वं पूर्ववत्, केवलं 'काली' निष्ठ-ईकारस्य ह्रस्वेन-इकार इति विशेषः । स्त्रीत्वाट्टाप् । **राजनि युधि कृञः**—राजन् शब्दे उपपदे युध्यतेः क्वनिप् स्यात् । **राजयुध्वा**—राजान योधितवान् इति विग्रहे 'राजनि युधि कृञः' इति क्वनिप्यनुबन्धलोपे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, उपधादीर्घे सोर्लोपे च कृते 'राजयुध्वा' इति ।

१—जातिवाचक से भिन्न सुबन्त उपपद रहते ताच्छील्य अर्थ में धातु से णिनि प्रत्यय होता है । २—सुबन्त उपपद रहते मन् धातु से णिनि प्रत्यय होता है । ३—सुबन्त उपपद रहते स्वकर्म मनन 'अहङ्कार' में वर्तमान मन् धातु से खश् प्रत्यय होता है, चकारात्–णिनि प्रत्यय भी होता है । ४—खिदन्त पर हो तो अव्यय से भिन्न पूर्वपद को ह्रस्व होता है । ५—करण उपपद हो एवं भूतकालिक अर्थ गम्यमान हो तो यज् से णिनि प्रत्यय कर्ता में होता है । ६—कर्म उपपद रहते भूत काल अर्थ में दृश् धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है । ७—कर्म संज्ञक राजन् शब्द उपपद हो तो भूत काल अर्थ में युध् एवं कृञ धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है ।

[1]सहे च ३ । २ । ९६ ॥ कर्मणीति निवृत्तम् । सह योधितवान् सह युध्वा । सहकृत्वा ।

[2]सप्तम्यां जनेर्डः ३ । २ । ९७ ॥

तत्पुरुषे कृति बहुलम् ६ । ३ । १४ ॥ [3]ङेरलुक् । सरसिजम् । सरोजम् ।

उपसर्गे च संज्ञायाम् ३ । २ । ९९ ॥ [4]'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने ।'

क्तक्तवतू निष्ठा १ । १ । २६ ॥ [5]एतौ निष्ठासंज्ञौ स्तः ।

निष्ठा ३ । २ । १०२ ॥ [6]भूतार्थवृत्तेर्धातोर्निष्ठा स्यात् । तत्र तयोरवेति भावकर्मणोः क्तः । कर्तरि कृदिति कर्तरि क्तवतुः । उकावितौ । स्नातं मया । स्तुतस्त्वया विष्णुः । विश्वं कृतवान् विष्णुः ।

रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ८ । २ । ४२ ॥ [7]रदाभ्यां परस्य निष्ठातस्य नः स्यात् निष्ठापेक्षया पूर्वस्य धातोर्दस्य च । शॄ हिंसायाम् । ॠत इत् । रपरः । णत्वम् । शीर्णः । भिन्नः । छिन्नः ।

'सहे च' । सहशब्दोपपदादन्तर्भावितण्यर्थाद्युध्यतेः क्वनिप् स्यात् ।

सप्तम्यां जनेर्डः—सप्तम्यन्ते उपपदे जन्धातोर्डः स्यात् ।

तत्पुरुषे कृति—तत्पुरुषे समासे कृदन्ते उपपदे सप्तम्या अलुग्वा स्यात् । सरसिजम्—सरसि जातमिति विग्रहे 'सप्तम्यां जनेर्डः' इति डप्रत्यये, 'चुटू' इतीत्संज्ञायां तस्य लोपे च कृते, उपपदसमासत्वात् प्रातिपदिकत्वेन 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति प्राप्तस्य सुपो लोपस्य 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति निषेधेन ङेरलुकि, डित्वाट्टिलोपे प्रातिपदिकसंज्ञायां विभक्तिकार्ये च कृते "सरसिजम्" इति । पक्षे ङेर्लोपे तु सस्य रुत्वोत्वादिकृते 'सरोजम्' इति ।

उपसर्गे च संज्ञायाम्—उपसर्गे उपपदे जनेर्डः स्यात् संज्ञायाम् । अभेदि इति भिन्नः—इरित्संज्ञक भिद्धातोः 'निष्ठा' इति क्तप्रत्यये, ककारस्येत्संज्ञालोपयोः 'रदाभ्यां निष्ठातः' इति तकारदकारयोर्नकारे कृते, कृत्तद्धितेति प्रातिपदिकत्वेन सौ, तस्य रुत्वे

१—सह उपपद रहने पर भी युध् धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है । २—सप्तम्यन्त उपपद हो तो जन् धातु से ड प्रत्यय होता है । ३—तत्पुरुष समास में कृत्प्रत्ययान्त उत्तर पद पर हो तो बहुलता 'विकल्प' से सप्तमी एकवचन (ङि) का अलुक् 'लोपाभाव' होता है । ४—उपसर्ग उपपद रहते संज्ञा अर्थ में जन् धातु से ड प्रत्यय होता है । ५—क्त एवं क्तवतु प्रत्यय निष्ठा-संज्ञक होते हैं । ६—भूतकालार्थ वृत्ति धातु से निष्ठा संज्ञक प्रत्यय होते हैं । ७—रेफ एवं दकार से परे निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है, तथा निष्ठा की अपेक्षा पूर्व में वर्तमान धातु-सम्बन्धी दकार को भी नकार होता है ।

संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः ८ । २ । ४३ ॥ [1]निष्ठातस्य नः स्यात् । द्राणः । ग्लानः ।

ल्वादिभ्यः ८ । २ । ४४ ॥ [2]एकविंशतेर्लूञादिभ्यः प्राग्वत् । लूनः । **ज्या** धातुः । ग्रहिज्येति संप्रसारणम् ।

हलः ६ । ४ । २ ॥ [3]अङ्गावयवाद्धलः परं यत्संप्रसारणं तदन्तस्य दीर्घः । जीनः ।

ओदितश्च ८ । २ । ४५ ॥ [4]**भुजो**–भुग्नः । **टुओश्वि**–उच्छूनः ।

शुषः कः ८ । २ । ५१ ॥ [5]निष्ठातस्य कः । शुष्कः ।

पचो वः ८ । २ । ५२ ॥ [6]पक्वः । **क्षै क्षये ।**

क्षायो मः ८ । २ । ५३ ॥ [7]क्षामः ।

निष्ठायां सेटि ६ । ४ । ५२ ॥ [8]णेर्लोपः । भावितः । भावितवान् । **दृह** हिंसायाम् ।

विसर्गे च कृते 'भिन्नः' इति । 'छिन्नः' इत्यत्र छिदिर् द्वैधीकरणे धातुः । अच्छेदीति विग्रहः ।

संयोगादेरिति–संयोगादेरादन्तस्य यण्वतो धातोः परस्य निष्ठातस्य नत्वम् । 'अद्रासीत्' इति **द्राणः** । अत्र 'निष्ठा' इति क्त प्रत्यये, संयोगादेराती–' इति तस्य नकारादेशे, नकारस्य णत्वे, प्रातिपदिकसंज्ञायां विभक्तिकार्ये च कृते 'द्राणः' । द्रा कुत्सायाम् । अग्लासीत्–इति **ग्लानः** । ग्लै हर्षक्षये । अलावि-इति **लूनः** । लूञ् छेदने । अज्यासीत्–इति **जीनः** । अभौक्षीत्-**भुग्नः** । भुजो कौटिल्ये । उदश्वत्–इति **'उच्छूनः'** । टुओश्वि गतिवृद्धयोः । अशुषत् इति **'शुष्कः'** । शुष शोषणे । अपाचि-इति **'पक्वः'** । अक्षासीत्—इति **'क्षामः'** । क्षै क्षये । अत्र निष्ठातकारस्य मकारः । देवदत्तो यज्ञदत्तमबीभवत्, देवदत्तेन यज्ञदत्तोऽभावि-इत्यर्थे **'भावितः'** इति । अत्र भावयतेर्निष्ठासूत्रेण क्त प्रत्यये इडागमे 'निष्ठायां सेटि' इति णेर्लोपे च सिद्धयति रूपम् ।

१–संयोगादि- यण्वान्–आकारान्त-धातु से परे निष्ठा सम्बन्धी तकार को नकार आदेश होता है । २–लूञादि इक्कीस धातुओं से परे निष्ठासम्बन्धी तकार को नकार होता है । ३–अङ्गावयव हल् से परे जो सम्प्रसारण तदन्त को दीर्घ होता है । ४—ओदित् धातु से परे भी निष्ठा के तकार को नकार होता है । ५—शुष् धातु से परे निष्ठा के तकार को 'क' आदेश होता है । ६—पच् धातु से परे निष्ठा के तकार को वकार 'व' आदेश होता है । ७—क्षै धातु से परे निष्ठा के तकार को मकार होता है । ८—सेट् इट्सहित निष्ठासंज्ञक प्रत्यय पर हो तो णि का लोप होता है ।

दृढः स्थूलबलयोः ७ । २ । २० ॥ [1]स्थूले बलवति च निपात्यते ।

दधातेर्हिः ७ । ४ । ४२ ॥ [2]तादा किति । हितम् ।

दो दद् घोः ७ । ४ । ४६ ॥ [3]घुसंज्ञकस्य 'दो' इत्यस्य 'दथ्' स्यात् किति । चर्त्वम् । दत्तः ।

लिटः कानज्वा ३ । २ १०६ ॥

क्वसुश्च ३ । २ । १०७ ॥ [4]लिटः कानच् क्वसुश्च वा स्तः । तङानावात्मनेपदम् । चक्राणः ।

म्वोश्च ८ । २ । ६५ ॥ [5]मान्तस्य धातोर्नत्वं म्वोः परतः । जगन्वान् ।

लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे ३ । २ । १२४ ॥ [6]अप्रथमान्तेन समानाधिकरणे लट एतौ वा स्तः । शबादि । पचन्तं चैत्रं पश्य ।

आने मुक् ७ । २ । ८२ ॥ [7]अदन्ताऽङ्गस्य मुगागमः स्यादाने परे । पचमानं चेत्र पश्य । लडित्यनुवर्तमाने पुनर् लड्ग्रहणात्प्रथमासामानाधिकरण्येऽपि क्वचित् । सन् द्विजः ।

विदेः शतुर्वसुः ७ । १ । ३६ ॥ [8]वेत्तेः परस्य शतुर्वसुरादेशो वा । विदन् । विद्वान् ।

तौ सत् ३ । २ १२७ ॥ [9]तौ = शतृशानचौ सत्संज्ञौ स्तः ।

लृटः सद्वा ३ । ३ । १४ ॥ [10][लृटः शतृशानचौ वा स्तः] व्यवस्थितविभाषेयम् । तेनाऽप्रथमासामानाधिकरण्ये प्रत्ययोत्तरपदयोः सम्बोधने लक्षणहेत्वोश्च नित्यम् । करिष्यन्तं करिष्माणं पश्य ।

दृढ इति । स्थूले बलवति चार्थे दृढ इति निपात्यते । **दधातेर्हि.**—तादौ किति दधातेर्हिः स्यात् । अधायि इति **हितम्** । जगामेति **'जगन्वान्'** । अत्र क्वसुप्रत्ययः । **पचन्तं चैत्रम्** इति—एवमेव पचता चैत्रेण, पचते चैत्राय इत्यादयोऽपि बोध्याः । किन्त्वत्र

१—स्थूल एव बलवान् अर्थ मे 'दृढ' ऐसा निपातन से 'सिद्ध' होता है । २—तादि कित् पर हो तो धा धातु को हि आदेश होता है । ३—तादि कित् पर हो तो घुसंज्ञक दा धातु को दथ् आदेश होता है । ४—लिट् के स्थान में कानच् एवं क्वसु प्रत्यय विकल्प से होते हैं । ५—मकार या वकार पर हो तो मान्त धातु को नकार आदेश होता है । ६—अप्रथमान्त के साथ सामानाधिकरण्य (एकाधिकरण्य) हो तो लट् के स्थान में शतृ एवं शानच् प्रत्यय होते हैं । ७-आन पर हो तो अदन्त अङ्ग को मुम् का आगम होता है । ८-विद् धातु से पर शतृ के स्थान में वसु आदेश विकल्प से होता है । ९--शतृ एवं शानच् 'सत्' संज्ञक होते हैं । १०—यहाँ के लृट् के स्थान मे सत् संज्ञक (शतृ-शानच्) प्रत्यय विकल्प से होते हैं ।

आ क्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु ३ । २ । १३४ ॥ [1]क्विपमभिव्याप्य वक्ष्यमाणाः प्रत्ययास्तच्छीलादिषु कर्तृषु बोध्याः ।

तृन् ३ । २ । १३५ ॥ [2]कर्ता कटान् ।

[3]**जल्पभिक्षकुट्टलुण्टवृङः षाकन् ३ । २ । १५५ ॥**

षः प्रत्ययस्य १ । ३ । ६ ॥ [4]प्रत्ययस्याऽऽदिः ष इत्संज्ञः स्यात् । जल्पाकः । भिक्षाकः । कुट्टाकः । लुण्टाकः । वराकः । वराकी ।

सनाशंसभिक्ष उः ३ । २ । १६८ ॥ [5]चिकीर्षुः । आशंसुः । भिक्षुः ।

भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः क्विप् ३ । २ । १७७ ॥ [6]विभ्राट् । भाः ।

राल्लोपः ६ । ४ । २१ ॥ [7]रेफाच्छ्वोर्लोपः क्वौ झलादौ क्ङिति । धूः । विद्युत् । ऊर्क् । पूः । दृशिग्रहणस्याऽपकर्षाज्जवतेर्दीर्घः । जूः । ग्रावस्तुत् ।

लटः शतृ–शानचौ पाक्षिकौ, पार्कक्रियाकर्तुः सामानाधिकरण्यादिति ध्येयम् ।

आक्वेरिति—अर्थाधिकारोऽयम्, एतदारभ्य 'भ्राजभास–' इति–एतच्छास्त्र-पर्यन्तप्रत्ययाः यथायथमेष्वर्थेषु बोध्याः । **'जल्पभिक्ष' इति**–एभ्यः षाकन् प्रत्ययः स्यात् । जल्पतीति **'जल्पाकः'** । जल्प व्यक्तायां वाचि । भिक्षते तच्छीलो **'भिक्षाकः'** । भिक्ष भिक्षायाम् । कुट्टतीति **'कुट्टाकः'** । कुट्ट छेदने । लुण्टतीति **'लुण्टाकः'** । लुटि स्तेये ।

'भ्राजभास' इत्यादि—विभ्राजते इति **'विभ्राट्'** । टुभ्राजृ दीप्तौ । भासते इति **'भाः'** । भास् दीप्तौ । धुर्वतीति **'धूः'** । धुर्वी हिंसायाम् । विद्योतते इति **'विद्युत्'** । द्युत दीप्तौ । ऊर्जतीति **'ऊर्क्'** । ऊर्ज बलप्राणनयोः । पिपर्त्तीति **'पूः'** । पॄ पालनपूरणयोः । जु गताविति सौत्रो धातुः । ग्रावाणं स्तौति-इति **'ग्रावस्तुत्'** । अत्र 'ग्रावन्' शब्दपूर्वः' ष्टुञ् स्तुतौ धातुः । **दृशिग्रहणस्येति**–'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इत्यग्रिमसूत्राद् दृशिग्रहणमपकृष्यते । तेन जुधातोः क्विप् दीर्घश्च भवतः इति भावः ।

१—यहाँ से क्विप् प्रत्यय पर्यन्त कहे जाने वाले सभी प्रत्यय तच्छील आदि अर्थों मे होते हैं (जानना चाहिये)। २—तच्छील अर्थों में धातुओ से तृन् प्रत्यय होते हैं। ३—जल्प, भिक्ष, कुट्ट, लुण्ट, एवं वृङ् धातु से तच्छीलादि अर्थों में षाकन् प्रत्यय होता है। ४—प्रत्यय के आदि मे रहने वाला षकार 'इत्' संज्ञक होता है। अर्थात् इत्संज्ञा होने से 'तस्य लोपः' से उसका लोप हो जाता है। ५—सन्नन्त धातु एवं आशंस् तथा भिक्ष् धातु मे 'उ' प्रत्यय होता है। ६—भ्राज् आदि (सूत्रोक्त) धातुओं से क्विप् प्रत्यय होता है। ७—क्विप् एवं झलादि कित्, ङित् पर हो तो रेफ से परे छ् एवं व् का लोप होता है।

*क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणञ्च[1]। वक्तीति वाक्।

च्छ्वोः शूडनुनासिके च ६।४।१९॥ [2]सतुक्कस्य छस्य वस्य च क्रमात् 'श्' 'ऊठ्' इत्यादेशौ स्तोऽनुनासिके क्वौ झलादौ च क्ङिति। पृच्छतीति प्राट्। आयतं स्तौतीति आयतस्तूः। कटं प्रवते कटप्रूः। जूरुक्तः। श्रयति हरिं श्रीः।

दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे ३।२।१८२॥ [3]दाबादेः ष्ट्रन् स्यात् करणेऽर्थे। दात्यनेन दात्रम्। नेत्रम्।

तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च ७।२।९॥ [4]एषां दशानां कृत्प्रत्ययानामिण् न। शस्त्रम्। योत्रम्। योक्त्रम्। स्तोत्रम्। तोत्त्रम्। सेत्रम्। सेक्त्रम्। मेढ्रम्। पत्रम्। दंष्ट्रा। नद्ध्री।

दाम्नीति–दाप् लवने **दात्रम्**। णीञ् प्रापणे **नेत्रम्**। शसु हिंसायां **शस्त्रम्**। यु मिश्रणामिश्रणयोः **योत्रम्**। युजिर् योगे **योक्त्रम्**। ष्टुञ् स्तुतौ **स्तोत्रम्**। तुद व्यथने **तोत्त्रम्**। षिञ् बन्धने **सेत्रम्**। षिच् क्षरणे **सेक्त्रम्**। मिह सेचने (मूत्रकरणे) **मेढ्रम्**। पत पतने **पत्रम्**। दंश दंशने दंष्ट्रा। णह बन्धने **नद्ध्री**। **ति–तु–त्र–त–थ–सि–सु–सर–क–स–**इत्येतेषु कृत्प्रत्ययेषु इडागमो न भवति। 'ति' इति क्तिन्–क्तिचोर्ग्रहणम् 'क्तिन् क्तिच्'—दीप्तिः। 'तु' इत्यौणादिकः 'तुन्' प्रत्ययः, 'सेतुः'–'सक्तुः' इति। 'त्र' इति दाम्नीत्यादिना विहितः 'ष्ट्रन्'। 'दात्रम्–पात्रम्' इत्यादि। 'त' इत्यौणादिकः 'तन्' प्रत्ययः–'हस्त' इत्यादि। औणादिकस्यैव तशब्दस्य ग्रहणम् न तु कृदन्तस्य। तेन कृति 'हसितम्' इत्येव भवति। 'थ' इत्यौणादिकः 'क्थन्' हथः, कुष्ठम्, काष्ठम् इत्यादि। 'सि' इत्यौणादिकः 'क्सिः' प्रत्ययः–'कुक्षिः' इत्यादि। 'सु' इति 'इषेः क्सुः'–'इक्षुः' इति। 'सर' इति अशेः सरः–अक्षरम् इति। 'क' इत्यौणादिकः 'कन्' प्रत्ययः–'शुल्कः' इति। 'स' इति इत्यौणादिकः 'सः' प्रत्ययः–'वत्सः' इति। तितुत्रेष्वग्रहादीनामिति वक्तव्यम् इति सूत्रापवादवार्ति-

---

१—वच् प्रच्छ् आदि (सूत्रोक्त) धातुओं से क्विप् प्रत्यय होता है, एवं (उपाधा को) दीर्घ तथा सम्प्रसारण का अभाव भी होता है। २—अनुनासिक एवं क्विप् या झलादि कित्, ङित् पर हो तो तुक्–विशिष्ट छ् तथा व् को क्रम से श् तथा ऊठ् आदेश होते हैं। ३—करण अर्थ में दाप्, नी, शस् यु, युज्, ष्टु, तुद्, षिञ्, षिच्, मिह्, पत, दश्, णह्–इन धातुओं से ष्ट्रन् प्रत्यय होता है। ४—ति, तु–आदि (सूत्रोक्त) इन दस कृत्प्रत्ययों को इट् नहीं होता।

अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः ३।२।१८४॥ [1][अर्त्यादिभ्यः इत्रन् स्यात्करणेऽर्थे] अरित्रम्। लवित्रम्। धुवित्रम्। सवित्रम्। खनित्रम्। सहित्रम्। चरित्रम्।

पुवः सञ्ज्ञायाम् ३।२।१८५॥ [2][करणे पुवः इत्रन् स्यात्संज्ञायाम्] पवित्रम्।

॥ इति पूर्वकृदन्तम् ॥



अथोणादयः

कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् ॥ १ ॥ [3]करोतीति कारुः। वातीति वायुः। पायुर्गुदम्। जायुरौषधम्। मायुः पित्तम्। स्वादुः। साध्नोति परकार्यमिति साधुः। आशु शीघ्रम्।

उणादयो बहुलम् ३।३।१॥ [4]एते वर्तमाने संज्ञायां च बहुलं स्युः। केचिदविहिता अप्यूह्याः।

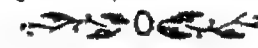
[5]संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु॥

॥ इत्युणादयः ॥



कारम्भात् निगृहीतिरित्यादाविण्निषेधो न। **'अर्तिलूधू-इत्यादि—'अरित्रम्'**। ऋ गतौ। 'लवित्रम्'–लूञ् छेदने। 'धुवित्रम्'–धूञ् विधूनने। 'सवित्रम्'–षू प्रेरणे। 'खनित्रम्'–खनु अवदारणे। 'सहित्रम्'–षह मर्षणे। 'चरित्रम्'–चर गतिभक्षणयोः।

॥ इति पूर्वकृदन्तम् ॥



केचिदविहिता अप्यूह्याः–इति–कथमूह्याः? इति प्रश्ने प्रतिपादयति-**संज्ञा-**

१—करण (साधन) अर्थ मे ऋ, लू, धू, सू, खन्, सह्, चर धातुओं से इत्र प्रत्यय होता है। २—पूञ् धातु से इत्र प्रत्यय होता है सज्ञा मे (सिद्ध होने पर यदि संज्ञा बोधित होवे)।

॥ इति पूर्वकृदन्तम् ॥



३—कृ, वा, पा, जि, मि, स्वद, साध एवं अश्–धातु से उण् प्रत्यय होता है। ४—वर्तमान काल मे उणादि प्रत्यय विकल्प से होते हैं। ५—संज्ञा शब्दो मे (जैसे डित्थ डवित्थ आदि) जो किसी के वाचक हैं किन्तु सिद्ध नहीं हो पाते ऐसे शब्दो मे धातु के रूप का और उसके बाद प्रत्यय का ऊहापोह करना चाहिये, जो संकेत हों। **कार्यादिति**। कित्

अथोत्तरकृदन्तम् ।

तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ३ । ३ । १० ॥ [1]क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे भविष्यत्यर्थे धातोरेतौ स्तः । मान्तत्वादव्ययत्वम् । कृष्णं द्रष्टुं याति । कृष्णं दर्शको याति ।

कालसमयवेलासु तुमुन् ३ । ३ । १६७ ॥ [2]कालार्थेषूपपदेषु तुमुन् स्यात् । कालः समयो वेला वा भोक्तुम् ।

भावे ३ । ३ । १८ ॥ [3]सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्ये धातोर्घञ् । पाकः ।

अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् ३।३।१९ ॥ [4]कर्तृभिन्ने कारके घञ् स्यात् ।

घञि च भावकरणयोः ६ । ४ । २७ ॥ [5]रञ्जेर्नलोपः स्यात् । रागः । अनयोः क्रिम् ? रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः ।

स्विति । अस्यायमभिप्रायः—संज्ञासु संज्ञाशब्देषु धातुरूपाणि प्रकल्प्य ततः परं प्रत्ययाः कल्पनीयाः । तथा प्रत्ययेष्वपि गुणवृद्धिसम्प्रसारणतदभावादिकार्यानुसारेण ञिणत्वं किडत्वञ्चेत्याद्यनुबन्धं जानीयात्, एतदेवोणादिषु शासनयोग्यमिति ज्ञेयम् । यथा—'ऋफिड्डः' इति संज्ञाशब्दः, अत्र 'ऋ' धातुः प्रकृतिः, ततो फिड्ड प्रत्ययः, अत्र गुणाभावदर्शनाच्च प्रत्ययस्य कित्वमित्याद्यूह्यते ॥ **इत्युणादयः ॥**

द्रष्टुम्—अत्र 'अव्ययकृतो भावे' इति भावे प्रत्ययः । कृन्मेजन्त इत्यव्ययत्वम् । इरित्संज्ञक दृश् धातोः 'तुमुन् ण्वुलौ' इति तुमुन्यनुबन्धलोपे 'सृजिदृशोः—' इत्यमागमे यणि च कृते तत्सिद्धिः । **दर्शकः**—इत्यत्र 'तुमुन्ण्वुलौ' इति ण्वुल्यनुबन्धलोपे 'वु' इत्यस्य 'युवोरनाकौ' इत्यकादेशे विभक्तिकार्ये च कृते 'दर्शकः' इति । अत्र 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति षष्ठ्याः प्रतिषेधो ज्ञेयः । **पाकः** । 'पचनं' पाकः इत्यत्र 'भावे' इति घञि—अनुबन्धलोपे 'अत उपधायाः' 'इति वृद्धौ, कुत्वे, विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः ।

घञि चेति—भावे करणे च यो घञ् तस्मिन्परे रञ्जेर्नस्य लोपः स्यात् ।

रागः—'रञ्जनम्' 'रज्यतेऽनेन' इति वा विग्रहे 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्'

होने से गुण नहीं होता है अतः गुणाभावादि कार्य के अनुसार ककार आदि अनुबन्ध भी समझना । यही उणादि में अनुशासन है ॥ इत्युणादयः ॥

१—क्रियार्थक क्रिया उपपद हो तो भविष्यत् अर्थ मे धातु से तुमुन् एवं ण्वुल् प्रत्यय होता है । २—कालार्थक उपपद होवे तो धातु से तुमुन् प्रत्यय होता है । ३—(भाव के दो भेद है—१—सिद्धावस्थापन्न, २—साध्यावस्थापन्न) सिद्धावस्थापन्न धात्वर्थ वाच्य हो तो धातु से घञ् प्रत्यय होता है । ४—कर्ता से भिन्न कारक में घञ् प्रत्यय होता है, संज्ञा अर्थ गम्यमान हो तब । ५—भाव या करण अर्थ में विहित घञ् प्रत्यय पर हो तो रञ्ज् धातु के नकार का लोप होता है ।

निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः ३ । ३ । ४१ ॥ [१]एषु चिनोतेर्घञ् आदेश्च ककारः । **उपसमाधानं** राशीकरणम् । निकायः । कायः । गोमयनिकायः ।

एरच् ३ । ३ । ५६ ॥ [२]इवर्णान्तादच् । चयः । जयः ।

ॠदोरप् ३ । ३ । ५७ ॥ [३]ॠवर्णान्तादुवर्णान्ताच्चाऽप् । करः । गरः । यवः । लवः । स्तवः । पवः । [४]**॥ घञर्थे कविधानम् ॥** प्रस्थः । विघ्नः ।

[५]**ड्वितः क्त्रिः ३ । ३ । ८८ ॥ क्त्रेर्मम् नित्यम् ४ । ४ । २० ॥** [६]क्त्रिप्रत्ययान्तान्मप्स्यान्निर्वृत्तेऽर्थे । पाकेन निर्वृत्तं पक्त्रिमम् । **डुवप्**—उप्त्रिमम् ।

ट्वितोऽथुच् २ । ३ । ८९ ॥ [७][ट्वितोऽथुच् स्याद्भावे] **टुवेपृ** प्रकम्पने । वेपथुः ।

यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् ३ । ३ । ९० ॥ [८]यज्ञः । याच्ञा । यत्नः । विश्नः । प्रश्नः । रक्ष्णः ।

इति घञि—अनुबन्धलोपे, 'घञि च भावकर्मणोः' इति नलोपे वृद्धौ, कुत्वे विभक्त्यादिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः । चीयतेऽस्मिन्नस्थ्यादिकमिति **कायः**—शरीरम् । 'चयनं' 'चीयतेऽसौ' वा **चयः** । जयनं **जयः** इत्यादि । प्रतिष्ठन्ते धान्यादिकमत्र अनेनेति वा प्रस्थः—परिमाणभेदः । प्रतिष्ठन्ते जना अत्रेति विग्रहे प्रस्थो ज्ञेयः । अत्राधिकरणे कः । आलोपादि ।

विघ्नः—विघ्नन्तीति मनांस्यत्रेति घञर्थे क-प्रत्यये गमहनेत्युपधालोपे, होहन्तेरिति कुत्वम् । **ड्वितः क्त्रिः**—ड्वितो धातोः क्त्रिः स्याद् भावे । वापेन निर्वृत्तं **उप्त्रिमम्** । वेपनं वेपथुः । **यजयाचेत्यादि**—भावेऽकर्त्तरि च कारके यजादिभ्यो नङ् स्यात् । इज्यते, यजनम् इति वा **यज्ञः**-यज् धातोः 'यजया—०' इति नङि ङकारलोपे, श्चुत्वेन नकारस्य ञकारे, संयोगेन जञोर्ज्ञे विभक्तिकार्ये च कृते 'यज्ञः' इति । याचनं **याच्ञा** । यतनं यत्नः । विच्छनं **विश्नः** । प्रच्छनं **प्रश्नः** । रक्षणं **रक्ष्णः** ।

१—निवास, चिति, शरीर एवं उपसमाधान अर्थों में चिञ् धातु से घञ् प्रत्यय होता है, चकारात्—चिञ् धातु के आदि चकार को ककार आदेश भी होता है । २—इवर्णान्त धातु से अच् प्रत्यय होता है । ३—ॠवर्णान्त तथा उवर्णान्त धातु से अप् प्रत्यय होता है । ४—घञर्थ में 'क' प्रत्यय होता है । ५—ड्वित (डु-इत्संज्ञक) धातु से क्त्रि प्रत्यय होता है । ६—निर्वृत्त (सिद्ध) अर्थ मे, क्त्रि—प्रत्ययान्त धातु से मप् प्रत्यय होता है । ७—ट्वित् (टु-इत्संज्ञक) धातु से अथुच् प्रत्यय में होता है । ८—यज्, याच्, विच्छ, प्रच्छ् एवं रक्ष् धातु से नङ् प्रत्यय होता है ।

स्वपो नन् ३ । ३ । ९१ ॥ [1]स्वप्नः ।

उपसर्गे घोः किः ३ । ३ । ९२ ॥ [2]प्रधिः । उपधिः ।

स्त्रियां क्तिन् ३ । ३ । ९४ ॥ [3]स्त्रीलिङ्गे भावे क्तिन् स्यात् । घञोऽपवादः । कृतिः । स्तुतिः । [4]**ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वाच्यः ।** तेन नत्वम् । कीर्णिः । गीर्णिः । लूनिः । धूनिः । पूनिः । [5]**सम्पदादिभ्यः क्विप् ।** सम्पत् । विपत् । आपत् । [6]**क्तिन्नपीष्यते ।** सम्पत्तिः । विपत्तिः । आपत्तिः ।

ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च ३ । ३ । ९७ ॥ [7]एते निपात्यन्ते ।

ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च ६ । ४ । २० ॥ [8]एषामुपधावकारयोरूठ् स्यादनुनासिके क्वौ झलादौ क्ङिति । अतः क्विप् । जूः । तूः । स्रूः । ऊः । मूः ।

इच्छा ३ । ३ । १०१ ॥ [9]इषेर्निपातोऽयम् ।

अ प्रत्ययात् ३ । ३ । १०२ ॥ [10]प्रत्ययान्तेभ्यो धातुभ्यः स्त्रियामकार प्रत्ययः स्यात् । चिकीर्षा । पुत्रकाम्या ।

गुरोश्च हलः ३ । ३ । १०३ ॥ [11]गुरुमतो हलन्तात्स्त्रियामकारः प्रत्ययः स्यात् । ईहा ।

स्वपनं **स्वप्नः** । **'उपसर्गे–'** इति उपसर्गे उपपदे घुसंज्ञकाद् धातोः कि-प्रत्ययो भवति भावे अकर्तरि कारके च । प्रधीयते इति **प्रधिः** । उपधीयते इति **उपधि**.–अनयोः कित्वादालोपः । कारणं **कृतिः** । स्तूयतेऽनया, स्तवनं वा **स्तुतिः** । (अग्रेऽपि प्राय एवमेव विग्रहो ज्ञेयः) । **ऋल्वादिभ्यः**–इति–ॠकारान्ताल्ल्वादिभ्यश्च परः क्तिन् प्रत्ययः निष्ठावद् भवतीति भावः । **इच्छेति**—इषेर्भावे शप्रत्ययो यगभावश्च निपात्यते । एषणम् **इच्छा** । कर्तुमिच्छा **चिकीर्षा** । कर्तुमिच्छति चिकीर्षति

१—स्वप् धातु से नन् प्रत्यय होता है । २—उपसर्ग उपपद होवे तो घुसंज्ञक धातु से 'कि' प्रत्यय होता है । ३—स्त्रीलिङ्गभाव द्योत्य हो तो धातु से क्तिन् प्रत्यय होता है । ४—ऋल्वादि से विहित क्तिन् प्रत्यय निष्ठा की तरह होता है । ५—सम्पदादियों से क्विप् होता है । ६—(भाव में तथा कर्तृ-भिन्न कारक में) सम्पदादियों से क्तिन् प्रत्यय भी होता है । ७—ऊति–यूति–जूति–साति–हेति तथा कीर्ति—ये निपातन से सिद्ध होते हैं । ८—अनुनासिक और क्विप् या झलादि कित्, ङित् पर हो तो ज्वर–त्वर-स्रिवि–अवि–मव–धातुओं के उपधा एवं वकार को ऊठ् होता है । ९—इष् धातु से 'इच्छा' ऐसा निपातन होता है । (अर्थात् इष् धातु से भाव में 'श' प्रत्यय तथा यक् का अभाव भी निपातन से होता है) १०—प्रत्ययान्त धातु से स्त्रीलिङ्ग में 'अ' प्रत्यय होता है । ११—गुरुमान् हलन्त धातुओं से स्त्रीलिङ्ग में अकार प्रत्यय होता है ।

ण्यासश्रन्थो युच् ३।३।१०७ ॥ [1]अकारस्यापवादः। कारणा। हारणा।

[2]**नपुंसके भावे क्तः ३। ३। ११४॥**

ल्युट् च ३। ३। ११५॥ [3]हसितम्। हसनम्।

पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण ३। ३। ११८॥ [4]**छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य ६। ४। ९६॥** [5]द्विप्रभृत्युपसर्गस्य छादेर्ह्रस्वो घे परे। दन्ताश्छाद्यन्तेऽनेन दन्तच्छदः। आकुर्वन्त्यस्मिन्नित्याकरः।

अवे तॄस्त्रोर्घञ् ३।३।१२०॥ [6]अवतारः कूपादेः। अवस्तारो जवनिका।

हलश्च ३। ३। १२१॥ [7]हलन्ताद्घञ्। घापवादः। रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः। अपमृज्यतेऽनेन व्याध्यादिरित्यपामार्गः।

ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् ३। ३। १२६॥ [8]करणाधिकरणयोरिति निवृत्तम्। एषु दुःखसुखार्थेषूपपदेषु खल्। तयोरेवेति भावे कर्मणि च। **कृच्छ्रे**—दुष्करः कटो भवता। **अकृच्छ्रे**—ईषत्करः। सुकरः।

[9]**आतो युच् ३। ३। १२८॥** खलोऽपवादः। ईषत्पानः सोमो भवता। दुष्पानः। सुपानः।

इति विग्रहे 'चिकीर्ष' इत्यस्मात् 'अ प्रत्ययात्' इति अप्रत्यय, अतो लोपेनाकारलोपे, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे 'अजाद्यतष्टाप्' इति टाप्यनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः। **अप्रत्ययस्यापवाद इति**। 'अ प्रत्ययात्'—'गुरोश्च हलः' इति प्राप्तस्य-अ-प्रत्ययस्यापवादः।

ल्युट् च— क्तो ल्युट् नपुंसके भावे स्त्रियां क्तिन्नादयो यतः।
अतो घञजपः पुंसि परिशेषादिति स्थितिः॥

दुष्करः—दुस् पूर्वक कृधातोः 'ईषद्दुस्सुषु' इति खल्यनुबन्धलोपे, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे, रपरे, उपसर्गसकारस्य षत्वे विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः। **आतो युच्**—आदन्ताद्धातोर्युच् स्यादीषदादिषूपपदेषु। ईषत्पीयते इति—'**ईषत्पानः**'।

१—ण्यन्त धातुओं तथा आस्, श्रन्थ—धातुओं से युच् प्रत्यय होता है। २—नपुंसक लिङ्ग में भाव में धातु से 'क्त' प्रत्यय होता है। ३—ल्युट् प्रत्यय भी होता है। ४—पुंल्लिङ्ग में, संज्ञा में धातु से 'घ' प्रत्यय बहुलता से होता है। ५—द्विप्रभृति उपसर्ग से रहित छादि धातु को ह्रस्व होता है, घ प्रत्यय पर हो तब। ६—पुंल्लिङ्ग में, संज्ञा में अव उपपद रहते स्तॄ धातु से घञ् प्रत्यय होता है (करण तथा अधिकरण अर्थ में)। ७—करण तथा अधिकरण- अर्थ में हलन्त धातु से घञ् प्रत्यय होता है। ८—कृच्छ्र (दुःखार्थक), अकृच्छ्र (सुखार्थक) ईषत्, दुस्, सु, ये (कोई) उपपद हों तो धातु से खल् प्रत्यय होता है। ९—ईषत्-आदि कोई उपपद हों तो आदन्त धातु से युच् प्रत्यय होता है।

अलङ्खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा ३ । ४ । १८ ॥ [1]प्रतिषेधार्थयोरलङ्खल्वोरुपपदयोः क्त्वा स्यात् । प्राचां ग्रहणं पूजार्थम् । अमैवाव्ययेनेति नियमान्नोपपदसमासः । दो दद्धोः । अलं दत्त्वा । घुमास्थेतीत्त्वम् । पीत्वा खलु । अलङ्खल्वोः किम् ? मा कार्षीत् । प्रतिषेधयोः किम् ? अलङ्कारः ।

समानकर्तृकयोः पूर्वकाले ३ । ४ । २१ ॥ [2]समानकर्तृकयोर्धात्वर्थयोः पूर्वकाले विद्यमानाद्धातोः क्त्वा स्यात् । भुक्त्वा व्रजति । द्वित्वमतन्त्रम् । भुक्त्वा पीत्वा व्रजति ।

न क्त्वा सेट् १ । २ । १८ ॥ [3]सेट् क्त्वा किन्न स्यात् । शयित्वा । सेट् किम् ? कृत्वा ।

रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च १ । २ । २६ ॥ [4]इवर्णोवर्णोपधाद्धलादे रलन्तात्परौ क्त्वासनौ सेटौ वा कितौ स्तः । द्युतित्वा-द्योतित्वा । लिखित्वा-लेखित्वा । व्युपधात्किम् ? वर्तित्वा । रलः किम् ? सेवित्वा । हलादेः किम् ? एषित्वा । सेट् किम् ? भुक्त्वा ।

उदितो वा ७ । २ । ५६ ॥ [5]उदितः परस्य क्त्व इड् वा । शमित्वा-शान्त्वा । देवित्वा-द्यूत्वा । दधातेर्हिः । हित्वा ।

[6]**जहातेश्च क्त्वि ७ । १ । ४३ ॥** हित्वा । हाङस्तु हात्वा ।

प्राचामिति । अयम्भावः-अव्ययकृतो भावे इति वचनात् क्त्वा प्रत्ययो भावे, स च ल्युट्-प्रत्ययस्य बाधकः, वा सरूपन्यायेनैव विकल्पेन सिद्धे, प्राचां ग्रहणं व्यर्थमित्यत आह-प्राचां ग्रहणम् पूजार्थम्-इति ।

अमैवेति—एवं (नियमसूत्रार्थः) अमैव तुल्यविधानं यदुपपदं तदेवाव्ययेन सह समस्यते इति । अत्र तु न 'अम्' किन्तु क्त्वा । अतः समासाभाव इति । **शान्त्वेत्यत्र**-अनुनासिकस्य क्विझलोरिति दीर्घः । **'शान्त्वा'**-'शमु उपशमे' इति । **'द्यूत्वा'**—इत्यत्र च्छ्वोः शूडनुनासिके चेत्यूठ् ।

जहातेश्च—ओहाक् धातोर्ह्यादेशः स्यात् क्त्वा प्रत्यये परे । **'हित्वा'**—'हा'

१—निषेधवाची अलं या खलु उपपद हो तो क्त्वा प्रत्यय होता है, प्राचीनों के मत से । २—समान एककर्तृक धात्वर्थों मे पूर्वकालिकी क्रिया मे वर्तमान जो धातु उससे क्त्वा प्रत्यय होता है । ३—इट्-सहित क्त्वा कित् नहीं होता है । ४—इवर्ण या उवर्ण हो उपधा में जिसके ऐसे रलन्त धातुओं से परे इट्-सहित-क्त्वा एवं सन् विकल्प से कित् होते हैं । ५—उदित् धातुओं से परे क्त्वा को इट् विकल्प से होता है । ६—क्त्वा प्रत्यय पर हो तो ओहाक् धातु को हि आदेश होता है ।

समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ७ । १ । ३७ ॥ [1]अव्ययपूर्वपदेऽनञ्समासे क्त्वो ल्यबादेशः स्यात् । तुक् । प्रकृत्य । अनञ् किम् ? अकृत्वा ।

आभीक्ष्ण्ये णमुल् च ३ । ४ । २२ ॥ [2]आभीक्ष्ण्ये पूर्वविषये णमुल् स्यात् क्त्वा च ।

नित्यवीप्सयोः ८ । १ । ४ ॥ [3]आभीक्ष्ण्ये द्योत्ये वीप्सायां च पदस्य द्वित्वं स्यात् । आभीक्ष्ण्य तिङन्तेष्वव्ययसंज्ञककृदन्तेषु च । स्मारं-स्मारं नमति शिवम् । स्मृत्वा-स्मृत्वा । पायं-पायम् । भोजं-भोजम् । श्रावं-श्रावम् ।

अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत् ३ । ४ । २७ ॥ [4]एषु कृञो णमुल् स्यात्सिद्धोऽप्रयोगोऽस्य एवंभूतश्चेत् कृञ् । व्यर्थत्वात्प्रयोगानर्हं इत्यर्थः । अन्यथाकारम् । एवङ्कारम् । कथङ्कारम् । इत्थङ्कारं भुङ्क्ते । सिद्धेति किम् ? शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते ।

॥ इति कृदन्तप्रक्रिया ॥

अथ विभक्त्यर्थाः

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २ । ३ । ४६ ॥ [5]नियः-

---

इत्यस्मात् 'समानकर्तृकयोः–' इति क्त्वा प्रत्यये, ककारलोपे, 'जहातेश्च क्त्वि' इति ह्यादेशे 'हित्वा' इति । दधातेर्हित्वेऽपि 'हित्वा' इति ।

पूर्वविषये इति—समानकर्तृकयोः पूर्वकालिकक्रियावृत्तेर्धातोर्णमुलस्याद् आभीक्ष्ण्ये = पौनःपुन्ये द्योत्ये । **पायम्पायमित्यत्र** 'आतो युक्–' इति युक् ।

इत्युत्तरकृदन्तप्रकरणम् ।

प्रातिपदिकार्थश्च लिङ्गं च परिमाणञ्च वचनञ्च तानि प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनानि, तान्येवतन्मात्रम्, तस्मिन् 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे' इति विग्रहः । अत्र वचनशब्दान्ते द्वन्द्वे कृते मात्रान्तरयोर्नित्यसमासवचनं क्लीबत्वञ्चेति । मयूरव्यंसकादित्वात्समासः । पदसमुदायो वाक्यम् । तथा च वाक्यार्थज्ञाने पदार्थ-

---

१—अव्यय पूर्वपद में हो तो नञ् से भिन्न समास में क्त्वा को ल्यप् आदेश होता है । २—आभीक्ष्ण्य 'पौनःपुन्य' अर्थ द्योत्य हो तो क्त्वा के विषय में णमुल् प्रत्यय होता है । ३—अभीक्ष्ण्य तथा वीप्सा अर्थ द्योत्य हो तो पद को द्वित्व होता है । ४—अन्यथा, एवं कथं, या इत्थं उपपद हो तो कृञ् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है, सिद्धाप्रयोग (सिद्ध है अप्रयोग ऐसा कृञ् हो तब) अर्थात् कृञ् का प्रयोग व्यर्थ होवे तो णमुल् होता है ।

॥ इति कृदन्तप्रक्रिया ॥

५—नित्य=व्यापक उपस्थिति है जिसकी उसको प्रातिपदिकार्थ कहते हैं ।

तोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः । [1]मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः । प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये परिमाणमात्रे सङ्ख्यामात्रे च प्रथमा स्यात् । प्रातिपदिकार्थमात्रे–उच्चैः, नीचैः, कृष्णः, श्रीः, ज्ञानम् । लिङ्गमात्रे–तटः, तटी, तटम् । परिमाणमात्रे–द्रोणो व्रीहिः । वचनं सङ्ख्या । एकः, द्वौ, बहवः ।

सम्बोधने च २ । ३ । ४७ ॥ [2]प्रथमा स्यात् । हे राम ! इति प्रथमा ।

कर्तुरीप्सिततमं कर्म १ । ४ । ४९ ॥ [3]कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ।

कर्मणि द्वितीया २ । ३ । २ ॥ [4]अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात् । हरिं भजति । अभिहिते तु कर्मादौ प्रथमा–हरिः सेव्यते । लक्ष्म्या सेवितः ।

अकथितञ्च १ । ४ । ५१ ॥ [5]अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ।

ज्ञानं कारणमित्यत आह **नियतेति** । नियता उपस्थितिर्यस्यासौ नियतोपस्थितिकः । यस्मिन् प्रातिपदिके उच्चारिते यस्यार्थस्य नियमेन भानं स **'प्रातिपदिकार्थः'** । तन्मात्रे प्रथमा इत्यर्थः । यथा—उच्चैरित्युच्चारिते उच्चाधिकरणस्य, नीचैरित्यत्र अधोऽधिकरणस्य, कृष्णः' इत्यत्र पुंस्त्वविशिष्टवासुदेवरूपार्थस्य, श्रीः इत्यत्र स्त्रीत्वविशिष्टलक्ष्मीरूपार्थस्य, ज्ञानमित्यत्र क्लीबत्वविशिष्टान्तःप्रकाशरूपस्य च भानम् । तस्मात्तेषु तेऽर्थाः नियतोपस्थितिकाः । तत्रार्थे (प्रातिपदिकार्थे) प्रथमा ।

मात्रशब्दस्येति—द्वन्द्वादौ द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाण पदं प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते इति ।

'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इत्यस्य समन्वयो **हरिं भजति** इति (देवदत्तः इति शेषः) । अत्र देवदत्तः कर्ता, तद्वृत्तिक्रिया प्रीत्यनुकूलव्यापाररूपा, तया (क्रियया) आप्तुं सम्बन्धु-मिष्टतमम् इच्छोद्देश्यं हरिपदरूपं कारकं, तस्य कर्मसंज्ञा । ततश्च कर्मणि द्वितीयेति द्वितीया । एवं ग्रामं गच्छतीत्यत्र ग्रामः संयोगाश्रयो भवतु–इत्यादिषु तत्तद्रूपेच्छा तत्र तत्रोहनीया । **अकथितं च**—अपादान-सम्प्रदान-अधिकरणत्वरूपेणाविवक्षितं कर्मत्वेन विवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञमित्यर्थः ।

१—मात्र शब्द का प्रत्येक से योग है । प्रातिपदिकार्थमात्र में, लिङ्ग आदि के आधिक्य में, परिमाण मात्र में तथा संख्यामात्र से प्रथमा विभक्ति होती है । २–सम्बोधन अर्थ में प्रथमा विभक्ति होती है । ३—कर्ता के क्रिया द्वारा प्राप्त करने के लिए अत्यन्त इष्ट (अभिलषित) कारक कर्म–संज्ञक होता है । ४—जिसमें प्रत्यय होता है वह उक्त है, (जिसमें प्रत्यय नहीं होता वह अनुक्त कहा जाता है) अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है । ५—अपादान

[1]दुह्याच्पच्दण्ड्रुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथ्मुषाम् ।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम् ॥ १ ॥

[2]गां दोग्धि पयः । [3]बलिं याचते वसुधाम् । [अविनीतं विनयं याचते] । [4]तण्डुलानोदनं पचति । [5]गर्गान् शतं दण्डयति । [6]व्रजमवरुणद्धि गाम् । [7]माणवकं पन्थानं पृच्छति । [8]वृक्षमवचिनोति फलानि । [9]माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा । [10]शतं जयति देवदत्तम् । [11]सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति । [12]देवदत्तं शतं मुष्णाति । [13]ग्राममजां नयति हरति कर्षति वहति वा । **अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा ।** [14]बलिं भिक्षते वसुधाम् । [15]माणवकं धर्मं भाषते अभिधत्ते वक्तीत्यादि । इति द्वितीया ।

ननु 'गृहे धान्यं निक्षिपति' इत्यादौ गृहादेरपि कर्मत्वापत्तिरत आह—**दुह्याच्-इति**—दुहादीनां द्वादशानां नीप्रभृतीनाञ्च धातूनां यत्कर्म तत्सम्बधी योऽर्थस्तत्रापादनत्वाद्यविवक्षायां कर्मत्वविक्षायामेव कर्म संज्ञा नान्यत्रेति । 'गो' सकाशात् पयः दोग्धि' इत्यर्थे गां दोग्धि पयः इति । 'बलेः सकाशात् वसुधां याचते' इत्यर्थे बलिं याचते वसुधाम् । तण्डुलानामोदनं पचतीत्यर्थे तण्डुलानोदनं पचति । गर्गेभ्यः शतं दण्डयतीत्यर्थे गर्गान् शतं दण्डयति । 'व्रजे गामवरुणद्धि' इत्यर्थे व्रजमरुणद्धि गाम् । 'माणवकाद्-माणवकाय वा पन्थानं पृच्छति' इत्यर्थे 'माणवकं पन्थानं पृच्छति' । एवमेवाग्रेऽपि सर्वेषूह्यम् ।

अर्थनिबन्धनेयमिति—दुहादीनां धातूनां येऽर्थास्तद्वाचकधातुमात्रनिमित्तिकेय संज्ञेत्यर्थः । पाक-गमनादिक्रियायां यः पदार्थः स्वातन्त्र्येण वक्त्रा विवक्षितः, विवक्षा च इयं क्रिया अनेन कर्तव्येति रूपेण तदा सः अर्थः कर्तृसंज्ञः । अतएव 'स्थाली पचति' इत्यादयोऽपि प्रयोगा भवन्ति ।

सम्प्रदान आदि विशेषो से अविवक्षित कारक कर्म संज्ञक होता है ।'

१—दुह्, याच्–आदि मुष् पर्यन्त बारह धातुओं तथा नी-प्रभृति चार धातुओं के मुख्य कर्म के साथ क्रिया से सम्बन्ध्यमान कारक अकथित होता है, अर्थात् इन्हीं धातुओं के मुख्य कर्म के योग मे अपादानादि विशेषो से अविवक्षित कारक की कर्मसंज्ञा होती है । (ऐसा परिगणन है) २—गौ से दूध दूहना है । ३—राजा बलि से पृथ्वी माँगना है । ४–चावलो का भात बनाता है । ५—गर्गों से सौ रुपया दण्ड लेता है । ६—व्रज मे गौ को रोकता है । ७—लड़के से रास्ता पूँछता है । ८—वृक्ष से फल चुनता है । ९—बच्चे को धर्म का उपदेश करता है । १०—देवदत्त से सौ रुपया जीतता है । ११—अमृत के लिए क्षीरसागर को मथता है । १२–देवदत्त से सौ रुपया चुराता है । १३—गाँव मे बकरी को ले जाता है । १४—राजा बलि से पृथ्वी माँगता है । १५—बच्चे के लिए (बच्चे को) धर्म बता रहा है ।

स्वतन्त्रः कर्ता १ । ४ । ५४ ॥ [1]क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात् ।

साधकतमं करणम् १ । ४ । ४२ ॥ [2]क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञ स्यात् ।

कर्तृकरणयोस्तृतीया २ । ३ । १८ ॥ [3]अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात् । रामेण बाणेन हतो बाली । इति तृतीया ।

कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् १ । ४ । ३२ ॥ [4]दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात् ।

चतुर्थी सम्प्रदाने २ । ३ । १३ ॥ [5][सम्प्रदाने चतुर्थी स्यात्] विप्राय गां ददाति ।

नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च २ । ३ । १६ ॥ [6]एभिर्योगे चतुर्थी । हरये नमः । प्रजाभ्यः स्वस्ति । अग्नये स्वाहा । पितृभ्यः स्वधा । अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम् । तेन दैत्येभ्यो हरिरलं, प्रभुः, समर्थः, शक्त इत्यादि । इति चतुर्थी ।

ध्रुवमपायेऽपादानम् १ । ४ । २४ ॥ [7]अपायो–विश्लेषस्तस्मिन्साध्ये यद् ध्रुवम्=अवधिभूतं कारकं तदपादानं स्यात् ।

प्रकृष्टेति—यद्व्यापारादनन्तरं क्रियायाः फलनिष्पत्तिस्तत्प्रकृष्टम् । **करणं हि**–

क्रियायाः फलनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम् ।
विवक्ष्यते यदा तत्र करणं तत्तथा स्मृतम् ॥

'कर्मणा यमभि०–' इति । कर्ता क्रियामात्रस्य कर्मणा सह सम्बन्धुं यं पदार्थमभिप्रैति स सम्बन्धोद्देश्यः सम्प्रदानसञ्ज्ञः स्यात् । अतो द्विजाय धनं ददातीतिवत् देवदत्तो यज्ञदत्ताय वार्तां (हितं) कथयतीत्यादिप्रयोगाः सङ्गच्छन्ते ।

विश्लेष इति—विश्लेषो विभागानुकूलव्यापारस्तस्मिन् साध्ये जननीये यद्

१—क्रिया (कार्य) में स्वतंत्रता से विवक्षित अर्थ–(विषय, मनुष्य या पदार्थ) कर्तृ–संज्ञक होता है अर्थात् उसे कर्त्ता कहते है । २—क्रिया की सिद्धि मे जो अत्यन्त उपकारक हो उसकी करण संज्ञा होती है । ३—अनभिहित (अनुक्त) कर्ता एवं करण मे तृतीया विभक्ति होती है । राम ने बाण से बाली को मारा–यहाँ राम कर्ता है, बाण साधन–करण है इत्यादि । ४—दाता दानरूपी (दा धातु के) कर्म से जिसको सम्बन्धित करना चाहे, करे, वह सम्प्रदान–संज्ञक होता है । ५–सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है । ६–नमः–स्वस्ति–स्वाहा–स्वधा–अलम्–वषट्–इनके योग में चतुर्थी विभक्ति होती है । ७–अपाय=विश्लेष=विभाग

अपादाने पञ्चमी २ । ३ । २८ ॥ [1][अपादाने पञ्चमी स्यात्] । ग्रामादायाति । धावतोऽश्वात्पततीत्यादि । इति पञ्चमी ।

षष्ठी शेषे २ । ३ । ५० ॥ [2]कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिः सम्बन्धः शेषस्तत्र षष्ठी । राज्ञः पुरुषः । कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव । सतां गतम् । सर्पिषो जानीते । मातुः स्मरति । एधो दकस्योपस्कुरुते । भजे शम्भोश्चरणयोः । **इति षष्ठी ।**

आधारोऽधिकरणम् १ । ४ । ४५ ॥ [3]कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणं स्यात् ।

सप्तम्यधिकरणे च २ । ३ । ३६ ॥ [4]अधिकरणे सप्तमी स्यात्, चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः । औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा । कटे आस्ते । स्थाल्यां पचति । मोक्षे इच्छास्ति । सर्वस्मिन्नात्मास्ति । वनस्य दूरे अन्तिके वा ।

॥ इति सप्तमी । इति विभक्त्यर्थाः ॥

ध्रुवमुदासीनं तादृशव्यापारानाश्रयं तदपादानसंज्ञं स्यात् । तथा च विभागजनकव्यापारानाश्रयत्वे सति विभागाश्रयत्वमपादानत्वम् इति ।

मातु स्मरति – मातरं स्मरति–इत्यर्थे 'अधीगर्थदयेषां कर्मणि' इति कर्मणि षष्ठी 'मातुः स्मरति' इति । आध्रियतेऽस्मिन्नित्याधारः स च कस्येत्याकाङ्क्षाया क्रियायाम् इति लभ्यते । तथाहि साक्षाद् व्यापाररूपक्रियाया: आधारः कर्ता फलरूपाया आधारः कर्म । ताभ्यां बाधात् परम्परया क्रियाधारस्यैतत्संज्ञा, एवञ्च 'कटे आस्ते' इत्यत्र कर्ता चैत्रादिस्तन्निष्ठास्ति क्रियायाः परम्पराधारस्य कटस्याधिकरणसंज्ञा । स्थाल्यां पचतीत्यत्र साक्षाद् विक्लित्तेराधारस्तण्डुलस्तदाधारभूता स्थाली, परम्परया विक्लित्तेराधारः । अन्यत्राप्येवमेवाह्यम् । **सर्वस्मिन्नात्मास्ति**— 'आधारोऽधिकरणम्' इति सर्वेत्यस्याधिकरणसंज्ञायाः 'सप्तम्यधिकरणे' इति सप्तमीविभक्तौ च तत्सिद्धिः । सर्वासां कारकविभक्तीनामेकत्र मेलनमधोलिखितश्लोके द्रष्टव्यम्—

(अलग २) होने में कूटस्थभूत (वही ठहरा हुआ) कारक अपादान संज्ञक होता है।

१—अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है। २—कारक तथा प्रातिपदिकार्थ से भिन्न जो स्व–स्वामिभावादि (अपनापन या स्वामी सम्बन्धी आदि) सम्बन्ध को शेष कहते हैं; उस (शेष) में षष्ठी विभक्ति होती है। ३—कर्ता और कर्म के द्वारा तन्निष्ठ (कर्तृ–कर्म–निष्ठ) क्रिया का आधार जो कारक उसकी अधिकरण संज्ञा होती है। ४—अधिकरण में सप्तमी

अथ समासाः

तत्रादौ केवलसमासः । [1]समासः पञ्चधा । तत्र समसनं समासः । स च विशेष-संज्ञाविनिर्मुक्तः **केवलसमासः** प्रथमः ॥ १ ॥ प्रायेण पूर्वपदार्थ-प्रधानोऽ**व्ययीभावो** द्वितीयः ॥ २ ॥ प्रायेणोत्तरपदार्थप्रधान-**स्तत्पुरुष**-स्तृतीयः । तत्पुरुषभेदः-**कर्मधारयः** । कर्मधारयभेदो **द्विगुः** ॥ ३ ॥ प्रायेणा-न्यपदार्थप्रधानो **बहुव्रीहिश्चतुर्थः** ॥ ४ ॥ प्रायेणोभयपदार्थप्रधानो **द्वन्द्वः** पञ्चमः ॥ ५ ॥

समर्थः पदविधिः २ । १ । १ ॥ [2]पदसम्बन्धी यो विधिः स समर्था-श्रितो बोध्यः ।

प्राक्कडारात्समासः २ । १ । ३ ॥ [3]'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्राक् 'समासः' इत्यधिक्रियते ।

रामो राजमणिः सदा विजयते रामं रमेशं भजे,
रामेणाभिहता निशाचरचमू रामाय तस्मै नमः ।
रामान्नास्ति परायणं परतरं रामस्य दासोऽस्म्यहम्,
रामे चित्तलयः सदा भवतु मे भो राम ! मामुद्धर ॥

॥ इति कारकप्रकरणम् ॥

प्रकृतसमासप्रकरणे प्राय एष नियमोऽपि स्मरणीयः—

चकारबहुलो द्वन्द्वः स चासौ कर्मधारयः ।
यस्य येषां बहुव्रीहिः शेषास्तत्पुरुषाः स्मृताः ॥ इति ॥

विभक्ति होती है । चकारात्-दूर तथा समीप अर्थ में भी ।

॥ इति कारकप्रकरणम् ॥

१—समास=दो या अनेक पदों के सम्मिलित होने का नाम समास है । उस (समास) के प्रधान पाँच भेद होते हैं—१-केवल समास । २-अव्ययीभाव । ३-तत्पुरुष । ४-बहुव्रीहि । ५-द्वन्द्व । अव्ययीभावादि विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्त समास केवल-समास नामक होता है । जिस समास मे पूर्व (प्रथम) पदार्थ (पद का अर्थ विषय) प्रधान होता है वह 'अव्ययीभाव' संज्ञक समास है । जिसमें उत्तर पदार्थ प्रधान हो, वह 'तत्पुरुष' संज्ञक होता है । जिसमें अन्य (समासोक्त पद से भिन्न-स्थानादि) प्रधान हो, वह 'बहुव्रीहि' संज्ञक होता है । जिसमें समस्त दोनो पद प्रधान हों, वह 'द्वन्द्व' संज्ञक है । तत्पुरुष का भेद कर्मधारय और कर्मधारय समास का भेद द्विगु-समास होता है । २—पद को उद्देश्य करके की जानेवाली विधि समर्थ का आश्रय करके रहती है । ३—'कडाराः कर्मधारये' सूत्र से पहले तक 'समास' का अधिकार जाता है ।

सह सुपा २ । १ । ४ ॥ [1]सुप् सुपा सह वा समस्यते । समासत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुक् । परार्थाभिधानं **वृत्तिः** । कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः । वृत्त्यर्थाऽवबोधकं वाक्यं **विग्रहः** । स च लौकिकोऽलौकिकश्चेति द्विधा । तत्र पूर्वं भूत इति **लौकिकः** । पूर्व अम् भूत सु **इत्यलौकिकः** । भूतपूर्वः । भूतपूर्वे चरडिति निर्देशात् भूतशब्दस्य पूर्वनिपातः । [2]ॐ**इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च** । वागर्थौ इव वागर्थाविव ।

॥ इति केवलसमासः ॥



अथाव्ययीभावसमासः

अव्ययीभावः २ । १ । ५ ॥ [3]अधिकारोऽयं प्राक् तत्पुरुषात् ।

[4]**अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावाऽत्ययाऽसम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथाऽऽनुपूर्व्यऽयौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्याऽन्तवचनेषु २ । १ । ६ ॥**

विभक्त्यर्थादिषु वर्तमानमव्ययं सुबन्तेन सह नित्यं समस्यते सोऽव्ययीभावः । प्रायेणाऽविग्रहो नित्यसमासः, प्रायेणाऽस्वपदविग्रहो वा । **विभक्तौ**— 'हरि ङि अधि' इति स्थिते—

परार्थेति—समस्यमानपदार्थापेक्षया भिन्नार्थाभिधानमित्यर्थः । यथा 'राजपुरुषः' इत्युक्ते राज्ञः पुरुषस्यैव बोधो भवति । लोके प्रयोगार्हः **लौकिकः** । लोके प्रयोगानर्हः **अलौकिकः** ।

भूतपूर्वः—अत्र 'पूर्वं भूतः' इति लौकिकविग्रहे, 'पूर्व अम् भूत सु' इत्यलौकिकविग्रहे, 'सह सुपा' इत्यनेन विभाषा समाससंज्ञायां समासत्वात्प्रातिपदिकत्वेन 'सुपो धातु-' इति सुपो (विभक्त्योः) लुकि, भूतपूर्वे चरट् इति निर्देशेन भूतशब्दस्य पूर्वनिपाते, एकदेशविकृतन्यायेन प्रातिपदिकत्वात्सौ तस्य रुत्वविसर्गौ 'भूतपूर्वः' इति ।

॥ इति केवल-समासः ॥



१—सुबन्त का सुबन्त के साथ समास विकल्प से होता है । २—'इव' शब्द के साथ समास होता है, और विभक्ति का लोप भी नहीं होता है ।

॥ इति केवल-समासः ॥



३—'तत्पुरुषः' सूत्र के पूर्व तक 'अव्ययीभाव' का अधिकार है । ४—विभक्ति-समीप-आदि अर्थों में विद्यमान अव्यय का सुबन्त के साथ नित्य समास होता है और वह (समास) अव्ययीभाव-संज्ञक होता है ।

प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् १ । २ । ४३ ॥ [1]समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनसंज्ञं स्यात् ।

उपसर्जनं पूर्वम् २ । २ । ३० ॥ [2]समासे उपसर्जनं प्राक्प्रयोज्यम् । इत्यधेः प्राक् प्रयोगः । सुपो लुक् । एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञाया स्वाद्युत्पत्तिः । अव्ययीभावश्चेत्यव्ययत्वात्सुपो लुक् । अधिहरि ।

अव्ययीभावश्च २ । ४ । १८ ॥ [3]अयं नपुंसकं स्यात् ।

नाऽव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः २ । ४ । ८३ ॥ [4]अदन्तादव्ययीभावात्सुपो न लुक्, तस्य पञ्चमीं विना अमादेशश्च स्यात् । गाः पातीति गोपस्तस्मिन्नित्यधिगोपम् ।

तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् २ । ४ । ८४ ॥ [5]अदन्तादव्ययीभावात्तृतीयासप्तम्योर्बहुलमम्भावः स्यात् । अधिगोपम्, अधिगोपेन, अधिगोपे वा । कृष्णस्य समीपम् उपकृष्णम् । मद्राणां समृद्धिः समद्रम् । यवनानां व्यृद्धिर्दुर्यवनम् । मक्षिकाणमभावो निर्मक्षिकम् । हिमस्यात्ययोऽतिहिमम् । निद्रा सम्प्रति न युज्जत इत्यतिनिद्रम् । हरिशब्दस्य प्रकाश इतिहरि । विष्णोः पश्चादनुविष्णु । योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृग्यानि **यथार्थाः** । रूपस्य योग्यमनुरूपम् । अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम् । शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति ।

प्रथमानिर्दिष्टमिति–समाससंज्ञाविधायकशास्त्रघटकप्रथमान्तपदजन्यबोधविषयोऽर्थ उपसर्जनसंज्ञः स्यादित्यर्थः । तथाहि–अधिहरि इत्यत्र समाससंज्ञाविधायकं शास्त्रम् अव्ययं विभक्ति इत्यादि, तद्घटकं प्रथमान्तपदम् अव्ययमिति, तज्जन्यबोधविषयः 'अधि' इति तस्योपसर्जनसंज्ञेति निष्कर्षः ।

हरौ इति अधिहरि–'हरि ङि अधि' इत्यलौकिकविग्रहे 'अव्ययं विभक्ति-समीप–' इत्यव्ययीभावसमासे, 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इति 'अधि' इत्यस्योपसर्जनसंज्ञायां 'उपसर्जनं पूर्वम्' इत्यधेः पूर्वनिपाते, कृत्तद्धितेति प्रातिपदिकत्वे, 'सुपो धातु–' इत्यादिना विभक्तेर्लुकि, एकदेशविकृतन्यायेन प्रातिपदिकनिमित्तकस्वाद्युत्पत्तौ अव्ययीभावश्चेत्यव्ययत्वात् 'अव्ययादाप् सुपः' इति सुपो लुकि 'अधिहरि' इति ।

१–समास शास्त्र में प्रथमानिर्दिष्ट की उपसर्जन संज्ञा होती है । २–समास में उपसर्जन का पूर्व–निपात होता है । ३–अव्ययीभाव समास नपुंसक लिङ्ग मे होता है । ४–अदन्त अव्ययीभाव से सुप् का लुक् (लोप) नहीं होता, किन्तु पञ्चमी को छोड़कर उसको अमादेश भी हो जाता है । ५–अदन्त अव्ययीभाव से परे तृतीया और सप्तमी विभक्ति का अम्भाव विकल्प से होता है ।

अव्ययीभावे चाऽकाले ६ । ३ । ८१ ॥ [1]सहस्य सः स्यादव्ययीभावे न तु काले । हरेः सादृश्यं सहरि । ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येत्यनुज्येष्ठम् । चक्रेण युगपत् सचक्रम् । सदृशः सख्या ससखि । क्षत्राणां सम्पत्तिः सक्षत्रम् । तृणमप्यपरित्यज्य सतृणमत्ति । अग्निग्रन्थपर्यन्तमधीते साऽग्नि ।

नदीभिश्च २ । १ । २० ॥ [2]नदीभिः सह संख्या समस्यते । [3]**✱समाहारे चायमिष्यते** । पञ्चगङ्गम् ।

तद्धिताः ४ । १ । ७६ ॥ [4]आ पञ्चमसमाप्तेरधिकारोऽयम् ।

अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ५ । ४ । १०७ ॥ [5]शरदादिभ्यष्टच् स्यात्समासान्तोऽव्ययीभावे । शरदः समीपमुपशरदम् । प्रतिविपाशम् । [ग] [6]**जराया जरस् च** । उपजरसमित्यादि ।

अनश्च ५ । ४ । १०८ ॥ [7]अन्नन्तादव्ययीभावाट्टच् ।

नस्तद्धिते ६ । ४ । १४४ ॥ [8]नान्तस्य भस्य टेर्लोपस्तद्धिते । उपराजम् । अध्यात्मम् ।

नपुंसकादन्यतरस्याम् ५ । ४ । १०९ ॥ [9]अन्नन्तं यत् क्लीबं तदन्तादव्ययीभावाट्टज्वा स्यात् । उपचर्मम् । उपचर्म ।

झयः ५ । ४ । १११ ॥ [10]झयन्तादव्ययीभावट्टज् वा स्यात् । उपसमिधम्–उपसमित् । **॥ इत्यव्ययीभावः समासः ॥**

पञ्चगङ्गम्—'पञ्चाना गङ्गानाम्' इति लौकिके 'पञ्चन् आम् गङ्गा आम्' इत्यलौकिके विग्रहे नदीभिश्चेति समासे, कृत्तद्धितेति प्रातिपदिकत्वे, 'सुपो धातु–' इति सुपो लुकि, 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नकारलोपे, 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकसंज्ञायाम्, 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वे, ततः प्रातिपदिकत्वेन सौ, सोरमि पूर्वरूपे च कृते 'पञ्चगङ्गम्' इति ।

१—अव्ययीभाव समास में सह को 'स' आदेश होता है, काल को छोड़कर । २—नदी वाचक समर्थ सुबन्तों के साथ संख्या-वाचकों का समास होता है । ३—यह (नदीभिश्च) सूत्र समाहार में भी लगता है, ऐसा ही इष्ट है । ४—पञ्चमाध्याय की समाप्ति पर्यन्त 'तद्धिताः' इस सूत्र का अधिकार जाता है । ५—अव्ययीभाव समास में शरदादि-गण-पठित-शब्दों से समासान्त टच् प्रत्यय होता है । ६—जरा शब्द को जरस् आदेश होता है । ७—अन्नन्त अव्ययीभाव से टच् होता है । ८—तद्धित प्रत्यय पर हो तो नान्त भसंज्ञक टि का लोप होता है । ९—अन्नन्त जो नपुंसक तदन्त अव्ययीभाव से टच प्रत्यय विकल्प से होता है । १०—झयन्त अव्ययीभाव से टच् प्रत्यय विकल्प से होता है ।

॥ इत्यव्ययीभावः समासः ॥

अथ तत्पुरुषसमासः

तत्पुरुषः २ । १ । २२ ॥ [1]अधिकारोऽयं प्राग्बहुव्रीहेः ।

द्विगुश्च २ । १ । २३ ॥ [2]द्विगुरपि तत्पुरुषसंज्ञकः स्यात् ।

द्वितीयाश्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः २ । १ । २४ ॥ [3]द्वितीयान्तं श्रितादिप्रकृतिकैः सुबन्तैः सह वा समस्यते, स च तत्पुरुषः । कृष्णं श्रितः—कृष्णश्रित इत्यादि ।

तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन २ । १ । ३० ॥ [4]तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थकृतगुणवचनेनाऽर्थेन च सह वा प्राग्वत् । शंकुलया खण्डः शंकुलाखण्डः । धान्येनाऽर्थो धान्यार्थः । तत्कृतेनेति किम् ? अक्ष्णा काणः ।

कर्तृकरणे कृता बहुलम् २ । १ । ३२ ॥ [5]कर्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुलं प्राग्वत् । हरिणा त्रातो हरित्रातः । नखैर्भिन्नो नखभिन्नः । **कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्** । नखनिर्भिन्नः ।

चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः २ । १ । ३६ ॥ [6]चतुर्थ्यन्तार्थाय यत् तद्वाचिना, अर्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत् । यूपाय दारु यूपदारु । ❀[7]**तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एवेष्टः** । तेनेह न—रन्धनाय स्थाली । ❀[8]**अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्** । द्विजार्थः सूपः । द्विजार्था यवागूः । द्विजार्थं पयः । भूतबलिः । गोहितम् । गोसुखम् । गोरक्षितम् ।

तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभावेति—अयम्भावः—प्रकृतिः समवायिकारणं, विकृतिः कार्यम्, एवञ्च यत्र समवायिकारणकार्यभावस्तत्र समासः, यथा 'घटाय मृत्तिका घटमृत्तिका' 'वस्त्राय तन्तवः वस्त्रतन्तवः' 'यूपाय दारु यूपदारु' इत्यादिषु समासः, न तु 'रन्धनाय स्थाली' इत्यादाविति बोध्यम् ।

१—'तत्पुरुषः' का अधिकार 'शेषो बहुव्रीहिः' सूत्र से पूर्व तक जाता है । २—द्विगुसमास भी तत्पुरुष संज्ञक होता है, अर्थात् तत्पुरुष का भेद ही द्विगु है । ३—द्वितीयान्त का श्रित–अतीत–आदि प्रकृतिक समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष संज्ञक होता है । ४—तृतीयान्त का तृतीयान्तार्थकृत–गुणवचन के साथ तथा अर्थ शब्द के साथ विकल्प से समास होता है । ५—कर्ता या करण में जो तृतीया उसका कृदन्त के साथ बहुलता (विकल्प) से समास होता है । ६—चतुर्थ्यन्त=के लिए जो है, तद्वाचक शब्द के साथ तथा अर्थ, बलि–आदिकों के साथ विकल्प से समास होता है । ७—तदर्थ से प्रकृति–विकृति भाव (स्वरूपान्त प्राप्ति) ही इष्ट है । अत एव 'रन्धनाय स्थाली' में समास नहीं हुआ । कारण कि बटुली का रूपान्तर नहीं होता । ८—चतुर्थ्यन्त सुबन्त का अर्थ शब्द के साथ नित्यसमास और विशेष (प्रधान) का लिङ्ग भी कहना चाहिये ।

[1]**पञ्चमी भयेन २।१।३७॥** चोराद्भयं चोरभयम्।

[2]**स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन २।१।३९॥**

[3]**पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ६।३।२॥** अलुगुत्तरपदे। स्तोकान्मुक्तः। अन्तिकादागतः। अभ्याशादागतः। दूरादागतः। कृच्छ्रादागतः।

षष्ठी २।२।८॥ [4][षष्ठ्यन्तं] सुबन्तेन प्राग्वत्। राजपुरुषः।

पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे २।२।१॥ [5]अवयविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते एकत्वसंख्याविशिष्टश्चेदवयवी। षष्ठीसमासापवादः। पूर्वं कायस्य पूर्वकायः। अपरकायः। एकाधिकरणे किम्? पूर्वश्छात्राणाम्।

अर्धं नपुंसकम् २।२।२॥ [6]समांशवाच्यर्धशब्दो नित्यं क्लीबे, स प्राग्वत्। अर्धं पिप्पल्या अर्धपिप्पली।

सप्तमी शौण्डैः २।१।४०॥ [7]सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्राग्वत्। अक्षेषु शौण्डः अक्षशौण्डः इत्यादि। द्वितीया-तृतीयेत्यादियोगविभागादन्यत्रापि तृतीयादि-विभक्तीनां प्रयोगवशात्समासो ज्ञेयः।

[8]**दिक्संख्ये संज्ञायाम् २।१।५०॥** संज्ञायामेवेति नियमार्थं सूत्रम्। पूर्वेषुकामशमी। सप्तर्षयः। तेनेह न-उत्तरा वृक्षाः। पञ्च ब्राह्मणाः।

विशेष्यलिङ्गतेति—परवल्लिङ्गस्य बाधकमिदम्। **अर्धपिप्पली**-अर्धं पिप्पल्या इति विग्रहे 'अर्धं नपुंसकम्' इति समासे, अर्धस्योपसर्जनत्वेन पूर्वप्रयोगे, सुपो धातुरिति सुपो लुकि, ततः समासत्वेन 'सु' आदि विभक्तिकार्ये च कृते 'अर्धपिप्पली' इति। अत्र 'पिप्पली' शब्दे 'एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्' इति वचनेनानुपसर्जनत्वात् 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वो न। **शौण्डादिभिरिति**—शौण्ड-कितव-धूर्त-व्याड-प्रवीण-संवीत-अन्तर-अधि-पटु-पण्डित-कुशल-निपुण-चपल-सञ्ज्ञकाः शौण्डादयः।

१-पञ्चम्यन्त का भय-वाचक समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है। २-स्तोक-अन्तिक एवं दूरार्थक तथा कृच्छ्र-प्रकृतिक पञ्चम्यन्त का क्तान्त-प्रकृतिक के साथ समास होता है। ३-उत्तर पद पर हो तो स्तोक आदि शब्दों से पञ्चमी का लोप नहीं होता है। ४-षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक का सुबन्त समर्थ के साथ समास होता है। ५-पूर्वादि-शब्दों का अवयवी के साथ समास होता है, किन्तु यदि वह अवयवी एकत्वसंख्या-विशिष्ट (एकाधिकरण में) हो तब। ६-नित्य नपुंसक जो समांश 'बराबरी भाग' का वाचक अर्ध-शब्द उसका अवयवी के साथ समास होता है। ७-सप्तम्यन्त सुबन्त का शौण्डादिगणपठित-शब्दों के साथ समास होता है। ८-दिशावाचक तथा संख्या-वाचक शब्दों का समास संज्ञा अर्थ में ही होता है।

तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च २ । १ । ५१ ॥ [1]तद्धितार्थे विषये उत्तरपदे च परतः समाहारे च वाच्ये दिक्सङ्ख्ये प्राग्वत् । पूर्वस्यां शालाया भवः पूर्वा शाला इति समासे जाते–[2]**सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः ।**

दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः ४ । २ । १०७ ॥ [3]अस्माद् भवाद्यर्थे ञः स्यादसंज्ञायाम् ।

तद्धितेष्वचामादेः ७ । २ । ११७ ॥ [4]ञिति णिति च तद्धितेष्वचामादेरचो वृद्धिः स्यात् । यस्येति च । पौर्वशालः । पञ्च गावो धनं यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ [5]**द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम् ।**

गोरतद्धितलुकि ५ । ४ । ९२ ॥ [6]गोऽन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यात् समासान्तो, न तु तद्धितलुकि । पञ्चगवधनः ।

पौर्वशालः—'पूर्वस्यां शालाया भवः' इति लौकिकविग्रहे, 'पूर्वा ङि शाला ङि' इत्यलौकिके 'तद्धितार्थोत्तरपद–' इति समासे, समासत्वात् प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुकि, 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भाव.' इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावे 'पूर्वशाला इत्यस्मात् ङौ 'दिक्पूर्वपदात्संज्ञाया ञः' इति ञप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकत्वात् सुपः (ङेः) लुकि 'तद्धितेष्वचामादे.' इत्याद्यचो वृद्धौ 'सु' आदि विभक्तिकार्ये च 'पौर्वशालः' इति ।

पञ्चगवधनः—'पञ्च गावो धनं यस्य' इति लौकिकविग्रहे 'पञ्चन् जस् गो जस् धन सु' इत्यलौकिकविग्रहे, पूर्वम् अन्यपदार्थप्रधानत्वात् 'अनेकमन्यपदार्थे' इति सूत्रेण बहुव्रीहिसंज्ञकसमासः, ततः 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति तत्पुरुषसमासे, प्रातिपदिकत्वात्सुपो धातुरिति सुपो लुकि, अन्तर्वर्तिविभक्तिमाश्रित्य पदत्वेन पञ्चन् इत्यस्य नलोपे, 'पञ्च गो धन' इति स्थिते, गोशब्दात् 'गोरतद्धितलुकि' इति टच्यनुबन्धलोपे, 'एचोऽयवायाव:' इत्यवादेशे, प्रातिपदिकत्वात्सौ, उकारस्येत्संज्ञालोपयोः सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'पञ्चगवधनः' इति ।

१—तद्धितार्थ का विषय हो, या उत्तर पद पर हो या समाहार वाच्य हो तो दिशावाचक तथा संज्ञावाचक सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है । २—सर्वनाम को वृत्ति 'समास' मात्र मे पुंवद्भाव होता है । ३—संज्ञा से भिन्न अर्थ में दिक्पूर्वपद–समास से भव–आदि अर्थ में 'ञ' प्रत्यय होता है । ४—तद्धितीय प्रत्ययों में ञित् या णित् पर हो तो अचों के आदि अच् को वृद्धि होती है । ५—उत्तरपद परे रहते द्वन्द्व और तत्पुरुष समास को नित्य समास होता है, 'ऐसा कहना चाहिये' । ६—गो–शब्दान्त–तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय होता है, किन्तु तद्धित का लोप 'पर में' न हुआ हो तब ।

[1]तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः १ । २ । ४२ ॥

संख्यापूर्वो द्विगुः २ । १ । ५२ ॥ [2]तद्धितार्थेत्यत्रोक्तस्त्रिविधः सङ्ख्यापूर्वो द्विगुसंज्ञः स्यात् ।

द्विगुरेकवचनम् २ । ४ । १ ॥ [3]द्विग्वर्थः समाहार एकवत्स्यात् ।

स नपुंसकम् २ । ४ । १७ ॥ [4]समाहारे द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यात् । पञ्चानां गवां समाहारः—पञ्चगवम् ।

विशेषणं विशेष्येण बहुलम् २ । १ । ५७ ॥ [5]भेदकं समानाधिकरणेन भेद्येन बहुलं प्राग्वत् । नीलमुत्पलं नीलोत्पलम् । बहुलग्रहणात्क्वचिन्नित्यम्—कृष्णसर्पः । क्वचिन्न—रामो जामदग्न्यः ।

उपमानानि सामान्यवचनैः २ । १ । ५५ ॥ [6]घन इव श्यामो घनश्यामः । [7]**शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्** । शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः । देवपूजको ब्राह्मणो देवब्राह्मणः ।

नञ् २ । २ । ६ ॥ [8]नञ् सुपा सह समस्यते ।

नलोपो नञः ६ । ३ । ७३ ॥ [9]नञो नस्य लोप उत्तरपदे । न ब्राह्मणः—अब्राह्मणः ।

विशेषणं विशेष्येण इति—

भेद्यं विशेष्यमित्याहुर्भेदकं तु विशेषणम् ।
प्रधानं तु विशेष्यं स्यादप्रधानं विशेषणम् ॥
पदार्थे स्वार्थनिरपेक्षादप्रधानं विशेषणम् ।
विशेष्यं तु प्रधानं स्यात्स्वार्थस्यैव समर्पणात् ॥

बहुलमिति—क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

१—समानाधिकरण 'एकाधिकरण' तत्पुरुष समास की कर्मधारय संज्ञा होती है । २—'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' सूत्र-प्रतिपादित त्रिविध जो तत्पुरुष समास वह यदि संख्यापूर्वक हो तो द्विगुसंज्ञक होता है । ३—द्विग्वर्थक समाहार एकवत् 'एक वचन' होता है । ४—समाहार में द्विगु तथा द्वन्द्व नपुंसक लिङ्ग होते हैं । ५—भेदक='विशेषण' का समानाधिकरण भेद्य='विशेष्य' के साथ बहुलता 'विकल्प' से समास होता है । ६—उपमान-वाचक 'इवादि' शब्दों का सामान्य वचन के साथ समास होता है । ७—'शाकपार्थिवः' आदि की सिद्धि के लिये उत्तर-पद का लोप कहना चाहिये 'होता है' । ८—नञ् का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है । ९—उत्तर पद पर हो तो नञ् के नकार का लोप होता है ।

तस्मान्नुडचि ६ । ३ । ७४ ॥ [1]लुप्तनकारान्नञ उत्तरपदस्याऽजादेर्नुडागमः स्यात् । अनश्वः । नैकधेत्यादौ तु 'न' शब्देन सह सुप्सुपेति समासः ।

कुगतिप्रादयः २ । २ । १८ ॥ [2]एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते । कुत्सितः पुरुषः कुपुरुषः ।

ऊर्यादिच्विडाचश्च १ । ४ । ६१ ॥ [3]ऊर्यादयश्च्व्यन्ताः डाजन्ताश्च क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः । ऊरीकृत्य । शुक्लीकृत्य । पटपटाकृत्य । सुपुरुषः । [4]**प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया** । प्रगत आचार्यः—प्राचार्यः । [5]**अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया** । अतिक्रान्तो मालामिति विग्रहे—

एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते १ । २ । ४४ ॥ [6]विग्रहे यन्नियतविभक्तिकं तदुपसर्जनसंज्ञं स्यान्न तु तस्य पूर्वनिपातः ।

गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य १।२।४८ ॥ [7]उपसर्जनं यो गोशब्दः, स्त्रीप्रत्ययान्तश्च तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः स्यात् । अतिमालः । [8]**अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया** । अवक्रुष्टः कोकिलया-अवकोकिलः । [9]**पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या** ।

अनश्व.—'न अश्वः' इति विग्रहे 'नञ्' इत्यनेन समासे, 'न लोपो नञः' इति नलोपे, 'अ अश्व' इति दशायां, 'तस्मान्नुडचि–' इति नुट्यनुबन्धलोपे, ततः प्रातिपदिकसंज्ञायाम् विभक्तिकार्ये च कृते 'अनश्वः' इति ।

अतिमाल—अतिक्रान्तः मालामिति विग्रहे 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासे, प्रतिपादिकत्वात्सुपां लुकि, 'एकविभक्तिचापूर्वनिपाते' इति सूत्रेणैव मालेत्यस्योपसर्जनत्वे, तथा प्राक्प्रयोगस्य निषेधे च कृते, 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वे, अतिमालशब्दात्प्रातिपदिकत्वेन 'सु' आदि विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

१—लुप्त नकार (लोप हो गया है 'न' जिसका ऐसे) नञ् से उत्तर अजादि शब्द को नुट् का आगम होता है । २—'कुत्सितार्थ प्रतिपादक'–कु-शब्द तथा गति–संज्ञक शब्द एवं प्र–आदि उपसर्ग शब्दों का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है । ३—क्रिया के योग में ऊर्यादि 'ऊरी–आदि' च्व्यन्त एवं डाजन्त की गति संज्ञा होती है । ४–प्र–आदिक शब्दों का गति–आदि अर्थ में प्रथमान्त प्रातिपादिक के साथ समास होता है । ५—अति–आदिक शब्द क्रान्त आदि अर्थ में द्वितीयान्त के साथ समस्त होते हैं । ६–विग्रह मे जो नियत 'निश्चित एक' विभक्तिक है उसकी उपसर्जन-संज्ञा होती है किन्तु उसका पूर्वनिपात 'पूर्व में प्रयोग' नहीं होता । ७–उपसर्जन जो गो शब्द तथा स्त्रीप्रत्यान्त तदन्त प्रातिपदिक को ह्रस्व होता है । ८–अव–आदिक उपसर्ग क्रुष्ट 'बोलने' आदि अर्थ में तृतीयान्त सुबन्त के साथ समस्त होते हैं । ९—ग्लान–आदि अर्थ में परि आदि उपसर्गों का चतुर्थ्यन्त सुबन्त के साथ समास होता है ।

परिग्लानोऽध्ययनाय—पर्यध्ययनः। [1]**निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या**। निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः निष्कौशाम्बिः।

तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् ३। १। ९२॥ सप्तम्यन्ते पदे कर्मणीत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं यत्कुम्भादि, तद्वाचकं पदमुपपदसंज्ञं स्यात्।

उपपदमतिङ् २। २। १९॥ [3]उपपदं सुबन्तं समर्थेन नित्यं समस्यते। अतिङन्तश्चायं समासः। कुम्भं करोतीति कुम्भकारः। अतिङ् किम्? मा भवान् भूत्। माङिति सप्तमीनिर्देशान्माङुपपदम्। [4]**गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः**। व्याघ्री। अश्वक्रीती कच्छपीत्यादि।

कुम्भकारः—कुम्भं करोतीति विग्रहे कर्मण्यण् इत्यणि 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' इत्युपपदसंज्ञायां 'उपपदमतिङ्' इति समासे, प्रातिपदिकत्वेन सुपो धातुरिति सुपो लुकि, 'कुम्भ कृ अ' इति दशायां 'अचोऽञ्णिति' इति 'कृ' इत्यस्य वृद्धौ, रपरे, प्रातिपदिकसंज्ञायां विभक्तिकार्ये च कृते 'कुम्भकारः' इति। **व्याघ्री**—'व्याजिघ्रति' इति विग्रहे 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्यये 'आङ्' उपसर्गस्य 'घ्र' शब्देन 'वि' उपसर्गस्य च 'आघ्र' शब्देन सह 'गतिकारक—' इति परिभाषासहकारेण सुबुत्पत्तेः प्राक् गतिसमासे, 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इति ङीष्यनुबन्धलोपे, प्रातिपदिकसंज्ञायां 'सौ' हल्ङ्यादिना सोर्लोपे तत्सिद्धिः। अत्र सुबुत्पत्त्यनन्तरं समासे तु सुपः प्राक् टापि अदन्तत्वाभावात् ङीष् न स्यादिति बोध्यम्। **अश्वक्रीती**—'अश्वेन क्रीता' इति विग्रहे गतिकारकेति परिभाषासहकारेण सुबुत्पत्तेः प्राक् कर्तृकरणे कृता बहुलमिति समासे 'क्रीतात्करणपूर्वात्' इति ङीष्यनुबन्धलोपे, प्रातिपदिकत्वात्सुपो धातुरिति सुपो लुकि, ततः प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ तस्य लोपे च 'अश्वक्रीती' इति, अत्रापि सुबुत्पत्त्यनन्तर समासे टाप्यदन्तत्वाभावात् ङीष् न स्यात्। **कच्छपी**—'कच्छेन कच्छाभ्यां वा पिबति' इति विग्रहे 'सुपि स्थः' इत्यत्र सुपीत्यस्य योगविभागेन 'क' प्रत्यये, उपपदमिति समासे, सुपो लुकि, जातिवाचकत्वात् 'जातेरस्त्री'

१—निर् आदि उपसर्ग, क्रान्त—आदि अर्थ में पञ्चम्यन्त सुबन्त के साथ समस्त होते हैं। २—सप्तम्यन्त 'कर्मणि' इत्यादि पद में वाच्यत्वेन स्थित जो कुम्भ—आदि तद्—वाचक पद उपपद-संज्ञक होता है। ३—उपपद सुबन्त का समर्थ के साथ नित्य समास होता है। यह समास तिङन्त से भिन्न के साथ प्रवृत्त होता है। ४—सुप् की उत्पत्ति के पूर्व ही गति—संज्ञकों, कारकों एवं उपपदों का कृदन्त के साथ समास होता है।

तत्पुरुषाङ्गुलेः संख्याव्ययादेः ५।४।८६॥ [1]सङ्ख्याव्ययादेरंगुल्यन्तस्य समासान्तोऽच् स्यात्। द्वे अंगुली प्रमाणमस्य द्वयङ्गुलम्। निर्गतमंगुलिभ्यो निरंगुलम्।

अहः सर्वैकदेशसङ्ख्यातपुण्याच्च रात्रेः ५।४।८७॥ [2]एभ्यो रात्रेरच् स्याच्चात्सङ्ख्याव्ययादेः। अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम्।

रात्राह्नाहाः पुंसि २।४।२९॥ [3]एतदन्तौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ पुंस्येव। अहश्च रात्रिश्च-अहोरात्रः। सर्वरात्रः। संख्यातरात्रः। [4]***संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम्**। द्विरात्रम्। त्रिरात्रम्।

राजाहः सखिभ्यष्टच् ५।४।९१॥ [5]एतदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यात्। परमराजः।

आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ६।३।३।४६॥ [6]महत आकारोऽन्तादेशः स्यात्समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये च परे। महाराजः। **प्रकारवचने जातीयर्**। महाप्रकारो महाजातीयः।

इति ङीष्यनुबन्धलोपे, प्रातिपदिकसंज्ञायां 'सौ' तस्य लोपे च तत्सिद्धिः। अत्रापि परिभाषाविरहे स एव दोषः।

अहोरात्रः—'अहश्च रात्रिश्च' इति विग्रहे 'चार्थे द्वन्द्वः' इति समासे सुपोर्लुकि 'अहः सर्वैकदेश-०' इति अच् प्रत्यये, इत्संज्ञकचकारलोपे, 'यस्येति च' इत्यनेनेकारलोपे, 'अहन्' इति नस्य रुत्वे, 'हशि च' इत्युत्वे गुणे अहोरात्र इति स्थिते 'परवल्लिङ्गं—' इति सूत्रं प्रबाध्य 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति पुंस्त्वे, विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः।

परमराजः—'परमश्चासौ राजा' इति विग्रहे, विशेषणं विशेष्येण इति समासे, सुपो लुकि, 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' इति टच्यनुबन्धलोपे, नस्तद्धित इति टेर्लोपे, विभक्तिकार्ये 'परमराजः' इति।

१—संख्या या अव्यय है आदि में जिसके ऐसे अंगुलि-शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त अच् प्रत्यय होता है। २—अहः 'अहन्' आदि से परे जो रात्रि शब्द तदन्त तत्पुरुष से समासान्त अच् प्रत्यय होता है, चकारात् संख्यादि तथा अव्ययादि पूर्वक रात्रि शब्द से भी होता है। ३—'कृत समासान्त' रात्र, अह्न या अह है अन्त में जिनके ऐसे द्वन्द्व तथा तत्पुरुष पुंलिङ्ग ही होते हैं। 'यह परवल्लिङ्गम् द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' का बाधक है। ४—संख्यापूर्वक रात्र-शब्द नपुंसकलिङ्ग होता है। ५—राजन् अहन् या सखि ये कोई हों अन्त में जिनके ऐसे तत्पुरुष से टच् प्रत्यय होता है। ६—समानाधिकरण उत्तर पद मे या जातीयर् प्रत्यय पर मे हो तो महत् शब्द को आकार अन्तादेश होता है।

[1]**द्व्यष्टनः सङ्ख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः ६ । ३ । ४७ ॥** आत्स्यात् । द्वौ च दश च द्वादश । अष्टाविंशतिः ।

[2]**त्रेस्त्रयः ६ । ३ । ४८ ॥** त्रयोदश । त्रयोविंशतिः । त्र्यास्त्रिंशत् ।

परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः २ । ३ । २६ ॥ [3]एतयोः परपदस्येव लिङ्गं स्यात् । कुक्कुटमयूर्याविमे । मयूरीकुक्कुटौ । अर्धपिप्पली । [4]***द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः - पञ्चकपालः पुरोडाशः ।

प्राप्ताऽऽपन्ने च द्वितीयया २ । २ । ४ ॥ [5][प्राप्तापन्ने च द्वितीयया समस्येते । अकारश्चानयोरन्तादेशः । प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविकः । आपन्नजीविकः । अलं कुमार्यै—अलंकुमारिः । अत एव ज्ञापकात्समासः—निष्कौशाम्बिः ।

अर्धर्चाः पुंसि च २ । ४ । ३१ ॥ [6]अर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि क्लीबे च स्युः । अर्धर्चः । अर्धर्चम् । एवं ध्वज-तीर्थ-शरीर-मण्डप-यूप-देहा-ऽङ्कुश-पात्र-सूत्रादयः । सामान्ये नपुंसकम् । मृदु पचति । प्रातः कमनीयम् ।

॥ इति तत्पुरुषसमासप्रकरणम् ॥

अथ बहुव्रीहिसमासः

शेषो बहुव्रीहिः २ । २ । २३ ॥ [7]अधिकारोऽयं प्राग्द्वन्द्वात् ।

अनेकमन्यपदार्थे २ । २ । २४ ॥ [8]अनेकं प्रथमान्तमन्यस्य पदस्यार्थे वर्तमानं वा समस्यते स बहुव्रीहिः ।

अर्धर्चम्—ऋचोऽर्धम् इति विग्रहे 'अर्धं नपुंसकम्' इत्येकदेशिसमासे, 'ऋक्पूरब्ध –' इति समासान्त—'अ' प्रत्यये विभक्तिकार्ये कृते तस्य सिद्धिः ।

१—संख्या पर हो तो अष्टन् शब्द को आत्व होता है, किन्तु बहुव्रीहि या अशीति पर रहे तो नहीं होता है । २—'संख्या परे रहते' त्रि को त्रयस् आदेश होता है, 'किन्तु बहुव्रीहि अशीति परे नहीं' । ३—द्वन्द्व एवं तत्पुरुष समास का लिङ्ग 'द्वितीय' पद के समान होता है । ४—द्विगु-समास तथा प्राप्त, आपन्न या अलम् पूर्वक एवं गति-समास मे पर-पद का लिङ्ग नहीं होता । ५—प्राप्त एवं आपन्न-शब्द का द्वितीयान्त के साथ समास होता है ६—अर्धर्चादि-शब्द पुंलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग होते हैं ।

॥ इति तत्पुरुषसमासप्रकरणम् ॥

७—बहुव्रीहि का अधिकार 'चार्थे द्वन्द्वः' के पूर्वतक जाता है । ८—अन्य (अर्थात समस्त पद से भिन्न) पद के अर्थ में वर्तमान अनेक प्रथमान्तपदों का विकल्प से समास होता है और वह समास बहुव्रीहि-संज्ञक होता है ।

सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ २ । २ । ३५ ॥ [1]सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् । अत एव ज्ञापकाद् व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः ।

हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् ६ । ३ । ९ ॥ [2]हलन्तादकदन्ताच्च सप्तम्या अलुक् । कण्ठेकालः । प्राप्तमुदकं यं स प्राप्तोदको ग्रामः । ऊढरथोऽनड्वान् । उपहृतपशू रुद्रः । उद्धृतौदना स्थाली । पीताम्बरो हरिः । वीरपुरुषको ग्रामः [3]**❀प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः ।** प्रपतितपर्णः प्रपर्णः [4]**❀नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः ।** अविद्यमानपुत्रः-अपुत्रः ।

स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु ६ । ३ । ३४ ॥ [5]भाषितपुंस्कात्-अनूङ्-ऊङोऽभावोऽस्यामिति बहुव्रीहिः निपातनात्पञ्चम्या अलुक्, षष्ठ्याश्च लुक् । तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते यदुक्तं पुंस्तस्मात्पर ऊङोऽभावो यत्र तथाभूतस्य स्त्रीवाचकशब्दस्य पुंवाचकस्येव रूपं स्यात् समानाधिकरणे स्त्रीलिङ्गे उत्तरपदे न तु पूरण्यां प्रियादौ च परतः । गोस्त्रियोरिति ह्रस्वः । चित्रगुः । रूपवद्भार्यः । अनूङ् किम्? वामोरूभार्यः । पूरण्यां तु—

'ऊढो रथो येन सः'—**ऊढरथः** । 'उपहृतः पशुः यस्मै सः' **उपहृतपशुः** । 'उद्धृत ओदनं यस्याः सा' उद्धृतौदना । 'वीराः पुरुषा यस्मिन् सः' **वीरपुरुषकः** । 'प्रकर्षेण पतितानि प्रपतितानि, 'प्रपतितानि पर्णानि यस्य सः' इति विग्रहे 'प्रादिभ्यो धातुजस्य' इति वार्तिकेन समासे, पतितशब्दस्य वैकल्पिके लोपे च कृते सुपो लुकि, ततो विभक्तिकार्ये च '**प्रपर्णः**' '**प्रपतितपर्णः**' इति रूपद्वयम् । 'न विद्यमानोऽविद्यमानोऽविद्यमानः पुत्रो यस्य सः' इति विग्रहे 'नञोऽस्त्यर्थानाम्-' इति वार्तिकेन समासे उत्तरपदस्य लोपे च कृते, सुपो लुकि, ततो विभक्तिकार्ये '**अविद्यमानपुत्रः-अपुत्रः**' इति रूपद्वयम् । इदञ्च वार्तिकद्वयं वैकल्पिकोत्तरपदलोपार्थम् । भाषितः पुमान् यस्मिन्नर्थे स भाषितपुंस्कः सोऽस्त्यस्य तद् **भाषितपुंस्कम्** । **चित्रगुः**-चित्रा गावो ('चित्रा गौः' वा) यस्य इति विग्रहे 'अनेकमन्यपदार्थे' इति समासे प्राति-

१—सप्तम्यन्त तथा विशेषण का बहुव्रीहि समास में पूर्व-प्रयोग होता है । २—हलन्त तथा अदन्त से परे सप्तमी का अलुक् 'लोप' नहीं होता है । ३—प्रादि परे धातुज 'धातु से उत्पन्न' का अन्य पद के साथ समास होता है और उत्तरपद का लोप भी विकल्प से होता है । ४—नञ् से परे अस्ति 'विद्यमान' अर्थ वाचक शब्द का अन्य पद के साथ समास होता है और विकल्प से उत्तरपद का लोप भी होता है । ५—समानाधिकरण स्त्रीलिंग उत्तरपद में हो तो प्रवृत्ति-निमित्त के तुल्य होने पर जो भाषितपुंस्क 'पहले पुंलिङ्ग हो' उ-

अप्पूरणीप्रमाण्योः ५ । ४ । ११६ ॥ [1]पूरणार्थप्रत्ययान्तं यत्स्त्रीलिंगं तदन्तात्प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेरप् स्यात्। कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ता—कल्याणीपञ्चमा रात्रयः। स्त्री प्रमाणो यस्य सः स्त्रीप्रमाणः। अप्रियादिषु किम्? कल्याणीप्रियः इत्यादि।

बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् ५ । ४ । ११३ ॥ [2]स्वाङ्गवाचिसक्थ्यक्ष्यन्ताद्बहुव्रीहेः षच् स्यात्। दीर्घसक्थः। जलजाक्षी। स्वाङ्गात्किम्? दीर्घसक्थि शकटम्। स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः। अक्ष्णोऽदर्शनादिति वक्ष्यमाणोऽच्।

द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः ५ । ४ । ११५ ॥ [3]आभ्यां मूर्ध्नः षः स्याद् बहुव्रीहौ। द्विमूर्धः। त्रिमूर्धः।

अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः ५ । ४ । ११७ ॥ [4]आभ्यां लोम्नोऽप् स्याद् बहुव्रीहौ। अन्तर्लोमः।

पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः ५ । ४ । १३८ ॥ [5]हस्त्यादिवर्जितादुपमानात्परस्य पादशब्दस्य लोपः स्याद्बहुव्रीहौ। व्याघ्रस्येव पादावस्य—व्याघ्रपात्। अहस्त्यादिभ्यः किम्? हस्तिपादः। कुसूलपादः।

संख्या सुपूर्वस्य ५ । ४ । १४० ॥ [6]पादस्य लोपः स्यात्समासान्तो बहुव्रीहौ। द्विपात्। सुपात्।

पदिकत्वात्सुपो लुकि, 'स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्–' इत्यादिना चित्रेत्यस्य पुंवद्भावे 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति 'गो' निष्ठ–ओकारस्य ह्रस्वे प्रातिपदिकसंज्ञायां स्वाद्युत्पत्तौ विभक्तिकार्ये–च कृते 'चित्रगु' इति। एवमेव 'रूपवती भार्या यस्य सः' रूपवद्भार्यः। अत्रापि पुंवद्भावेन रूपवतीशब्दस्य ङीपो निवृत्तिस्तथा भार्याशब्दस्याकारस्य ह्रस्वोऽकार इति ज्ञेयम्। 'द्वौ पादौ यस्य सः' द्विपात्।

परे ऊङ् का अभाव जिसमें है ऐसे स्त्री–वाचक शब्द का 'पुंल्लिङ्ग' वाचक शब्द के तुल्य रूप होता है किन्तु पूरणी या प्रियादि पर मे रहे तो नहीं होता।

१—पूरणार्थ प्रत्ययान्त जो स्त्रीलिङ्ग तदन्त तथा प्रमाण्यन्त 'प्रमाणी हो अन्त में जिसके ऐसे' बहुव्रीहि समास से अप् प्रत्यय होता है। २—स्वाङ्ग–वाची सक्थि एवं अक्षि–शब्दान्त बहुव्रीहि–समास से षच् प्रत्यय होता है। ३–बहुव्रीहि समास में द्वि एवं त्रि शब्द–पूर्वक मूर्धन्–शब्दान्त से 'ष'–प्रत्यय होना है। ४—बहुव्रीहि में, अन्तर् या बहिर्–शब्द पूर्व में हो जिसके ऐसे लोमन् शब्द से अप् प्रत्यय होना है। ५—बहुव्रीहि में हस्ति आदि से भिन्न जो उपमान–वाचक शब्द उससे परे पाद–शब्द का लोप होता है। 'यह समासान्त' है अतः दकारोत्तरवर्त्यकार का लोप होता है।' ६—बहुव्रीहि में संख्या या सु है पूर्व मे जिसके ऐसे पाद शब्द का समासान्त लोप होता है।

उद्विभ्यां काकुदस्य ५।४।१४८॥ [1]लोपः स्यात् । उत्काकुत् । विकाकुत् ।

पूर्णाद्विभाषा ५ । ४ । १४९ ॥ [2]पूर्णकाकुत् । पूर्णकाकुदः ।

सुहृद्दुर्हृदौ मित्राऽमित्रयोः ५ । ४ । १५० ॥ [3]सुदुर्भ्यां हृदयस्य हृद्भावो निपात्यते । सुहृत्-मित्रम् । दुर्हृत्-अमित्रः ।

[4]**उरः प्रभृतिभ्यः कप् ५ । ४ । १५१ ॥ सोऽपदादौ ८ । ३ । ३८ ॥** [5]पाशकल्पककाम्येषु [परेषु] विसर्गस्य सः ।

कस्कादिषु च ८ । ३ । ४८ ॥ [6]एष्विण उत्तरस्य विसर्गस्य षोऽन्यस्य तु सः । इति सः । व्यूढोरस्कः ।

इणः षः ८ । ३ । ३९ ॥ [7]इण उत्तरस्य विसर्गस्य षः स्यात्-पाश-कल्पककाम्येषु परेषु । प्रियसर्पिष्कः ।

निष्ठा २ । ३ । ३९ ॥ [8]निष्ठान्तं बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् । युक्तयोगः ।

शेषाद्विभाषा ५ । ४ । १५४ ॥ [9]अनुक्तसमान्ताद् बहुव्रीहेः कब् वा । महायशस्कः । महायशाः ।

॥ इति बहुव्रीहिसमासप्रकरणम् ॥

शोभनौ पादौ यस्य सः' सुपात् ।

'उद्गतं काकुदं यस्य सः' **उत्काकुत्** । सुष्ठु शोभनं हृदयं यस्य स। इति **सुहृत्** । 'व्यूढमुरो यस्य सः' इति **व्यूढोरस्कः** । अत्र 'अनेकमन्यपदार्थे' इति समासे, प्राति-पदिकत्वात्सुपो लुकि, 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' इति कपि, पकारलोपे, 'व्यूढ उरस् क' इति, स्थिते, सकारस्य रुत्वे विसर्गे च कृते, 'कस्कादिषु च' विसर्गस्य सत्वे, 'आद् गुणः' इति गुणे, प्रातिपदिकत्वेन सौ तस्य रुत्वे विसर्गे च 'व्यूढोरस्कः' इति । एव 'महद् यशो यस्य सः' **महायशस्कः-महायशाः** इति ।

॥ इति बहुव्रीहिसमासः ॥

१—बहुव्रीहि में उत् या वि से परे काकुद शब्द का समासान्त लोप होता है । २—पूर्ण शब्द से पर काकुद शब्द का लोप विकल्प से होता है । ३—मित्र एवं अमित्र अर्थ में, सु या दुर् शब्द से परे हृदय शब्द को हृद् आदेश होता है । ४—उरःप्रभृति गणपठित शब्दों से कप् प्रत्यय होता है । ५—पाश, कल्प, क या काम्य पर में हों तो विसर्जनीय को स होता है । ६—कस्कादि गणपठित शब्दघटक इण् से परे विसर्ग को षत्व होता है, तथा इण् उत्तर से अन्य विसर्ग को स होता है । ७—इण् से परे विसर्ग को ष होता है, पाश, कल्प, क, काम्य पर हो तब । ८—बहुव्रीहि में निष्ठान्त शब्द का पूर्व निपात होता है । ९—अनुक्त समासान्त बहुव्रीहि से कप् प्रत्यय होता है ।

॥ इति बहुव्रीहिसमासः ॥

अथ द्वन्द्वसमासः

चार्थे द्वन्द्वः २ । २ । २९ ॥ [1]अनेकं सुबन्तं चाऽर्थे वर्तमानं वा समस्यते स द्वन्द्वः । समुच्चयाऽन्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः । तत्र ईश्वरं गुरुं च भजस्वेति परस्परनिरपेक्षस्याऽनेकस्यैकस्मिन्नन्वयः **समुच्चयः** । भिक्षामट गां चानयेत्यन्यतरस्याऽनुषङ्गिकत्वेनान्वयोऽन्वाचयः । अनयोरसामर्थ्यात्समासो न । धवखदिरौ छिन्धीति मिलितानामन्वय **इतरेतरयोगः** । संज्ञापरिभाषमिति समूहः—**समाहारः** ।

राजदन्तादिषु परम् २ । २ । ३१ ॥ [2]एषु पूर्वप्रयोगार्हं परं स्यात् । दन्तानां राजानो राजदन्ताः । [3]**%धर्मादिष्वनियमः** । अर्थधर्मौ । धर्मार्थावित्यादि ।

द्वन्द्वे घि २ । २ । ३२ ॥ [4]द्वन्द्वे घिसंज्ञं पूर्वं स्यात् । हरिश्च हरश्च हरिहरौ ।

अजाद्यदन्तम् २ । २ । ३३ ॥ [5]द्वन्द्वे पूर्वं स्यात् । ईशकृष्णौ ।

[6]**अल्पाच्तरम् २ । २ । ३४ ॥** शिवकेशवौ ।

पिता मात्रा १ । २ । ७० ॥ [7]मात्रा सहोक्तौ पिता वा शिष्यते । माता च पिता च पितरौ । मातापितरौ वा ।

द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् २ । ४ । २ ॥ [8]एषां द्वन्द्व एकवत् । पाणिपादम् । मार्दङ्गिकवैणविकम् । रथिकाऽश्वारोहम् ।

पितरौ = 'माता च पिता च इति विग्रहे 'पिता मात्रा' इति सूत्रेण विकल्पेन पितृशब्दस्यैकशेषे मातृशब्दस्य लोपे च कृते 'पितृ औ' इति स्थिते, "ऋतो ङि सर्वनामस्थाने" इति गुणे रपरे च '**पितरौ**' इति । लोपाभावे तु "मातापितरौ" इति ।

१—चार्थे 'च के अर्थ' में अर्थात् जैसे—रामश्च रामश्च रामश्च इत्यादि समुच्चयादि भेद में विद्यमान अनेक सुबन्तों का समास होता है 'अर्थात् वे समस्त होते हैं' और वह समास द्वन्द्व संज्ञक होता है । २—राजदन्तादि शब्दों में पूर्व प्रयोगार्ह 'पहले प्रयोग करने योग्य' पद का पर प्रयोग होता है । ३—धर्मादियों में कोई नियम नहीं है । ४—द्वन्द्व समास मे घिसंज्ञक का पूर्वनिपात होता है । ५—द्वन्द्व समास मे अजादि अदन्त का पूर्व निपात होता है । ६—द्वन्द्व समास में अल्पाच्तर=अत्यन्त अल्प अच् जिसमें हो उस का पूर्वनिपात होता है । ७—मातृ शब्द के साथ कहा गया पितृ शब्द विकल्प से शेष रहता है । ८—प्राणि, तूर्य, सेनाङ्गों का द्वन्द्व एकवत् होता है, अर्थात् इनमें एकवचन होता है ।

द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे ५ । ४ । १०६ ॥ [1]चवर्गान्तादषहान्ताच्च द्वन्द्वाट्टच् स्यात्समाहारे । वाक् च त्वक् च वाक्त्वचम् । त्वक्स्रजम् । शमीदृषदम् । वाक्त्विषम् । छत्रोपानहम् । समाहारे किम् ? प्रावृट्शरदौ ।

॥ इति द्वन्द्वसमासप्रकरणम् ॥

अथ समासान्ताः

ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे ५ । ४ । ७४ ॥ 'अ-अनक्षे' इति च्छेदः । [2]ऋगाद्यन्तस्य समासस्य अप्रत्ययोऽन्तावयवः स्यादक्षे या धूस्तदन्तस्य तु न । अर्धर्चः । विष्णुपुरम् । विमलापं सरः । राजधुरा । **अक्षे तु**—अक्षधूः । दृढधूरक्षः । सखिपथः । रम्यपथो देशः ।

अक्ष्णोऽदर्शनात् ५ । ४ । ७६ ॥ [3]अचक्षुःपर्यायादक्ष्णोऽच् स्यात्समासान्तः । गवामक्षीव गवाक्षः ।

[4]**उपसर्गादध्वनः ५ । ४ । ८५ ॥** प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः ।

न पूजनात् ५ । ४ । ६९ ॥ [5]पूजनार्थात्परेभ्यः समासान्ता न स्युः । सुराजा । अतिराजा ।

॥ इति समासान्ताः ॥ ❀ इति समासप्रकरणम् ❀

शमी च दृषच्च अनयोः समाहारः **शमीदृषदम्** । वाक् च त्विट् च अनयोः समाहारः **वाक्त्विषम्** । छत्रश्च उपानहौ च एषां समाहारः **छत्रोपानहम्** । प्रावृट् च शरच्च अनयोरितरेतरयोगः **प्रावृट्शरदौ** ॥ इति द्वन्द्वसमासः ॥

विष्णोः पुरम् **विष्णुपुरम्** । विमला आपो यत्र तत् **विमलापम्** । राज्ञो धूः **राजधुरा** । अक्षे धूः **अक्षधूः** । दृढा धूर्यस्यासौ **दृढधूः** । सख्युः पन्थाः **सखिपथः** । रम्यः पन्था यत्रासौ **रम्यपथः** । अत्र 'अनेकमन्यपदार्थे' इति समासे, सुपो लुकि, 'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे' इति 'अ' प्रत्यये, भत्वेन 'नस्तद्धिते' इति टेर्लोपे विभक्तिकार्ये च कृते 'रम्यपथः' इति ।

१—समाहार द्वन्द्व से चवर्गान्त दान्त षान्त एवं हान्त से टच् प्रत्यय होता है ।

॥ इति द्वन्द्वप्रकरणम् ॥

२—ऋक्, पू, अप् या धू अन्त में है जिसके ऐसा जो समास उसका अन्तावयव 'अ' प्रत्यय होता है किन्तु अक्ष अर्थ में जो धू, तदन्त से नहीं होता । ३—चक्षु 'नेत्र' से भिन्न पर्याय वाची जो अक्षि शब्द उससे समासान्त अच् प्रत्यय होता है । ४—उपसर्ग से परे जो अध्वन् शब्द उससे अच् प्रत्यय होता है । ५—पूजनार्थक शब्दों से परे समासान्त प्रत्यय नहीं होते हैं ॥ इति समासान्तः ॥

अथ तद्धिताः

तत्रादौ साधारणप्रत्ययप्रकरणम्

समर्थानां प्रथमाद्वा ४ । १ । ८२ ॥ [१]इदं पदत्रयमधिक्रियते 'प्राग्दिश' इति यावत् ।

अश्वपत्यादिभ्यश्च ४ । १ । ८४ ॥ [२]एभ्योऽण् स्यात्प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु । अश्वपतेरपत्यादि—आश्वपतम् । गाणपतम् ।

दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः ४ । १ । ८५ ॥ दित्यादिभ्यः पत्युत्तरपदाच्च प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ण्यः स्यात् । अणोऽपवादः । दितेरपत्यं दैत्यः । अदितेरादित्यस्य वा—

हलो यमां यमि लोपः ८ । ४ । ६४ ॥ [४]हलः परस्य यमो लोपः स्याद्वा यमि । इति यलोपः । आदित्यः । प्राजापत्यः । [५]**देवाद्यञञौ** । दैव्यम् । दैवम् । [६]**॥ बहिषष्टिलोपो यञ्च** । [७]**ईकक्च** ।

किति च ७ । २ । ११८ ॥ [८]किति तद्धिते चाऽचामादेरचो वृद्धिः स्यात् । वाहीकः । [९]**गोरजादिप्रसङ्गे यत्** । गोरपत्यादि गव्यम् ।

इदमिति—सूत्रमधिक्रियते इति तु नोक्तम्, स्वार्थिकप्रकरणे 'वा' मात्रस्य सम्बन्धात् । **प्रागिति**–'तेन दीव्यतिखनति–०' इति सूत्रस्थ-दीव्यतिरूपार्था यावन्तोऽपत्यादयोऽर्थास्तेष्वर्थेषु इति भावः ।

आश्वपतम्—अश्वपतेरपत्यम्, अश्वपतिना निर्वृतम्, अश्वपतेरिदम् इत्यादि लौकिकविग्रहे अश्वपत्यादिभ्यश्च इति सूत्रेण 'अण्' प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, प्रातिपदिकत्वात् सुपो लुकि, आद्यचो वृद्धौ, 'यस्येति च' इति-इकारलोपे, तद्धितान्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां 'सौ' तस्य 'अमि' 'आश्वपतम्' इति । गणपतेरपत्यादि अर्थे गाणपतम् ।

१—'समर्था०'–'प्रथमात्'–'वा'–इन तीनों पदों का अधिकार 'प्राग्दिशो विभक्तिः' इस सूत्र से पूर्व तक जाता है । २—प्राग्दीव्यतीय अर्थों में इन (अश्वपत्यादि गणपठित) शब्दों से अण् प्रत्यय होता है । ३—प्राग्दीव्यतीय अर्थों में दिति, अदिति, आदित्य एवं पत्युत्तरपद से 'ण्य' प्रत्यय होता है । ४—यम् पर हो तो हल् से परे यम् का लोप होता है, विकल्प से । ५—देव शब्द से यञ् एवं अञ् प्रत्यय होते हैं । ६—बहिषस् शब्द की टि का लोप होता है और यञ् प्रत्यय भी होता है । ७—बहिषस् शब्द से ईकक् प्रत्यय तथा उसकी टि का लोप भी होता है । ८—कित् तद्धित पर हो तो अचों के आदि अच् को वृद्धि होती है । ९—प्राग्दीव्यतीय अर्थों में अजादि के प्रसङ्ग में गो शब्द से यत् प्रत्यय होता है ।

[1]**उत्सादिभ्योऽञ्** ४ । १ । ८६ ॥ औत्सः ।

इत्यपत्यादिविकारान्तार्थसाधारणप्रत्ययप्रकरणम् ॥ १ ॥



अथ अपत्याधिकारप्रकरणम्

स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् ४ । १ । ८७ ॥ [2]'धान्यानां भवने' इत्यतः प्रागर्थेषु स्त्रीपुंसाभ्यां क्रमान्नञ्स्नञौ स्तः । स्त्रैणः । पौंस्नः ।

तस्याऽपत्यम् ४ । १ । ९२ ॥ [3]षष्ठ्यन्तात्कृतसन्धेः समर्थादपत्येऽर्थे उक्ता वक्ष्यमाणाश्च प्रत्यया वा स्युः ।

ओर्गुणः ६ । ४ । १४६ ॥ [4]उवर्णान्तस्य भस्य गुणस्तद्धिते । उपगोरपत्यम्–औपगवः । आश्वपतः । दैत्यः । औत्सः । स्त्रैणः । पौंस्नः ।

अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ४ । १ । १६२ ॥ [5]अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्रादि गोत्रसंज्ञं स्यात् ।

एको गोत्रे ४ । १ । ९३ ॥ [6]गोत्रे एक एवाऽपत्यप्रत्ययः स्यात् । उपगोर्गोत्रापत्यमौपगवः ।

गर्गादिभ्यो यञ् ४ । १ । १०५ ॥ [7]गोत्रापत्ये । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः । वात्स्यः ।

औपगवः—'उपगोरपत्यम्' इति विग्रहे' 'तस्यापत्यम्' इत्यणि णकारस्य लोपे, तद्धितान्तत्वात् प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुकि, 'तद्धितेष्वचामादेः' इति वृद्धौ, 'ओर्गुणः' इति गुणे, 'एचोऽयवायावः' इत्यवादेशे, प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ तस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'औपगवः' इति ।

१—उत्सादि गणपठित शब्दों से अञ् प्रत्यय होता है ।

॥ इति साधारणप्रत्ययप्रकरणम् ॥

२—'धान्यानां भवने क्षेत्रे' सूत्र से पूर्व-अर्थों में स्त्री एवं पुंस् शब्द से क्रम से नञ् स्नञ् प्रत्यय होते हैं । ३–उक्त 'कहे गये', वक्ष्यमाण 'कहे जानेवाले' सभी प्रत्यय कृतसन्धि 'की हुई सन्धि वाले' षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से अपत्य अर्थ मे विकल्प से होते हैं । ४—तद्धित –प्रत्यय पर हो तो उवर्णान्त भसंज्ञक–अङ्ग के अन्त्य अल् को गुण होता है । ५—अपत्यत्वेन विवक्षित पौत्र आदि की गोत्र संज्ञा होती है । ६—गोत्र अर्थ में अपत्यसंज्ञक प्रत्यय एक ही होता है । ७—गोत्रापत्य अर्थ में गर्गादि गणपठित शब्दप्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से यञ् प्रत्यय होता है ।

यञञोश्च २ । ४ । ६४ ॥ [1]गोत्रे यद्यञन्तमञन्तं च तदवयवयोरेतयोर्लुक् स्यात्तत्कृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । गर्गाः । वत्साः ।

जीवति तु वंश्ये युवा ४ । १ । १६३ ॥ [2]वंश्ये पित्रादौ जीवति पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्थादि तद्युवसंज्ञमेव स्यात् ।

गोत्राद्यून्यस्त्रियाम् ४ । १ । ९४ ॥ [3]यून्यपत्ये गोत्रप्रत्ययान्तादेव प्रत्ययः स्यात्, स्त्रियां तु न युवसंज्ञा ।

यञिञोश्च ४ । १ । १०१ ॥ [4]गोत्रे यौ यञिञौ तदन्तात्फक् स्यात् ।

आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् ७ । १ । २ ॥ [5]प्रत्ययादेः फस्य—आयन्, ढस्य–एय्, खस्य–ईन्, छस्य–ईय्, घस्य–इय्–एते स्युः । गर्गस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः । दाक्षायणः ।

अत इञ् ४ । १ । ९५ ॥ [6]अपत्येऽर्थे । दाक्षिः ।

अपत्य पौत्रप्रभृति गोत्रम्— जीवति तु वंश्ये युवा— इदमत्र ध्येयम् । यद्यप्यपत्यशब्दः आत्मजस्तनयः सूनुरित्यादि कोशात् पुत्रपर्याय एव तथाप्यपत्यं पौत्रप्रभृति-शास्त्रात् न पतन्ति पितरोऽनेनेत्यर्थको यौगिकोऽपत्यशब्दो गृह्यते । तच्चापत्यं त्रिविधम्–अनन्तरापत्यम्, गोत्रापत्यम्, युवापत्यञ्चेति । तत्रानन्तरापत्यं 'पुत्रः' । एवं मूलपुरुषतृतीयादेः सन्तानस्य 'अपत्य पौत्रप्रभृति–' इत्यनेन गोत्रसंज्ञा । गोत्रापत्यप्रत्ययविवक्षाया मूलपुरुषसन्ततिषु एकत्र बहुत्र वा गोत्रत्वविवक्षायाम् 'एको गोत्रे' इति नियमात् एक एवापत्यप्रत्ययः । एवञ्च तृतीयापत्यस्य विवक्षायां गर्गस्यापत्यम् इति विग्रहे गर्गस्य गोत्रापत्यम् **'गार्ग्यः'** इत्येव स्यात् । **जीवति तु वंश्ये** इति—यस्य सन्तानस्य पितृपितामहाद्यन्यतमोऽस्ति तस्य युवसंज्ञा न तु गोत्रसंज्ञा । एवञ्च अनन्तरापत्यप्रत्यये **'गार्गिः'** । गोत्रापत्ये **'गार्ग्यः'** । युवापत्ये **'गार्ग्यायणः'** । अत इञ्—अदन्तं यत्प्रातिपदिकं तस्मादिञ् स्यादपत्येऽर्थे ।

१—गोत्र में जो यञन्त या अञन्त तदवयव यञ् एवम् अञ् का लुक् 'लोप' होता है, यदि यञ् या अञ् प्रत्ययकृत बहुत्व हो तो, किन्तु स्त्रीलिङ्ग मे नहीं । २–वंश मे पिता आदि के जीवित रहने पर पौत्र आदि का जो अपत्य चतुर्थादि (प्रपौत्रादि) उसकी युव–संज्ञा हो होती है । ३—युवापत्य अर्थ में गोत्र–प्रत्ययान्त से ही 'बाद में ही' प्रत्यय होता है, स्त्रीलिङ्ग में तो युव-संज्ञा नहीं होती है । ४—गोत्र अर्थ में जो यञ् या इञ् तदन्त से फक् प्रत्यय होता है । ५—प्रत्यय के आदिभूत फ के स्थान में आयन्, ढ को एय्, ख को ईन्, छ को ईय् और घ को इय् आदेश होते हैं । ६—अपत्य अर्थ में तदन्त शब्दप्रकृति षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से इञ् प्रत्यय होता है ।

[1]बाह्वादिभ्यश्च ४ । १ । ९६ ॥ बाहविः । औडुलोमिः । [2]**लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः** । उडुलोमाः । आकृतिगणोऽयम् ।

अनृष्यानन्तर्ये [3]**बिदादिभ्योऽञ्** ४ । १ । १०४ ॥ एभ्योऽञ् गोत्रे, ये त्वत्राऽनृषयस्तेभ्योऽपत्येऽन्यत्र तु गोत्रे । विदस्य गोत्रं बैदः, बैदौ ।

यञञोश्च २ । ४ । ६४ ॥ [4]गोत्रे यद्यञन्तमञन्तञ्च तदवयवयोरेतयोर्लुक् स्यात्तत्कृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । बिदाः । पुत्रस्यापत्यं पौत्रः । पौत्रौ । पौत्राः । एवं दौहित्रादयः ।

[5]**शिवादिभ्योऽण्** ४ । १ । ११२ ॥ अपत्ये । शैवः । गाङ्गः ।

[6]**ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च** ४ । १ । ११४ ॥ **ऋषिभ्यः**—वासिष्ठः । वैश्वामित्रः । **अन्धकेभ्यः**—श्वाफल्कः । **वृष्णिभ्यः**—वासुदेवः । **कुरुभ्यः**—नाकुलः । साहदेवः ।

मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः ४ । १ । ११५ ॥ [7]संख्यादिपूर्वस्य मातृशब्दस्योदादेशः स्यादण् प्रत्ययश्च । द्वैमातुरः । षाण्मातुरः । सांमातुरः । भाद्रमातुरः ।

बाहोरपत्यम् **बाहविः** । उडुलोम्नोऽपत्यम् **औडुलोमिः** । विदस्य गोत्रापत्यं **बैदः**, **बैदौ**, **बिदाः** । बिदाः इत्यत्र यञञोश्चेति अञो लुक् । तेन वृद्धयभावः । दुहितुरपत्यं **दौहित्रः** । शिवस्यापत्यं **शैवः** । गङ्गाया अपत्यं **गाङ्गः** । वसिष्ठस्यापत्यं **वासिष्ठः** । विश्वामित्रस्यापत्यं **वैश्वामित्रः** । वसुदेवस्यापत्यं **वासुदेवः** । एवं 'नाकुलः' इत्यादावपि विग्रहः । **द्वैमातुरः**—'द्वयोर्मात्रोरपत्यम्' इति विग्रहे अण् प्रत्यये कृते 'मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः' इत्यनेन मातृ-ऋकारस्योदादेशे रपरे 'तद्धितेष्वचामादेः'

१—बाह्वादि गणपठित शब्दप्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से भी इञ् प्रत्यय होता है । २—लोमन् शब्द से अपत्य अर्थ मे बहुत्व विवक्षित हो तो अकार प्रत्यय होता है (कहना चाहिये) । ३—बिदादिगणपठितशब्दप्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ मे गोत्र अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है, किन्तु जो कि ऋषिभिन्न हैं उनसे अपत्य अर्थ में 'अञ्' होता है । अन्यत्र 'ऋषिवाचक शब्द' से तो गोत्र अर्थ में 'अञ् प्रत्यय' होता है । ४—यदि यञन्त या अञन्त कृत बहुत्व हो तो गोत्र मे जो यञन्त या अञन्त तदवयव यञ्, अञ् का लोप होता है, किन्तु स्त्रीलिङ्ग में नहीं । ५—अपत्य अर्थ मे शिवादि—गणपठित शब्दप्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से अण् प्रत्यय होता है । ६—ऋषि, अन्धक, वृष्णि या कुरु वाचक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से अण् प्रत्यय होता है अपत्य अर्थ मे । ७—संख्या, सम् एवं भद्र—पूर्व जो मातृ शब्द उसको 'उत्' आदेश होता है तथा अण् प्रत्यय होता है ।

स्त्रीभ्यो ढक् ४ । १ । १२० ॥ [1]स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ढक् । वैनतेयः ।

[2]**कन्यायाः कनीन च ४ । १ । ११६ ॥** चादण् । कानीनो व्यास. कर्णश्च ।

[3]**राजश्वशुराद्यत् ४ । १ । १३७ ॥** [4]**ॐराज्ञो जातावेवेति वाच्यम् ।**

ये चाऽभावकर्मणोः ६ । ४ । १६८ ॥ [5]यादौ तद्धिते परेऽन् प्रकृत्या स्यान्न तु भावकर्मणोः । राजन्यः । जातावेवेति किम् ?

अन् ६ । ४ । १६७ ॥ [6]अन् प्रकृत्या स्यादणि परे । राजनः । श्वशुर्यः ।

[7]**क्षत्राद्घः ४ । १ । १३८ ॥** क्षत्रियः । जातावित्येव । क्षात्रिरन्यत्र ।

[8]**रेवत्यादिभ्यष्ठक् ४ । १ । १४६ ॥**

ठस्येकः ७ । ३ । ५० ॥ [9]अङ्गात्परस्य ठस्येकादेशः स्यात् । रैवतिकः ।

जनपदशब्दात्क्षत्त्रियादञ् ४ । १ । १६८ ॥ [10]जनपदक्षत्त्रियवाचकाच्छब्दादञ् स्यादपत्ये । पाञ्चालः । [11]**ॐक्षत्त्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य**

इति वृद्धौ 'द्वैमातुरः' इति । विनतायाः अपत्यं **वैनतेयः** । कन्यायाः अपत्यं **कानीनः** ।

राजन्यः—'राज्ञोऽपत्यम्' इति विग्रहे 'राजश्वशुराद्यत्' इति यति तकारलोपे, भत्वात् 'नस्तद्धिते' इत्यनेन टेर्लोपे प्राप्ते 'ये चाभावकर्मणोः' इत्यनेन तन्निषेधे (प्रकृतिभावे), प्रातिपदिकत्वेन सु आदि विभक्तिकार्ये कृते तत्सिद्धिः । राज्ञोऽपत्यं दास्यादावुत्पन्नो **राजनः** । श्वशुरस्यापत्यं **श्वशुर्यः** ।

जनपदेति—जनपदो जनपदनामधेयरशब्दो वाचको यस्य स जनपदशब्द इति । तथा च जनपदवाची सन् यः क्षत्रियादिवाची शब्दस्तत्प्रकृतिकात् षष्ठयन्ताद-

---

१—स्त्री-प्रत्ययान्त प्रकृति षष्ठ्यन्त सुबन्त समर्थसे अपत्य अर्थ मे ढक् प्रत्यय होता है । २—कन्या शब्दको कनीन आदेश होता है चकारात् अण् प्रत्यय भी होता है । ३—अपत्य अर्थ मे राजन् एवं श्वशुर—शब्द प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ से यत् प्रत्यय होता है । ४—राजन् शब्द से जाति (अर्थात् प्रकृति प्रत्यय-समुदाय से जाति=आकृतिलक्षणा जाति) वाच्य हो तभी यत् प्रत्यय होता है । ५—तद्धितीय यकारादि प्रत्यय पर रहे तो अन् प्रकृति से ही रहता है । अर्थात् अन् का लोप नहीं होता किन्तु भावकर्म को छोड़कर । ६—अण् प्रत्यय पर हो तो अन् प्रकृति से ही रहता है । ७—जाति वाच्य हो तो अपत्य अर्थ मे क्षत्र शब्द से 'घ' प्रत्यय होता है । ८—रेवत्यादिगणपठित शब्दो से ठक् प्रत्यय होता है । ९—अङ्ग से परे जो ठ उसको इक आदेश होता है । १०—जनपद वाची होता हुआ जो क्षत्रिय-वाची शब्द उससे अपत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है । ११—जनपद वाची

राजन्यपञ्चवत् । पञ्चालानां राजा पाञ्चालः । [1]⁕पूरोरण् वक्तव्यः । पौरवः । [2]पाण्डोड्यण् । पाण्ड्यः ।

[3]कुरुनादिभ्यो ण्यः ४ । १ । १७२ ॥ कौरव्यः । नैषध्यः ।

ते तद्राजाः ४ । १ । १७४ ॥ [4]अञादयस्तद्राजसंज्ञाः स्युः ।

तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् २ । ४ । ६२ ॥ [5]बहुष्वर्थेषु तद्राजस्य लुक्, तदर्थकृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । इक्ष्वाकवः । पञ्चालाः–इत्यादि ।

कम्बोजाल्लुक् ४ । १ । १७५ ॥ [6]अस्मात्तद्राजस्य लुक् । कम्बोजः । कम्बोजः । [7]⁕कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम् । चोलः । शकः । केरलः । यवनः ।

॥ इत्यपत्याधिकारप्रकरणम् ॥



अथ रक्ताद्यर्थकप्रकरणम्

[8]तेन रक्तं रागात् ४ । २ । १ ॥ अण् स्यात् । रज्यतेऽनेनेति रागः । कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम् ।

पञ्चार्थेऽञ् स्यादित्यर्थः । पुरोरपत्यं पौरवः, पौरवौ, पुरवः–इत्यादि । पाण्डोरपत्यं पाण्ड्यः । अत्रापि पाण्ड्यौ, पाण्डवः इत्यादि प्रयोगाः । कुरोरपत्यं कौरव्यः । निषधस्यापत्यं नैषध्यः । एवमग्रेऽपि । इदमत्र ध्येयम्—पञ्चालाङ्गवङ्गमगधकलिङ्गादयश्शब्दाः देशवाचिनो राजवाचिनश्च । तत्र देशवाचित्वे बहुवचनान्ताः, राजवाचित्वे एकवचनान्ताः ॥ इत्यपत्याधिकारप्रकरणम् ॥

तेन रक्तं रागात्—रञ्जकद्रव्यवाचकात् तृतीयान्ताद् रक्तमित्यर्थेऽण् प्रत्ययो

जो क्षत्रिय-तुल्य शब्द उससे राजा अर्थ में अपत्य की तरह प्रत्यय होते हैं ।

१—पुरु शब्द से अण् प्रत्यय होता है । २—पाण्डु शब्द से ड्यण् प्रत्यय होता है । ३—कुरु शब्द एवं नकारादि (नकार हो आदि मे जिसके ऐसे) शब्द से ण्य प्रत्यय होता है । ४—पूर्वोक्त अञ् आदि प्रत्यय तद्राज-संज्ञक होते हैं । ५—यदि प्रत्ययकृत बहुत्व हो तो बहुत्व अर्थ मे तद्राजसंज्ञक प्रत्यय का लुक् होता है स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर । ६—कम्बोज शब्द से विहित तद्राज-संज्ञक प्रत्यय का लुक् होता है । ७—कम्बोजादि-गणपठित शब्दों से परे तद्राज-संज्ञक प्रत्यय का लुक् होता है, 'ऐसा कहना चाहिये' ।

॥ इत्यपत्याधिकारप्रकरणम् ॥



८—राग वाचक शब्द प्रकृतिक तृतीयान्त समर्थक सुबन्त से 'रक्त' अर्थ मे अण् प्रत्यय होता है ।

[1]**नक्षत्रेण युक्तः कालः** ४। २। ३॥ अण् स्यात्। [2]***तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम्***। पुष्येण युक्तं पौषमहः।

लुबविशेषे ४। २। ४॥ [3]पूर्वेण विहितस्य लुप् स्यात्, षष्टिदण्डात्मकस्य कालस्यावान्तरविशेषश्चेन्न गम्यते। अद्य पुष्यः।

[4]**दृष्टं साम** ४। २। ७॥ तेनेत्येव। वसिष्ठेन दृष्टं वासिष्ठं साम।

[5]**वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ** ४। २। ९॥ वामदेवेन दृष्टं साम-वामदेव्यम्।

परिवृतो रथः ४। २। १०॥ [6]अस्मिन्नर्थेऽण् प्रत्ययो भवति। वस्त्रेण परिवृतो वास्त्रो रथः।

[7]**तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः** ४। २। १४॥ शरावे उद्धृतः शाराव ओदनः।

संस्कृतं भक्षाः ४। २। १६॥ [8]सप्तम्यन्तादण् स्यात्संस्कृतेऽर्थे यत्संस्कृतं भक्षाश्चेत्ते स्युः। भ्राष्ट्रेषु संस्कृता भ्राष्ट्रा यवाः।

[9]**साऽस्य देवता** ४। २। २४॥ इन्द्रो देवताऽस्येति ऐन्द्रं हविः। पाशुपतम्। बार्हस्पत्यम्।

भवति इत्यर्थः। **नक्षत्रेणेति**–नक्षत्रवाचकात्तृतीयान्ताद्युक्त इत्यर्थेऽण् प्रत्ययो भवति युक्तश्चेत्कालः। **दृष्टं साम**–तृतीयान्ताद् दृष्टमित्यर्थेऽण् स्यात् दृष्टं प्रत्यक्षविषयीभूतं साम चेत् इत्यर्थः। **वामदेवादिति**–तृतीयान्ताद् वामदेवशब्दाद् दृष्टमित्यर्थे ड्यत् ड्यश्च प्रत्ययौ स्याताम् दृष्टं साम चेत् इत्यर्थः। **पाशुपतम्**–'पशुपतिः देवता अस्य' इति विग्रहे अश्वपत्यादिभ्यश्चेति-अणि सुपो लुकि, मत्त्रादिकारलोपे वृद्धौ विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः। **बार्हस्पत्यम्। अत्र** 'पत्युत्तरपदाण्ण्यः' इति ण्यो ज्ञेयः।

१—नक्षत्र-वाचक-शब्द-प्रकृतिक तृतीयान्त समर्थ सुबन्त से 'युक्तः कालः'-अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। २—नक्षत्र-विहित अण् पर हो तो तिष्य एवं पुष्य के यकार का लोप होता है। ३—अविशेष अर्थ में=अर्थात् षष्टि (साठ) दण्डात्मक (२४ घण्टे के) काल के बीच के किसी विशेष (प्रधान) काल की प्रतीति न होती हो तो पूर्व सूत्र से विहित जो प्रत्यय उसका लोप होता है। ४—तृतीयान्त समर्थ से दृष्ट अर्थ में अण् प्रत्यय होता है, वह दृष्ट यदि साम हो तब। ५—वामदेव-शब्दप्रकृतिक तृतीयान्त समर्थ से ड्यत् एवं ड्य प्रत्यय होते हैं। ६-तत्तत्-शब्दप्रकृतिक तृतीयान्त समर्थ सुबन्त से परिवृत अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। ७—अमत्र (पात्र, बर्तन) वाचक शब्द प्रकृतिक सप्तम्यन्त समर्थ सुबन्त से उद्धृत अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। ८—तत्तत्-शब्द प्रकृतिक सप्तम्यन्त समर्थ सुबन्त से संस्कृत अर्थ में अण् प्रत्यय होता है, वह संस्कृत पदार्थ भक्ष्य=खाद्य हो तब। ९—तत्तत् शब्द-प्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से 'अस्य देवता' अर्थ में यथाविहित तत्तत् प्रत्यय होते हैं।

[1]शुक्राद्घन् ४ । २ । २६ ॥ शुक्रियम् ।

[2]सोमाट्ट्यण् ४ । २ । ३० ॥ सौम्यम् ।

[3]वाय्वृतुपित्रुषसो यत् ४ । २ । ३१ ॥ वायव्यम् । ऋतव्यम् ।

रीङ् ऋतः ७ । ४ । २७ ॥ [4]अकृद्यकारे असार्वधातुके यकारे च्वौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीङादेशः । यस्येति च । पित्र्यम् । उषस्यम् ।

[5]पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः ४ । २ । ३६ ॥ एते निपात्यन्ते । पितुर्भ्राता पितृव्यः । मातुर्भ्राता मातुलः । मातुः पिता मातामहः । पितुः पिता पितामहः ।

[6]तस्य समूहः ४ । २ । ३७ ॥ काकानां समूहः काकम् ।

[7]भिक्षादिभ्योऽण् ४ । २ । ३८ ॥ भिक्षाणां समूहो भैक्षम् । गर्भिणीनां समूहो गार्भिणम् । इह [8]'भस्याऽढे तद्धिते' इति पुंवद्भावे कृते—

इनण्यनपत्ये ६ । ४ । १६४ ॥ [9]अनपत्यार्थेऽणि परे इन् प्रकृत्या स्यात् । तेन 'नस्तद्धिते' इति टिलोपो न । युवतीनां समूहो यौवनम् ।

शुक्राद्घन्–प्रथमान्तात् 'शुक्र' शब्दाद् देवतास्य इत्यर्थे घन् प्रत्ययः स्यात् । सोमाट्ट्यण्––प्रथमान्तात्सोमशब्दात् 'देवतास्य' इत्यर्थे ट्यण् प्रत्ययो भवति । 'वाय्वृतु' इति । प्रथमान्तेभ्यो वाय्वृतुपित्रुषस् शब्देभ्यः देवतास्य इत्यर्थे यत्प्रत्ययः स्यात् । उषःकालाभिमानिनी देवता अस्य इति **उषस्यम्** । **तस्य समूह**––षष्ठ्यन्तात्समूह इत्यर्थेऽण् स्यात् । **भिक्षादिभ्य** इति–षष्ठ्यन्तभिक्षादिभ्यः समूहेऽर्थेऽण् स्यात् । **'भस्याढे तद्धिते'** इति––ढभिन्ने तद्धिते परे भस्य पुंवदित्यर्थः । शत्रन्तयुवति शब्दस्य तु 'यौवतम्' इति भवति ।

१—शुक्र–शब्द–प्रकृति प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से 'अस्य देवता' अर्थ में घन् प्रत्यय होता है । २—सोम शब्द प्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से 'अस्य देवता' अर्थ में ट्यण् प्रत्यय होता है । ३—वायु, ऋतु, पितृ या उषस् शब्द प्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से 'अस्य देवता' अर्थ मे यत् प्रत्यय होता है । ४—कृद्भिन्न यकार या सार्वधातुक भिन्न यकार या च्वि प्रत्यय पर हो तो ऋदन्त अङ्ग को रीङ् आदेश होताहै । ५–पितृव्य, मातुल, मातामह एवं पितामह ये शब्द निपातन से सिद्ध होते है । ६—तत्तत् शब्द–प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से समूह अर्थ मे यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं । ७—भिक्षादिगणपठित शब्द–प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से समूह अर्थ मे अण् प्रत्यय होता है । ८—ढ भिन्न तद्धित पर में हो तो भसंज्ञक प्रातिपदिक को पुंवद्भाव होता है । ९—अपत्य अर्थ से भिन्न अर्थ मे किया गया अण् पर हो तो इन् प्रकृति से ही रह जाता है, अर्थात् उसका लोप नहीं होता है ।

[1]**ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् ४ । २ । ४३ ॥** [2]**'तलन्तं स्त्रियाम्'** । ग्रामता । जनता । बन्धुता । [3]***गजसहायाभ्यां चेति वक्तव्यम्** । गजता । सहायता । [4]*** अह्नः खः क्रतौ** । अहीनः ।

[5]**अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् ४ । २ । ४७ ॥**

इसुसुक्तान्तात्कः ७ । ३ । ५१ ॥ [6]इस्उस्उक्तात्परस्य ठस्य कः । साक्तुकम् । हास्तिकम् । धेनुकम् ।

[7]**तदधीते तद्वेद ४ । २ । ५९ ॥**

न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् ७ । ३ । ३ ॥ [8]पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यां परस्य न वृद्धिः । किं तु ताभ्यां पूर्वौ क्रमादैजावागमौ स्तः । व्याकरणमधीते वेद वा वैयाकरणः ।

[9]**क्रमादिभ्यो वुन् ४ । २ । ६१ ॥** क्रमकः । पदकः । शिक्षकः । मीमांसकः ।

इति रक्ताद्यर्थकप्रकरणम् ॥ ३ ॥

तदधीते तद्वेद—द्वितीयान्ताद् 'अधीते' इत्यर्थे उक्ता अणादयो वक्ष्यमाणाश्च त्यया वा स्युः इति । **वैयाकरणः**—'व्याकरणमधीते वेद वा' इति विग्रहे 'तदधीते तद्वेद' इति सूत्रेणाणि णकारस्येत्संज्ञालोपयोः कृतयोः प्रातिपदिकत्वात्सुपो लुकि भत्वाद् यस्येति चेत्यनेनाकारलोपे 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्याद्यचो वृद्धौ प्राप्तायां 'नय्वाभ्यां पदान्ताभ्यां–' इति ऐजागमेऽनुबन्धलोपे, प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ, तस्य रुत्वे विसर्गे च 'वैयाकरण.' इति । **क्रमादिभ्य इति**—द्वितीयान्तक्रमादिभ्यः 'अधीते' 'वेद' इत्यर्थे वुन् प्रत्ययः स्यात् ।

॥ इति रक्ताद्यर्थकप्रकरणम् ॥

१—ग्राम, जन एवं बन्धु शब्द प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से समूह अर्थ में तल् प्रत्यय होता है । २—तल् प्रत्ययान्त सुबन्तों का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में ही होता है । ३—गज एवं सहाय शब्द से भी तल् प्रत्यय होता है (कहना चाहिये) । ४—क्रतु (यज्ञ) अर्थ में अहन् शब्द से 'ख' प्रत्यय होता है । ५—चेतन-भिन्नवाची हस्तिन् शब्द एवं धेनुशब्द-प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से ठक् प्रत्यय होता है । ६—इस् , उस् , उक् या त हो अन्त में जिसके उससे परे ठ (ठक्) को क होता है । ७—तत्तत् शब्दप्रकृतिक द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त से अधीते एवं वेद अर्थ में अणादिक प्रत्यय होते हैं । ८—पदान्त यकार या वकार से परे वृद्धि नहीं होती, किन्तु यकार वकार के पूर्व को क्रम से ऐ, औ आदेश होते हैं । ९—क्रमादिगणपठितशब्दप्रकृतिक द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त से अधीते एवं वेद अर्थों में वुन प्रत्यय होता है ॥ इति रक्ताद्यर्थकाः ॥

450-5

अथ चातुरर्थिकप्रकरणम्

[1]तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ४ । २ । ६७ ॥ उदुम्बराः सन्त्यस्मिन्देशे औदुम्बरो देशः ।

[2]तेन निर्वृत्तम् ४ । २ । ६८ ॥ कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरी कौशाम्बी ।

[3]तस्य निवासः ४ । २ । ६९ ॥ शिबीनां निवासो देशः शैबः ।

[4]अदूरभवश्च ४ । २ । ७० ॥ विदिशाया अदूरभवं नगरं वैदिशम् ।

जनपदे लुप् ४ । २ । ८१ ॥ [5]जनपदे वाच्ये चातुरर्थिकस्य लुप् ।

लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने १ । २ । ५१ ॥ [6]लुपि सति प्रकृतिवल्लिङ्गवचने स्तः । पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः । कुरवः । अङ्गाः । वङ्गाः । कलिङ्गाः ।

[7]वरणादिभ्यश्च ४ । २ । ८२ ॥ अजनपदार्थ आरम्भः । वरणानामदूरभवं नगरं वरणाः ।

[8]कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप् ४ । २ । ८७ ॥

झयः ८ । २ । १० ॥ [9]झयन्तान्मतोर्मस्य वः । कुमुद्वान् । नड्वान् ।

तदस्मिन्नस्ति, तेन निर्वृत्तम्, तस्य निवासः, अदूरभवश्चेति सूत्रचतुष्टयमनुवर्त्याह—'चातुरर्थिकस्य' इति ।

प्रत्ययलोपे कृते यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायीति न्यायेन प्रकृतेरेव निवासरूपार्थाभिधानात्तदनुरोधेन पुंस्त्वैकवचने प्राप्तेऽतिदेशोऽयम् 'लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने' इति । अत्र युक्तशब्दः प्रकृतिवाची, व्यक्तिशब्दो लिङ्गवाची, अतः उच्यते 'प्रकृतिवल्लिङ्गवचने' इति ।

१–प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से 'अस्मिन् अस्ति' अर्थ में यथाविहित अणादि प्रत्यय होते हैं, किन्तु यदि तन्नामा (प्रथमान्त सुबन्तनामा) देश हो तो तब । २—तृतीयान्त समर्थ सुबन्त से 'निर्वृत्तम्' अर्थ में यथा-विहित (अणादि) प्रत्यय होते हैं । ३–षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से 'निवास' अर्थ में यथाविहित (अणादि) प्रत्यय होते हैं । ४—षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से 'अदूरभव' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं । ५—जनपद (देश या जनसमूह) वाच्य हो तो चातुरर्थिक-प्रत्यय का लुप् (लोप) हो जाता है । ६—लुप् हो जाने पर प्रकृति की तरह लिङ्ग तथा वचन होते हैं । ७—वरणादिगण पठित प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् होता है । ८—कुमुद, नड, वेतस-शब्दों के तत्तत् शब्द प्रकृतिक सुबन्त से ड्मतुप् प्रत्यय होता है । ९—झयन्त से परे मतुप् के मकार को वकार आदेश होता है ।

मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ८ । २ । ९ ॥ [1]मवर्णाऽवर्णान्तान्म-वर्णावर्णोपधाच्च यवादिवर्जितात्परस्य मतोर्मस्य वः । वेतस्वान् ।

[2]**नडशादाड्ड्वलच् ४ । २ । ८८ ॥** नड्वलः । शाद्वलः ।

[3]**शिखाया वलच् ४ । २ । ८९ ॥** शिखावलः ।

॥ इति चातुरर्थिकप्रकरणम् ॥ ४ ॥

अथ शैषिकप्रकरणम्

शेषे ४ । २ । ९२ ॥ [4]अपत्यादिचतुरर्थ्यन्तादन्योऽर्थः शेषस्तत्राऽणादयः स्युः । चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम् । श्रावणः शब्दः । औपनिषदः पुरुषः । दृषदि पिष्टा दार्षदाः सक्तवः । चतुर्भिरुह्यते चातुरं शकटम् । चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः । 'तस्य विकारः' इत्यतः प्राक् शेषाधिकारः ।

[5]**राष्ट्राऽवारपाराद्घखौ ४ । २ । ९३ ॥** आभ्यां क्रमाद्घखौ स्तः शेषे । राष्ट्रे जातादिः राष्ट्रियः । अवारपारीणः । ॐ [6]**अवारपाराद्विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम्** । अवारीणः । पारीणः । पारावारीणः । इह प्रकृति-विशेषाद्घादयष्ट्युट्युलन्ताः प्रत्यया उच्यन्ते तेषां जातादयोऽर्थविशेषाः समर्थ-विभक्तयश्च वक्ष्यन्ते ।

मादुपधायाश्चेति–'मश्च अश्च' अनयोः समाहारो 'म', तस्मात् 'मात्' इति । वेतसाः सन्त्यत्रेति **वेतस्वान्** । नडाः सन्त्यत्रेति **नड्वलः** । शादाः सन्त्यत्रेति **शाद्वलः** । शिखा अस्त्यस्मिन् देशे **शिखावलः** ॥ **इति चातुरर्थिकप्रकरणम्** ॥

ननु 'अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति' इति नियमस्तथाच 'राष्ट्रावारपाराद्-' इत्यादिसूत्रेऽर्थानिर्देशादिमे घादयः प्रत्ययाः स्वार्थे एवं भवेयुरिति शङ्कायामुच्यते— **इह प्रकृतिविशेषादिति**—इह = शैषिके । **प्रकृतिविशेषात्**=राष्ट्रादिशब्दात् इत्यादि ।

१—मकार या अवर्ण है अन्त मे जिसके एवं मकार या अवर्ण है उपधा मे जिसके उससे परे मतुप् के मकार को वकार आदेश होता है, यवादिगण को छोड़कर । २—नड एवं शाद शब्दप्रकृतिक समर्थ सुबन्त से चातुरर्थिक अर्थ में 'ड्वलच्' प्रत्यय होता है । ३–शिखाशब्द–प्रकृतिक समर्थ सुबन्त से 'वलच्' प्रत्यय होता है ।

॥ इति चातुरर्थिकप्रकरणम् ॥

४—अपत्य आदि चतुरर्थ्यन्त से भिन्न अर्थ को शेष कहते हैं । उस (शेष) अर्थ में अण् आदिक प्रत्यय होते हैं । ५—राष्ट्र एवं अवारपार शब्द प्रकृतिक समर्थ सुबन्तों से जातादि अर्थ में क्रम से घ एवं ख प्रत्यय होते हैं । ६—अवार तथा पार शब्द से विगृहीत (अलग २) तथा विपरीत (पारावार) शब्द से भी ख प्रत्यय होता है ।

[1]ग्रामाद्यखञौ ४ । २ । ९४ ॥ ग्राम्यः । ग्रामीणः ।

[2]नद्यादिभ्यो ढक् ४ । २ । ९७ ॥ नादेयम् । माहेयम् । वाराणसेयम् ।

[3]दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक् ४ । २ । ९८ ॥ दाक्षिणात्यः । पाश्चात्त्यः । पौरस्त्यः ।

[4]द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् ४ । २ । १०१ ॥ दिव्यम् । प्राच्यम् । अपाच्यम् । उदीच्यम् । प्रतीच्यम् ।

[5]अव्ययात्त्यप् ४ । २ । १०४ ॥ ॐअमेहक्वतसित्रेभ्य एव । अमात्यः । इहत्यः । क्वत्यः । ततस्त्यः । ॐत्यब्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम् । नित्यः ।

वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् १ । १ । ७३ ॥ [6]यस्य समुदायस्याऽचां मध्ये आदिवृद्धिस्तद् वृद्धसंज्ञं स्यात् ।

[7]त्यदादीनि च १ । १ । ७४ ॥ वृद्धसंज्ञानि स्युः ।

[8]वृद्धाच्छः ४ । २ । ११४ ॥ शालीयः । मालीयः । तदीयः । ॐवा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या । देवदत्तीयः । दैवदत्तः ।

[9]गहादिभ्यश्च ४ । २ । १३८ ॥ गहीयः ।

[10]युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च ४ । ३ । १ ॥ चाच्छः । पक्षेऽण् । युवयोर्युष्माकं वाऽयं—युष्मदीयः । अस्मदीयः ।

दक्षिणस्यामदूरे भवा दक्षिणा तत्र भवो **दाक्षिणात्यः** । पश्चाद्भवः **पाश्चात्यः** । पुरो भवः **पौरस्त्यः** । शालीयः—'शालायां भवः' इति विग्रहे 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्' इति 'शाला' इत्यस्य वृद्धसंज्ञायां 'वृद्धाच्छः' इत्यनेन 'छ' प्रत्यये, सुपो लुकि, आयनेयीत्यादिना 'छ' इत्यस्य ईयादेशे, भत्वेनाकारस्य लोपे प्रातिपदिकसंज्ञाया सौ तस्य रुत्वे विसर्गे च 'शालीयः' इति ।

१—ग्राम-शब्द प्रकृतिक समर्थ सुबन्त से जातादि अर्थ में य एवं खञ् प्रत्यय होते हैं । २—नद्यादिगणपठितशब्दप्रकृतिक समर्थ सुबन्त से जातादि अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है । ३—दक्षिणा, पश्चात् एवं पुरस्-प्रकृतिक समर्थ से जातादि अर्थ में त्यक् प्रत्यय होता है । ४—द्यु (दिव्), प्राक् (प्राच्), अवाक् (अवाच्), उदक् (उदच्), एवं प्रतीच-शब्द-प्रकृति समर्थ सुबन्त से जातादि अर्थ में यत् प्रत्यय होता है । ५—अव्यय से त्यप् प्रत्यय होता है । ६—जिस समुदाय से अचों के मध्य में आदि वृद्धि (आ ऐ या औ) हो वह वृद्ध-संज्ञक होता है । ७—त्यदादि भी वृद्ध-संज्ञक होते है । ८—वृद्धसंज्ञक समर्थ सुबन्त से छ प्रत्यय होता है । ९—गहादिगणपठित शब्दप्रकृतिक समर्थ सुबन्त से भी छ प्रत्यय होता है । १०—युष्मद् या अस्मद-शब्द प्रकृतिक समर्थ सुबन्त से खञ् प्रत्यय विकल्प से होता है, चकारात् छ प्रत्यय होता है, पक्ष में अण् प्रत्यय होता है ।

तस्मिन्नणि च युष्माकाऽस्माकौ ४ । ३ । २ ॥ [1]युष्मदस्मदोरेतावादेशौ स्तः खञ्यणि च । यौष्माकीणः । आस्माकीनः । यौष्माकः । आस्माकः ।

तवकममकावेकवचने ४ । ३ । ३ ॥ [2]एकार्थवाचिनोर्युष्मदस्मदोस्तवकममकौ स्तः खञि अणि च । तावकीनः । तावकः । मामकीनः । मामकः । छे तु—

प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ७ । २ । ९८ ॥ [3]मपर्यन्तयोरेतयोरेकार्थवाचिनोस्त्वमौ स्तः प्रत्यये उत्तरपदे च परतः । त्वदीयः । मदीयः । त्वत्पुत्रः । मत्पुत्रः ।

[4]**मध्यान्मः** ४ । ३ । ८ ॥ मध्यमः ।

कालाट्ठञ् ४ । ३ । ११ ॥ [5]कालवाचिभ्यष्ठञ् स्यात् । कालिकम् । सांवत्सरिकम् । [6]**अव्ययानां भमात्रे टिलोपः** । सायम्प्रातिकः । पौनःपुनिकः ।

[7]**प्रावृष एण्यः** ४ । ३ । १७ ॥ प्रावृषेण्यः ।

सायञ्चिरम्प्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च ४ । ३ । २३ ॥ [8]सायमित्यादिभ्यश्चतुर्भ्योऽव्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्यष्ट्युट्युलौ स्तस्तयोस्तुट् च । सायन्तनम् । प्राह्णे-प्रगे-अनयोरेदन्तत्वं निपात्यते । प्राह्णेतनम् । प्रगेतनम् । दोषातनम् ।

तावकीनः—तव अयमिति विग्रहे 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च' इति खञि, अनुबन्धलोपे आयनेयीति खस्येनादेशे 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशे, आदिवृद्धौ, भत्वेन यस्येति चेत्यनेन ककारोत्तरवर्त्यकारस्य लोपे प्रातिपदिकत्वेन सौ तस्य रुत्वे विसर्गे च 'तावकीनः' इति । अणि तु 'तावकः' इति । खञ्चेत्यनेन चकाराच्छे कृते तस्येयादेशे, प्रत्ययोत्तरपदयोश्चेति सूत्रेण 'युष्म' इत्यस्य 'त्व' आदेशे 'त्वदीयः' इति ।

१—खञ् या अण् प्रत्यय पर हो तो युष्मद्–अस्मद् शब्द को (क्रम से) युष्माक, अस्माक होते हैं । २—खञ् या अण् प्रत्यय पर रहे तो एकार्थवाची युष्मद्–अस्मद् को (क्रम से) तवक, ममक आदेश होते हैं । ३—प्रत्यय या उत्तरपद पर हो तो एकार्थवाची युष्मद्, अस्मद्, शब्द के मपर्यन्त (युष्म, अस्म) को क्रम से त्व एवं म आदेश होते हैं । ४—मध्य शब्द से जातादि अर्थ मे 'म' प्रत्यय होता है । ५—कालवाचक शब्दों से जातादि अर्थों में ठञ् प्रत्यय होता है । ६—अव्ययसंज्ञक शब्दों की 'टि' का लोप भसंज्ञामात्र में ही होता है । ७—प्रावृष्शब्दप्रकृतिक समर्थ सुबन्त से एण्य प्रत्यय होता है । ८—सायं, चिरं, प्राह्णे या प्रगे–इन चारों से एवं कालवाची अव्यय से भी ट्यु तथा ट्युल् प्रत्यय होते हैं, एवं उनको तुट् का आगम भी होता है ।

तत्र जातः ४ । ३ । २५ ॥ [1]सप्तमीसमर्थाज्जात इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च स्युः । स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः । उत्से जात औत्सः । राष्ट्रे जातो राष्ट्रियः । अवारपारे जातः अवारपारीणः इत्यादि ।

[2]**प्रावृषष्ठप् ४ । ३ । २६ ॥** एण्यापवादः प्रावृषिकः ।

[3]**प्रायभवः ४ । ३ । ३९ ॥** तत्रेत्येव । स्रुघ्ने प्रायेण बाहुल्येन भवति स्रौघ्नः ।

[4]**संभूते ४ । ३ । ४१ ॥** स्रुघ्ने सम्भवति स्रौघ्नः ।

[5]**कोशाड्ढञ् ४ । ३ । ४२ ॥** कौशेयं वस्त्रम् ।

[6]**तत्र भवः ४ । ३ । ५३ ॥** स्रुघ्ने भवः स्रौघ्नः । औत्सः । राष्ट्रियः ।

[7]**दिगादिभ्यो यत् ४ । ३ । ५४ ॥** दिश्यम् । वर्ग्यम् ।

[8]**शरीरावयवाच्च ४ । ३ । ५५ ॥** दन्त्यम् । कण्ठ्यम् । [9]**अध्यात्मादेष्ठञिष्यते** । अध्यात्मनि भवम् आध्यात्मिकम् ।

अनुशतिकादीनां च ७ । ३ । २० ॥ [10]एषामुभयपदवृद्धिर्ञिति णिति किति च । आधिदैविकम् । आधिभौतिकम् । ऐहलौकिकम् । पारलौकिकम् । आकृतिगणोऽयम् ।

औत्सः—अत्र 'उत्सादिभ्योऽञ्' इति अण्प्रत्ययः । **राष्ट्रियः**—इत्यत्र 'राष्ट्रावारपार—' इति घप्रत्ययः । **तत्रेत्येव**—सप्तम्यन्तसमर्थात् प्रायभव इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च प्रत्यया भवन्ति इत्यर्थः । **तत्र भवः**—भव इत्यर्थे सप्तम्यन्तसमर्थादणादयो भवन्ति । **शरीरावयवाच्चेत्यत्र** चकारात् 'दिगादिभ्यो यत्' इत्यतो यत्—इत्याकृष्यते ।

१—सप्तम्यन्त समर्थ सुबन्त से 'जातः' अर्थ में अणादि एवं घादि प्रत्यय होते हैं । २—प्रावृष्–शब्दप्रकृतिक समर्थ सुबन्त से ठप् प्रत्यय होता है । ३–तत्तत्प्रातिपदिक सप्तम्यन्त समर्थ सुबन्त से प्रायभाव अर्थ में (यथासम्भव) अणादि एवं घादि प्रत्यय होते हैं । ४—सप्तम्यन्तसमर्थसुबन्त से सम्भूत (होने) अर्थ में अणादि एवं घादि प्रत्यय होते हैं । ५—कोश–शब्दप्रकृतिक समर्थ सुबन्त से सम्भूत अर्थ में ढञ् प्रत्यय होता है । ६—तत्तत्–शब्दप्रकृतिक सप्तम्यन्त समर्थ सुबन्त से 'भवः' अर्थ में अयादि एवं घादि प्रत्यय होते हैं । ७—दिगादिगणपठित शब्द प्रकृतिक समर्थ सुबन्त से प्रायभव–अर्थ मे यत् प्रत्यय होता है । ८—शरीरावयववाची शब्द प्रकृतिक सप्तम्यन्त समर्थ सुबन्त से भी भव–अर्थ में यत् प्रत्यय होता है । ९—अध्यात्मादि गण पठित समर्थ सुबन्त से भव–अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है । १०—ञित्, णित्, या कित्–तद्धित पर हो तो अनुशतिकादिगण पठित शब्दों को उभयपदवृद्धि (दोनों पदों की वृद्धि) होती है ।

[1]**जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः** ४ । ३ । ६२ ॥ जिह्वामूलीयम् । अङ्गुलीयम् ।

[2]**वर्गान्ताच्च** ४ । ३ । ६३ ॥ कवर्गीयम् ।

[3]**तत आगतः** ४ । ३ । ७४ ॥ स्रुघ्नादागतः स्रौघ्नः ।

[4]**ठगायस्थानेभ्यः** ४ । ३ । ७५ ॥ शुल्कशालाया आगतः शौल्कशालिकः ।

[5]**विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ्** ४।३।७७ ॥ औपाध्यायकः । पैतामहकः ।

[6]**हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः** ४ । ३ । ८१ ॥ समादागतं समरूप्यम् । विषमरूप्यम् । पक्षे–गहादित्वाच्छः । समीयम् । विषमीयम् । देवदत्तरूप्यम् । दैवदत्तम् ।

[7]**मयट् च** ४ । ३ । ८२ ॥ सममयम् । देवदत्तमयम् ।

[8]**प्रभवति** ४ । ३ । ८३ ॥ हिमवतः प्रभवति हैमवती गङ्गा ।

[9]**तद् गच्छति पथिदूतयोः** ४ । ३ । ८५ ॥ स्रुघ्नं गच्छति स्रौघ्नः पन्था दूतो वा ।

[10]**अभिनिष्क्रामति द्वारम्** ४ । ३ । ८६ ॥ स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति स्रौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम् ।

ठगायस्थानेभ्यः–आयः स्वामिग्राह्यो भागः स यस्मिन्नुत्पद्यते तदायस्थानम्, तद्वाचकात्पञ्चम्यन्तादागतेऽर्थे ठक् स्यात् इत्यर्थः । **विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ्**—विद्याकृतो योनिकृतः सम्बन्धो येषां तद्वाचकादागतेऽर्थे वुञ् स्यात् इति । **प्रभवति**–प्रभवः प्रथमप्रकाशस्तत्कर्तरि प्रभवति इत्यर्थे पञ्चम्यन्तसमर्थादणादयो घादयश्च स्युः । **तद्गच्छति**—द्वितीयान्ताद् गच्छतीत्यर्थेऽणादयो घादयश्च स्युः, यो गच्छति स चेत्पन्था दूतो वा । **अभि इति**—द्वितीयान्तात् 'अभिनिष्क्रामति' इत्यर्थेऽणादयः

१—जिह्वामूल तथा अङ्गुलि-शब्द-प्रकृतिकसमर्थ सुबन्त से भव–अर्थ में छ प्रत्यय होता है । २—वर्गान्तशब्द प्रकृतिक समर्थ सुबन्त से भी भव–अर्थ में छ प्रत्यय होता है । ३–तत्ततशब्दप्रकृतिकपञ्चम्यन्त समर्थ सुबन्त से आगत अर्थ में अणादि एवं घादि प्रत्यय होते हैं । ४—आय (आमदनी) स्थानवाचक शब्दप्रकृतिकसमर्थ सुबन्त से आगत–अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । ५—विद्यासम्बन्धवाचक तथा योनिसम्बन्धवाचक–शब्दप्रकृतिक पञ्चम्यन्त-समर्थ सुबन्त से आगत अर्थ में वुञ् प्रत्यय होता है । ६—हेतुवाची एवं मनुष्यवाची शब्द-प्रकृतिकपञ्चम्यन्त समर्थ सुबन्त से आगत–अर्थ में रूप्य प्रत्यय होता है । ७—पूर्व (४।३।८१) सूत्रोक्त अर्थ में मयट् प्रत्यय भी होता है । ८—पञ्चम्यन्तसमर्थ सुबन्त से 'प्रभवति' अर्थ में अणादि तथा घादि प्रत्यय होते हैं । ९—द्वितीयान्तसमर्थ सुबन्त से 'गच्छति' अर्थ में अणादि तथा घादि प्रत्यय होते हैं, किन्तु वह (जानेवाला) यदि पन्था (मार्ग, रास्ता) या दूत हो तब । १०—यदि द्वार वाच्य हो तो द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त से 'अभिनिष्क्रामति' अर्थ में

अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ४ । ३ । ८७ ॥ [1]शारीरकमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शारीरकीयः ।

[2]**सोऽस्य निवासः ४ । ३ । ८९ ॥** स्रुघ्नो निवासोऽस्य स्रौघ्नः ।

[3]**तेन प्रोक्तम् ४ । ३ । १०१ ॥** पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् ।

[4]**तस्येदम् ४ । ३ । १२० ॥** उपगोरिदम् औपगवम् ।

इति शैषिकाः ॥ ५ ॥



अथ विकारार्थप्रकरणम्

[5]**तस्य विकारः ४ । ३ । १३४ ॥** [6]**ॐ अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः ।** अश्मनो विकारः आश्मः । भास्मनः । मार्त्तिकः ।

[7]**अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ४ । ३ । १३५ ॥** चाद्विकारे । मयूरस्याऽवयवो विकारो वा मायूरः । मौर्वं काण्डं भस्म वा । पैप्पलम् ।

[8]**मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः ४ । ३ । १४३ ॥** प्रकृतिमात्रान्मयड् वा स्यात् विकारावयवयोः । अश्ममयम् । आश्मनम् । अभक्ष्येत्यादि किम् ? मौद्गः सूपः । कार्पासम् आच्छादनम् ।

स्युः, यस्मिष्क्रामति तद् द्वारम्भवत् इति । **अधिकृत्य**—इति । द्वितीयान्तात् 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च भवन्ति । **तेन प्रोक्तम्**—तृतीयान्तात्प्रोक्तमित्यर्थेऽणादयः स्युः । **पाणिनीयम्**—अत्र 'वृद्धाच्छः' इति छः ।

॥ इति शैषिकाः ॥



अणादि तथा घादि प्रत्यय होते हैं ।

१—द्वितीयान्तसमर्थ सुबन्त से 'अधिकृत्य कृतः' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं, किन्तु जो किया गया हो वह यदि ग्रन्थ हो तब । २—प्रथमान्त सुबन्त समर्थ से 'अस्य निवासः' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं । ३—तृतीयान्त समर्थ सुबन्त से 'प्रोक्त' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं । ४—षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से 'इदम्' अर्थ मे अणादि प्रत्यय होते हैं ।

॥ इतिशैषिकप्रकरणम् ॥



५—षष्ठ्यन्त सुबन्त से 'विकार' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं । ६—विकार अर्थ में अश्मन् शब्द की टि का लोप होता है । ७—प्राणिवाचक तथा औषधिवाचक शब्द प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से अवयव एवं (चकारात्) विकार अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं । ८—भक्ष्य और आच्छादन अर्थ को छोड़कर विकार एवं अवयव अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से मयट् प्रत्यय विकल्प से होता है ।

[1]नित्यं वृद्धशरादिभ्यः ४ । ३ । १४४ ॥ आम्रमयम् । शरमयम् ।

[2]गोश्च पुरीषे ४ । ३ । १४५ ॥ गोः पुरीषं गोमयम् ।

[3]गोपयसोर्यत् ४ । ३ । १६० ॥ गव्यम् । पयस्यम् ।

❀ इति विकारार्थकाः ❀ (इति प्राग्दीव्यतीयाः) ॥ ६ ॥



अथ ठगधिकारप्रकरणम्

प्राग्वहतेष्ठक् ४ । ४ । १ ॥ [4]तद्वहतीत्यतः प्राक् ठगधिक्रियते ।

[5]तेन दीव्यति खनति जयति जितम् ४ । ४ । २ ॥ अक्षैर्दीव्यति खनति जयति जितो वा आक्षिकः ।

[6]संस्कृतम् ४ । ४ । ३ ॥ दध्ना संस्कृतं दाधिकम् । मारीचिकम् ।

[7]तरति ४ । ४ । ५ ॥ तेनेत्येव । उडुपेन तरति औडुपिकः ।

चरति ४ । ४ । ८ ॥ [8]तृतीयान्ताद् गच्छति-भक्षयतीत्यर्थयोष्ठक् स्यात् । हस्तिना चरति हास्तिकः । दध्ना चरति दाधिकः ।

[9]संसृष्टे ४ । ४ । २२ ॥ दध्ना संसृष्टं दाधिकम् ।

तेन दीव्यतीति—तृतीयान्तसमर्थात् 'दीव्यति खनति-जयति जितम्' इत्येतेष्वर्थेषु ठक् स्यात् । संस्कृतम्-तृतीयान्तसमर्थात् संस्कृतमित्यर्थे ठक् स्यात् । मारीचिकम् मरीचेन संस्कृतमित्यर्थे 'संस्कृतम्' इत्यनेन ठकि ककारलोपे, ठस्येकादेशेऽनुबन्धलोपे भत्वादलोपे किति चेत्यनेनाचो वृद्धौ प्रातिपदिकत्वात्सौ विभक्तिकार्ये च कृते तत् सिद्धिः । संसृष्टे-तृतीयान्तसमर्थात् संसृष्टमित्यर्थे ठक् ।

१—विकार तथा अवयव अर्थ में वृद्ध-संज्ञक तथा शरादिगण पठित शब्दप्रकृतिक समर्थ सुबन्त से नित्य ही मयट् प्रत्यय होता है । २—गो-शब्दप्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से पुरीष (मल) अर्थ में मयट् प्रत्यय होता है । ३—गो शब्द तथा पयस्-शब्द-प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ से विकार अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ।

॥ इति प्राग्दीव्यतीयाः ॥



४—'तद्वहतिरथयुग-प्रासङ्गम्' सूत्र से पूर्व तक इस सूत्र का अधिकार जाता है । ५—तृतीयान्तसमर्थ सुबन्त से दीव्यति, खनति, जयति तथा जितम् इन चारों अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है । ६—तृतीयान्त समर्थ सुबन्त से 'संस्कृत' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । ७—तृतीयान्त समर्थ सुबन्त से 'तरति' अर्थ मे ठक् प्रत्यय होता है । ८—तृतीयान्त समर्थ सुबन्त से गच्छति तथा भक्षयति अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है । ९—तृतीयान्त समर्थ सुबन्त से संसृष्ट (मिश्रित, मिलाया हुआ) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

[1]उञ्छति ४।४।३२॥ बदराण्युञ्छति बादरिकः।

[2]रक्षति ४।४ ३३॥ समाजं रक्षति सामाजिकः।

[3]शब्ददर्दुरं करोति ४।४।३४॥ शब्दं करोति शाब्दिकः। दर्दुरं करोति दार्दुरिकः।

[4]धर्मं चरति ४।४।४१॥ धार्मिकः। ॐ[5]अधर्माच्चेति वक्तव्यम्। अधार्मिकः।

[6]शिल्पम् ४।४।५५॥ मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः।

[7]प्रहरणम् ४।४।५७॥ तदस्येत्येव। असिः प्रहरणमस्य आसिकः। धानुष्कः।

[8]शीलम् ४।४।६१॥ अपूपभक्षणं शीलमस्य आपूपिकः।

[9]निकटे वसति ४।४।७३॥ नैकटिको भिक्षुकः।

॥ इति ठगधिकारः॥ ७॥



उञ्छति–अत्र तरत्यनुपूर्वादित्यतस्तत्पदमनुवर्तते। तेन 'द्वितीयान्तसमर्थात् उञ्छति' इत्यर्थे ठक् स्यात् इत्यर्थः। रक्षति—द्वितीयान्तसमर्थाद् 'रक्षति' इत्यर्थे ठक्। शब्ददर्दुरशब्दाद् द्वितीयान्तसमर्थात् 'करोति' इत्यर्थे ठक्। धर्मं चरति—द्वितीयान्तसमर्थाद् धर्मशब्दाच्चरति 'अनुतिष्ठति' इत्यर्थे ठक् स्यात्। शिल्पम्—अत्र तदस्य पण्यमित्यतस्तदस्येत्यस्य सम्बन्धो ज्ञेयः। तेन–प्रथमान्तसमर्थात् शिल्पमित्यर्थे ठक्। एवं प्रहरण–शिल्पयोरपि। निकटे वसति–अत्र तत्र नियुक्त इत्यतस्तत्रेत्यधिक्रियते, तेन–सप्तम्यन्तसमर्थान्निकटशब्दाद् वसतीत्यर्थे ठक् स्यात्।

॥ इति ठगधिकारः॥

१—द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त से 'उञ्छति' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। २—द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त से 'रक्षति' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। ३—शब्द और दुर्दर–शब्दप्रकृतिक द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त से 'करोति' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। ४–धर्मप्रकृतिक द्वितीयान्त से 'चरति' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। ५—अधर्म प्रकृतिक द्वितीयान्त से 'चरति' अर्थ में ठक् होता है। ६—प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से 'अस्य शिल्पम्' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। ७—प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से 'अस्य प्रहरणम्' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। ८—प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से 'शीलमस्य' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। ९—निकटशब्दप्रकृतिक सप्तम्यन्त समर्थ सुबन्त से 'वसति' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।

॥ इति ठगधिकारः॥



अथ प्राग्घितीयप्रकरणम्

प्राग्घिताद्यत् ४ । ४ । ७५ ॥ [1]तस्मै हितमित्यतः प्राग् यदधिक्रियते ।

[2]**तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् ४ । ४ । ७६ ॥** रथं वहति रथ्यः । युग्यः । प्रासङ्ग्यः ।

[3]**धुरो यड्ढकौ ४ । ४ । ७७ ॥** हलि चेति दीर्घे प्राप्ते—

[4]**न भकुर्छुराम् ८ । २ । ७९ ॥** भस्य कुर्छुरोश्चोपधाया इको दीर्घो न स्यात् । धुर्यः । धौरेयः ।

[5]**नौवयोधर्मविषमूलमूलसीतातुलाभ्यस्तार्यतुल्यप्राप्यवध्याऽऽनाम्यसमसमितसंमितेषु ४ । ४ । ९२ ॥** नावा तार्यं नाव्यं = जलम् । वयसा तुल्यो वयस्यः । धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम् । विषेण वध्यो विष्यः । मूलेन आनाम्यं मूल्यम् । मूलेन समो मूल्यः । सीतया समितं सीत्यं क्षेत्रम् । तुलया संमितं तुल्यम् ।

[6]**तत्र साधुः ४ । ४ । ९८ ॥** अग्रे साधुः अग्र्यः । सामसु साधुः सामन्यः । ये चाभावकर्मणोरिति प्रकृतिभावः । कर्मण्यः । शरण्यः ।

[7]**सभाया यः ४ । ४ । १०५ ॥** सभ्यः । ❀इति यतोऽवधिः ।

॥ इति प्राग्घितीयाः ॥

तद्वहतीति—द्वितीयान्तसमर्थेभ्यो रथयुगप्रासङ्गशब्देभ्यो 'वहति' इत्यर्थे यत् स्यात् । **युग्यः**—युग वहतीति विग्रहे द्वितीयान्तयुगशब्दाद्यकि तद्वहतिरथयुगेति सूत्रेण यत् प्रत्यये तकारलोपे, प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुकि मत्वाद्यचि भमिति गकारोत्तरवर्त्यकारस्य लोपे प्रातिपदिकसंज्ञाया विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः । धुरं वहति इति धुर्यः । **नौवय इति**—नावादिभ्योऽष्टभ्यस्तार्यादिष्वर्थेषु यत् । **तत्र साधुः**—सप्तम्यन्तसमर्थात् 'साधुः' इत्यर्थे यत् । कर्मणि साधुः 'कर्मण्यः' इत्यादि । **सभाया यः**—सप्तम्यन्तसमर्थात् सभाशब्दात्साधुः इत्यर्थे यः स्यात् ॥ इति प्राग्घितीयाः ॥

१—'तस्मै हितम्' सूत्र से पूर्वतक 'यत्' प्रत्यय का अधिकार होता है । २—रथ, युग, या प्रासङ्ग-शब्दप्रकृतिक द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त से 'वहति' अर्थ मे यत् प्रत्यय होता है । ३—धुर्-शब्दप्रकृतिक द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त से 'वहति' अर्थ में यत् एवं ढक् प्रत्यय होता है । ४—भसंज्ञक को तथा कुर् या छुर् की उपधाभूत इक् को दीर्घ नहीं होता है । ५—नौ, वयस् आदि (सूत्रोक्त) तत्तत्-शब्दप्रकृतिक तृतीयान्त समर्थ सुबन्त से तार्य, तुल्य-आदि (सूत्रोक्त) अर्थों में यत् प्रत्यय होता है । ६—सप्तम्यन्त समर्थ सुबन्त से 'साधु' (कुशल चतुर) अर्थ में यत् प्रत्यय होता है । ७—सभा शब्दप्रकृतिक सप्तम्यन्त समर्थ सुबन्त से साधु अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ॥ इति प्राग्घितीयप्रकरणम् ॥

अथ छयतोरधिकारप्रकरणम्

[1]प्राक् क्रीताच्छः ५ । १ । १ ॥ तेन क्रीतमित्यतः प्राक् छोऽधिक्रियते ।

[2]उगवादिभ्यो यत् ५ । १ । २ ॥ प्राक् क्रीतादित्येव । उवर्णान्ताद् गवादिभ्यश्च यत् स्यात् । छस्यापवादः । शङ्कवे हितं शङ्कव्यं दारु । गव्यम् ।

❀[3]नाभि नभं च । नभ्योऽञ्जनम् ।

[4]तस्मै हितम् ५ । १ । ५ ॥ वत्सेभ्यो हितो वत्सीयो गोधुक् ।

[5]शरीरावयवाद्यत् ५ । १ । ६ ॥ दन्त्यम् । कण्ठ्यम् । नस्यम् ।

[6]आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः ५ । १ । ९ ॥

आत्माध्वानौ खे ६ । ४ । १६९ ॥ [7]एतौ खे प्रकृत्या स्तः । आत्मने हितम् आत्मनीनम् । विश्वजनीनम् । मातृभोगीणः ।

॥ इति छयतोः पूर्णोऽवधिः (इति प्राक्क्रीतीयः) ॥ १ ॥

अथ ठञधिकारप्रकरणम्

[8]प्राग्वतेष्ठञ् ५ । १ । १८ ॥ [8]तेन तुल्यमिति वतिं वक्ष्यति ततः प्राक् ठञधिक्रियते ।

शङ्कव्यम्—शङ्कवे हितमिति विग्रहे 'उगवादिभ्यो यत्' इति यति, तकारलोपे भसंज्ञायां 'ओर्गुणः' इति गुणे, वान्तो यि-इति वान्तादेशे, प्रातिपदिकसंज्ञायां विभक्तिकार्ये च कृते 'शङ्कव्यम्' इति ।

तस्मै हितम्—चतुर्थ्यन्तसमर्थात् 'हितम्' इत्यर्थे छः (उवर्णान्ताद् गवादिभ्यश्च तु यत्) इति । शरीरावयवेति–चतुर्थ्यन्तसमर्थात् शरीरवयवात् 'हितम्' इत्यर्थे यत् प्रत्ययः । दन्तेभ्यो हितम् दन्त्यम् इत्यादि । आत्मनेति–चतुर्थीसमर्थात् आत्मन् विश्वजननोगोत्तरपदात् 'हितम्' इत्यर्थे खः स्यात् ॥ इति छयतोरधिकारप्रकरणम् ॥

१—'तेन क्रीतम्' सूत्र से पूर्व तक छ प्रत्यय का अधिकार है । २—तेन क्रीतम् से पूर्व उवर्णान्त या गवादिगणपठित जो शब्द, तत्प्रकृतिक चतुर्थ्यन्त समर्थ सुबन्त से 'हित' अर्थ में यत् प्रत्यय होता है । ३—नाभि शब्द को नभ आदेश भी होता है । ४—चतुर्थ्यन्त समर्थ सुबन्त से हित अर्थ में छ प्रत्यय होता है । ५—शरीरावयववाचक शब्दप्रकृतिक समर्थ सुबन्तसे हित अर्थ में य प्रत्यय होता है । ६—आत्मन्, विश्वजन या भोग शब्द उत्तरपद हो जिसका ऐसे प्रातिपदिक प्रकृतिक चतुर्थ्यन्त समर्थ सुबन्त से हित अर्थ में ख प्रत्यय होता है । ७–ख प्रत्यय पर हो तो आत्मन् तथा अध्वन् शब्द प्रकृति से ही रहते हैं (अर्थात् टि का लोप आदि नहीं होता) ॥ इति छयतोरधिकारप्रकरणम् ॥

८—'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' सूत्र से पूर्व तक ठञ् प्रत्यय का अधिकार है ।

[1]तेन क्रीतम् ५ । १ । १७ ॥ सप्तत्या क्रीतं साप्ततिकम् । प्रास्थिकम् ।

[2]सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ ५ । १ । ४१॥ [3]तस्येश्वरः ५ । १ । ४२॥ सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ स्तः । ❀ [4]अनुशतिकादीनां च । सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः । पार्थिवः ।

[5]पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम् ५। १ । ५९ ॥ एते रूढिशब्दा निपात्यन्ते ।

[6]तदर्हति ५ । १ । ६३ ॥ लब्धुं योग्यो भवतीत्यर्थे द्वितीयान्ताट्ठञादयः स्युः । श्वेतच्छत्रमर्हति श्वैतच्छत्रिकः ।

[7]दण्डादिभ्यो यत् ५ । १ । ६६ ॥ एभ्यो यत्स्यात् । दण्ड्यः । अर्घ्यः । वध्यः ।

[8]तेन निर्वृत्तम् ५ । १ । ७९ ॥ अह्ना निर्वृत्तम् आह्निकम् ।

॥ इति ठञोऽवधिः (इति प्राग्वतीयाः) ॥ १० ॥

तेन क्रीतम्—तृतीयान्तसमर्थात् 'क्रीतम्' इत्यर्थे ठञ् स्यात् । प्रस्थेन प्रस्थपरिमाणेन धान्येन क्रीतं प्रास्थिकम् । सर्वभूमि तथा तस्येश्वरः—इति सूत्रयोरर्थः—षष्ठयन्ताभ्यां सर्वभूमिपृथिवीशब्दाभ्यां 'ईश्वरः' इत्यर्थेऽणञौ स्तः । पङ्क्ति शब्दोऽनेकार्थः, छन्दोभेदक्रमसन्निवेशे दशसंख्यायाञ्चेत्यादि । अत्र पञ्चन् शब्दस्य टिलोपः, तिप्रत्ययः, चोः कुरिति कुत्वम् । द्वौ दश तौ परिमाणमस्येति विग्रहे विंशतिः, अत्र प्रकृतेर्विनादेशश्शतिप्रत्ययोऽपदत्वञ्च निपात्यते । नस्यानुस्वारः । एवमग्रेऽपि । इदमत्र ध्येयम् (विंशत्याद्याः सदैकत्वे) विंशत्याद्याः संख्यायां संख्येये चैकवचनान्ताः । विंशतिर्गावः गवां विंशतिरित्यादि । दण्डादिभ्यो यत्—द्वितीयान्तसमर्थेभ्यो दण्डादिभ्यो 'अर्हति' इत्यर्थे यत् । आह्निकमित्यत्राल्लोपोऽनः इत्यकारलोपः ।

॥ इति ठञधिकारप्रकरणम् ॥

१—तृतीयान्त समर्थ सुबन्त से क्रीत अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है । २—सर्वभूमि तथा पृथिवीशब्दप्रकृतिक षष्ठयन्त समर्थ सुबन्त से अण्, अञ् प्रत्यय होते हैं । ३—षष्ठयन्त—समर्थ सुबन्त से ईश्वर अर्थ में अण्, अञ् प्रत्यय होते हैं । ४—अनुशतिकादिगणपठित शब्दों को उभयपदवृद्धि होती है । ५—पंक्ति, विंशति आदि (सूत्रोक्त) शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं । ६—द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त से 'लब्धुं योग्यो भवति' इस अर्थ में ठञ् आदि प्रत्यय होते हैं । ६—दण्डादि-गणपठित शब्दप्रकृतिक समर्थ सुबन्त से यत् प्रत्यय होता है । ८—कालवाचकतृतीयान्त समर्थ सुबन्त से निवृत्त 'सिद्ध, तैयार' अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ।

॥ इति ठञधिकारः ॥



अथ त्वतलाधिकारप्रकरणम्

[1]तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ५ । १ । ११५ ॥ ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मणवदधीते । क्रिया चेदिति किम् ? गुणतुल्ये मा भूत् । पुत्रेण तुल्यः स्थूलः ।

[2]तत्र तस्येव ५ । १ । ११६ ॥ मथुरायामिव मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः । चैत्रस्येव चैत्रवन्मैत्रस्य गात्रः ।

[3]तस्य भावस्त्वतलौ ५ । १ । ११९ ॥ प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः । गोर्भावो गोत्वम्, गोता । [4]त्वान्तं क्लीबम् ।

[5]आ च त्वात् ५ । १ । १२० ॥ 'ब्रह्मणस्त्व' इत्यतः प्राक् त्वतलावधिक्रियेते । अपवादैः सह समावेशार्थमिदम् । चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि समावेशार्थः । स्त्रिया भावः स्त्रैणम् । स्त्रीत्वम् । स्त्रीता । पौंस्नम् । पुंस्त्वम् । पुंस्ता ।

[6]पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा ५ । १ । १२२ ॥ वा वचनमणादिसमावेशार्थम् ।

[7]र ऋतो हलादेर्लघोः ६ । ४ । १६१ ॥ हलादेर्लघोर्ऋकारस्य रः स्यादिष्ठेमेयस्सु परतः । [8]पृथुमृदुभृशकृशदृढपरिवृढानामेव रत्वम् ।

[9]टेः ६ । ४ । १५५ ॥ भस्य टेर्लोपः स्यादिष्ठेमेयस्सु । पृथोर्भावः प्रथिमा ।

अपवादैः सहेत्यादि—अयम्भावः । भावार्थप्रत्ययप्रकरणेऽग्रे इमनिजादयः प्रत्ययाः विधीयन्ते, ते च त्वतलोर्बाधका न भवेयुरित्यधिकारसूत्रम् । 'स्त्रीपुंसाभ्याम्–' इति सूत्रविहिताभ्यां नञ्स्नञ्भ्यां सह त्वतलोः प्रयोगसमावेशार्थश्चकारः । **स्त्रैणम्**–स्त्रियो भाव इति विग्रहे तस्य भावस्त्वतलौ इति प्राप्तौ त्वतलौ प्रबाध्य 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ–' इति नञि नकारलोपे, आदिवृद्धौ, प्रातिपदिकसंज्ञायां विभक्तिकार्ये च कृते 'स्त्रैणम्' इति । **प्रथिमा**—पृथोर्भाव इति विग्रहे पृथु अस् इत्यस्मात्

१—तृतीयान्त समर्थ सुबन्त से 'तुल्य' अर्थ में वति प्रत्यय होता है, किन्तु जिससे तुल्य हो वह यदि क्रिया हो तब । २—सप्तम्यन्त या षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से इव अर्थ में वति प्रत्यय होता है । ३—षष्ठयन्त समर्थ सुबन्त से भाव अर्थ में त्व तथा तल् प्रत्यय होते हैं । ४—त्व प्रत्ययान्त नपुंसकलिङ्ग होता है (तथा तल् प्रत्ययान्त स्त्री लिङ्ग होता है) । ५—'ब्रह्मणस्त्वः' सूत्र के पूर्व तक त्व-तल् प्रत्यय का अधिकार जाता है । ६—पृथ्वादिगण पठित षष्ठयन्त समर्थ सुबन्त से भाव अर्थ में इमनिच् प्रत्यय विकल्प से होता है । ७—इष्ठन्, इमनिच् या ईयसुन् प्रत्यय पर हो तो हलादि लघु ऋकार को र भाव होता है । ८—पृथु, मृदु, भृश, कृश, दृढ, परिवृढ-शब्दों के ही लघु ऋकार को र-भाव होता है । ९—इष्ठन्, इमनिच्, ईयसुन् प्रत्यय पर हो तो भसंज्ञक टि का लोप होता है ।

[1]**इगन्ताच्च लघुपूर्वात्** ५ । १ । १३१ ॥ इगन्ताल्लघुपूर्वात् प्रातिपदिकाद्भावेऽण् प्रत्ययः । पार्थवम् । म्रदिमा । मार्दवम् ।

[2]**वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च** ५ । १ । १२३ ॥ चादिमनिच् । शौक्ल्यम् । शुक्लिमा । दार्ढ्यम् । द्रढिमा ।

[3]**गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** ५ । १ । १२४ ॥ चाद्भावे । जडस्य भावः कर्म वा जाड्यम् । मूढस्य भावः कर्म वा मौढ्यम् । ब्राह्मण्यम् । आकृतिगणोऽयम् ।

[4]**सख्युर्यः** ५ । १ । १२६ ॥ सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् ।

[5]**कपिज्ञात्योर्ढक्** ५ । १ । १२७ ॥ कापेयम् । ज्ञातेयम् ।

[6]**पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्** ५ । १ । १२८ ॥ सैनापत्यम् पौरोहित्यम् ।

॥ इति त्वतलोरधिकारः ॥ ११ ॥

पृथ्वादिभ्य इमनिज्वेति विकल्पेनेमनिच्प्रत्यये, प्रातिपदिकत्वाद् विभक्तेर्लुकि, र ऋतो हलादेर्लघोरिति ऋकारस्य रकारादेशे, टेरिति टेर्लोपे, प्रातिपदिकसंज्ञायां विभक्तिकार्ये च कृते 'प्रथिमा' इति । पक्षे 'इगन्ताच्च लघुपूर्वाद्' इत्यञ् प्रत्यये आदिवृद्धौ यथाप्राप्तकार्ये च '**पार्थवम्**' इति । त्वप्रत्यये 'पृथुत्वम्' इति । तल्-प्रत्यये 'पृथुता' इति । **वर्णदृढादिभ्य इति**—षष्ठयन्तसमर्थेभ्यो वर्णवाचिभ्यो दृढादिभ्यश्च 'भावः' इत्यर्थे ष्यञ् प्रत्ययः, चादिमनिच्च स्यात् । **सख्युर्यः**—षष्ठचन्तात्सखिशब्दाद् भावकर्मणोरर्थयोर्ढक् स्यात् ।

पत्यन्तेति—षष्ठयन्तेभ्यः पत्यन्तशब्देभ्यः पुरोहितादिशब्देभ्यश्च भावकर्मणोरर्थयोर्ढक् स्यात् । **सैनापत्यम्**—सेनापतेर्भावः कर्म वेति विग्रहे सेनापति अस् इत्यस्मात् 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' इति यकि ककारलोपे, प्रातिपदिकत्वात्सुपो लुकि भसंज्ञायां यस्येति चेति तकारोत्तरवर्त्यकारस्य लोपे, किल्वादाद्यचो वृद्धौ प्रातिपदिकसंज्ञायां सुबुत्पत्तौ, विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः ॥ **इति त्वतलोरधिकारः** ॥

१—लघु हो पूर्व में जिसके ऐसे इगन्त प्रातिपदिक से भाव-अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । २-वर्णवाचक तथा दृढ़ादिगणपठित शब्द-प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से ष्यञ् प्रत्यय होता है, चकारात् इमनिच् प्रत्यय भी होता है । ३—गुणवाचक शब्द तथा ब्राह्मणादिगणपठित शब्दप्रकृतिक षष्ठयन्त समर्थ सुबन्त से कर्म तथा भाव अर्थ में भी ष्यञ् प्रत्यय होता है । ४—सखिशब्दप्रकृतिक षष्ठयन्त समर्थ सुबन्त से कर्म एवं भाव अर्थ में य प्रत्यय होता है । ५—कपि तथा ज्ञाति शब्द प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से भाव तथा कर्म अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है । ६—पति शब्द हो अन्त में जिसके ऐसे शब्द तथा पुरोहितादि गणपठित शब्द-प्रकृतिक समर्थ सबन्त से भाव तथा कर्म अर्थ में यक प्रत्यय होता है ॥ इति त्वतलोरधिकारः ॥

अथ भवनाद्यर्थकप्रकरणम्

[1]धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ५ । २ । १ ॥ भवत्यस्मिन्निति भवनम् । मुद्गानां क्षेत्रं मौद्गीनम् ।

[2]व्रीहिशाल्योर्ढक् ५ । २ । २ ॥ व्रैहेयम् । शालेयम् ।

हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् ५ । २ । २३ ॥ [3]ह्योगोदोहशब्दस्य हियंगुरा-देशो विकरार्थे खञ्च निपात्यते । दुह्यते इति दोहः क्षीरम् । ह्योगोदोहस्य विकार हैयङ्गवीनं नवनीतम् ।

[4]तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् ५ । २ । ३६ ॥ तारकाः सञ्जाता अस्य तारकितं नभः । पण्डितः । आकृतिगणोऽयम् ।

[5]प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः ५ । २ । ३७ ॥ तदस्येत्यनुवर्त्तते । ऊरू प्रमाणमस्य ऊरुद्वयसम् । ऊरुदघ्नम् । ऊरुमात्रम् ।

[6]यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् ५ । २ । ३९ ॥ यत्परिमाणमस्य यावान् । तावान् । एतावान् ।

[7]किमिदम्भ्यां वो घः ५ । २ । ४० ॥ आभ्यां वतुप् स्याद्वकारस्य घश्च ।

धान्यानामिति—षष्ठयन्ताद् धान्यवाचिशब्दाद् 'भवनम्-क्षेत्रम्' इत्यर्थे खञ् स्यात् । व्रीहि०—षष्ठयन्तसमर्थव्रीहिशालिशब्दाभ्यां भवनम्—क्षेत्रम् इत्यर्थे ढक् स्यात् । तदस्य संजातमिति—प्रथमान्तेभ्यः संजातोपाधिकेभ्यः तारकादिशब्देभ्योऽस्येत्यर्थे 'इतच्' स्यात् । सदसद्विवेकिनी बुद्धिः पण्डा । पण्डा संजाताऽस्येति पण्डितः । एवं लज्जितः, पुष्पितः, तृषितः, पुलकितः, फलितः—इत्यादि । प्रमाणे इति—प्रमाणे वर्तमानात्प्रथमान्तादस्तीति निर्दिष्टे प्रमेयेऽर्थे द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रच् प्रत्ययाः स्युः ।

१—धान्यवाचक षष्ठयन्त समर्थ सुबन्त से 'भवन क्षेत्र' 'होने योग्य खेत' अर्थ में खञ् प्रत्यय होता है । २—व्रीहि तथा शालि शब्द प्रकृतिक षष्ठयन्त समर्थ सुबन्त से 'भवन क्षेत्र' अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है । ३—संज्ञा में 'हैयङ्गवीन' शब्द साधु होता है अर्थात् ह्योगोदोह शब्द को 'ह्नियङ्गु' आदेश होता है और विकार अर्थ में खञ् प्रत्यय भी होता है । ख को ईन हो जाता है और ञित्वादादि अच् को वृद्धि हो जाती है । इस प्रकार 'हैयंगवीनम्' रूप की सिद्धि होती है । ४—तारकादिगणपठित शब्दप्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से 'अस्य सञ्जातम्' अर्थ मे इतच् प्रत्यय होता है । ५—प्रथमान्तसमर्थ सुबन्त से 'अस्य प्रमाणम्' अर्थ में द्वयसच्, दघ्नञ्, मात्रच् प्रत्यय होते हैं । ६—यत्, तत् या एतत् शब्दप्रकृतिक समर्थ सुबन्त से अस्य परिमाणम्' अर्थ में वतुप् प्रत्यय होता है । ७—किम् और इदम् शब्द से वतुप् प्रत्यय होता है और व को घ होता है ।

[1]इदंकिमोरीश्की ६ । ३ । ९० ॥ दृग्दृशवतुषु इदम ईश् किमः की स्यात् । इयान् । कियान् । [ईदृक्, ईदृशः । कीदृक्, कीदृशः—आदि] ।

[2]संख्याया अवयवे तयप् ५ । २ । ४२ ॥ पञ्च अवयवा अस्य पञ्चतयम् ।

[3]द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा ५।२।४३ ॥ द्वयम् । द्वितयम् । त्रयम् । त्रितयम् ।

[4]उभादुदात्तो नित्यम् ५ । २ । ४४ ॥ उभशब्दात्तयपोऽयच् स्यात्स चोदात्तः । उभयम् ।

[5]तस्य पूरणे डट् ५ । २ । ४८ ॥ एकादशानां पूरण एकादशः ।

नान्तासंख्यादेर्मट् ५ । २ । ४९ ॥ [6]डटो मडागमः । पञ्चानां पूरणः पञ्चमः । नान्तात्किम् ?

[7]ति विंशतेर्डिति ६ । ४ । १४२ ॥ विंशतेर्भस्य तिशब्दस्य लोपो डिति परे । विंशः । असंख्यादेः किम् ? एकादशः ।

आद्यौ द्वौ 'ऊर्ध्वमाने', अन्तिमः परिच्छेदकमात्रे इति विशेषः । इयान्-इदम्परिमाण-मस्येति विग्रहे किमिदम्भ्यामिति वतुपि, वस्य घत्वे च कृते, आयनेयीति घस्येयादेशे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, उगिदचामिति नुमागमेऽनुबन्धलोपे, इदं किमोरिति ईशादेशे, शलोपे, भत्वेन यस्येति चेतीकारलोपे, उपधादीर्घे, तकारस्य संयोगान्तलोपे इयान् सु इति स्थिते, हल्ङ्यादिना सोर्लोपे 'इयान्' इति । संख्यायाः इति । अवयवे वर्तमाना-त्संख्यावाचकात्प्रथमान्तादवयविन्यर्थे तयप् । तस्य पूरणे डट्—संख्येयार्थवाचि-संख्यावाचकात् प्रथमान्तात्पूरणेऽर्थे डट् स्यात् । विंशः—'विंशतेः पूरणः' इति विग्रहे 'तस्य पूरणे' इति डटि, 'ति विंशतेः—' इति लोपविधानसामर्थ्येन तिमात्रस्य लोपे 'विंश अ' इति स्थिते 'असिद्धवदत्राभात्' इति तिलोपस्यासिद्धत्वाद् यस्येति चेति लोपाप्रवृत्तौ, 'अतो गुणे' इत्यकारयोः पररूपे, प्रातिपदिकत्वेन सु-आदि-विभ-क्तिकार्ये कृते 'विंशः' इति ।

१—दृग्, दृश, या वतु पर हो तो इदम् को 'ईश्' तथा किम् को 'की' आदेश होता है । २—सङ्ख्यावाचक शब्दप्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से 'अवयवाः अस्य' इस अर्थ में तयप् प्रत्यय होता है । ३—द्वि या त्रि शब्द से विहित जो तयप् प्रत्यय उसको विकल्प से अयच् आदेश होता है । ४—उभयशब्दप्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से विहित तयप् को अयच् आदेश होता है, और वह उदात्त संज्ञक होता है । ५—षष्ठयन्त समर्थ सुबन्त से पूरण अर्थ में डट् प्रत्यय होता है । ६—जिसके आदि 'पूर्व' में कोई 'अन्य' संख्या नहीं हो ऐसे नकारान्त संख्यावाची शब्द से परे जो डट् उसको मट् का आगम होता है । ७—डित् परे रहते भसंज्ञक विंशति शब्द के ति का लोप होता है ।

[1]षट्कतिकतिपयचतुरां थुक् ५ । २ । ५१ ॥ एषां थुगागमः स्माड्डटि । षण्णां पूरणः षष्ठः । कतिथः । कतिपयशब्दस्याऽसङ्ख्यात्वेऽप्यत एव ज्ञापकाड्डट् । कतिपयथः । चतुर्थः ।

[2]द्वेस्तीयः ५ । २ । ५४ ॥ डटोऽपवादः । द्वयोः पूरणो द्वितीयः ।

[3]त्रेः सम्प्रसारणं च ५ । २ । ५५ ॥ तृतीयः ।

[4]श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते ५ । २ । ८४ ॥ श्रोत्रियः । वेत्यनुवृत्तेः—छान्दसः ।

[5]पूर्वादिनिः ५ । २ । ८६ ॥ पूर्वं कृतमनेन पूर्वी ।

[6]सपूर्वाच्च ५ । २ । ८७ ॥ कृतपूर्वी ।

[7]इष्टादिभ्यश्च ५ । २ । ८८ ॥ इष्टमनेन इष्टी । अधीती ।

॥ इति भवनाद्यर्थकाः ॥ ११ ॥

अथ मत्वर्थीयप्रकरणम्

[8]तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ५ । २ । ९४ ॥ गावोऽस्याऽस्मिन्वा सन्ति गोमान् ।

कतिपयेति—अयम्भावः—षट्कतिपयेति डटस्थुगागमः क्रियते । तथा डट् च संख्यावाचकशब्दादेव भवति । कतिपयशब्दस्तु न संख्यावाचक इति कुतः प्रवृत्तिरित्यत आह- कतिपयेत्यादि । एवञ्च ज्ञापकादेव डटि तस्य थुगागमे च कृते 'कतिपयथः' इति ।

कृतपूर्वी—अविवक्षितकर्मकात्कृधातोर्भावे क्त प्रत्यये पूर्वं कृतमनेनेति विग्रहे, सह सुपेति समासोत्तरं सपूर्वाच्चेतीनिप्रत्यये, यथाप्राप्तकार्ये च कृते तत्सिद्धिः । एवं कथितपूर्वी, श्रुतपूर्वी इत्यादयः ।

तदस्यास्त्यस्मिन्निति—सत्ताक्रियाकर्तृभूतात्प्रथमान्तात्समर्थाद् 'अस्यास्मिन्वा' इत्यर्थे मतुप् स्यात् ।

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥

१—षट्, कति, कतिपय और चतुर् शब्द को थुक् का आगम होता है डट् परे हो तो । २—द्वि-शब्द-प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ से पूरण अर्थ में तीय प्रत्यय होता है । ३—त्रि-शब्द-प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से पूरण अर्थ में तीय प्रत्यय होता है और त्रि को सम्प्रसारण भी होता है । ४—'छन्दोऽधीते' 'वेद पढ़ता है' अर्थ में 'श्रोत्रिय' निपातन होता है । ५—पूर्व शब्द प्रकृतिक द्वितीयान्त क्रियाविशेषण से 'इनि' प्रत्यय होता है । ६—सपूर्व 'पूर्व में कोई शब्द हो ऐसा' जो पूर्व शब्द उससे भी इनि प्रत्यय होता है । ७—इष्टादि-
17 शब्दप्रकृतिक समर्थ सुबन्त से 'इनि' प्रत्यय होता है ॥ इति भवनाद्यर्थकाः ॥

८—प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से 'अस्यास्ति' तथा 'अस्मिन्नस्ति' अर्थ में मतुप् प्रत्यय होता है ।

[1]**तसौ मत्वर्थे १ । ४ । १९ ॥** तान्तसान्तौ भसंज्ञौ स्तो मत्वर्थे प्रत्यये परे । गरुत्मान् । वसोः सम्प्रसारणम् । विदुष्मान् । ॐ[2]**गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः** । शुक्लो गुणोऽस्यास्तीति शुक्लः पटः । कृष्णः ।

[3]**प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् ५ । २ । ९६ ॥** चूडालः । चूडावान् । प्राणिस्थात्किम् ? शिखावान् दीपः । प्राण्यङ्गादेव । नेह–मेधावान् ।

[4]**लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः ५ । २ । १०० ॥** लोमादिभ्य. शः । लोमशः । लोमवान् । रोमशः । रोमवान् । पामादिभ्यो नः । पामनः । [5]**अङ्गात्कल्याणे** । अङ्गना । [6]**लक्ष्म्या अच्च** । लक्ष्मणः । पिच्छादिभ्य इलच् । पिच्छिलः । पिच्छवान् । उरसिलः । उरस्वान् ।

[7]**दन्त उन्नत उरच् ५ । २ । १०६ ॥** उन्नता दन्ताः सन्त्यस्य दन्तुरः ।

[8]**केशाद्वोऽन्यतरस्याम् ५ । २ । १०९ ॥** केशवः । केशी । केशिकः । केशवान् । [9]**अन्येभ्योऽपि दृश्यते** । मणिवः । [10]**अर्णसो लोपश्च** । अर्णवः ।

[11]**अत इनिठनौ ५ । २ । ११५ ॥ दण्डी । दण्डिकः ।**

[12]**व्रीह्यादिभ्यश्च ५ । २ । ११६ ॥** व्रीही । वीहिकः ।

प्राणिस्थेति—सत्ताक्रियाकर्मभूतादाकारान्तात्प्राण्यङ्गवाचकाल्लज्वा स्यात् । **लक्ष्मणः**–लक्ष्मीशब्दस्याकारादेशो 'न' प्रत्ययश्च । मत्वर्थे लक्ष्मीवान् । **दन्त उन्नत उरच्**—उन्नतोपाधिकात्प्रथमान्ताद्दन्तशब्दान्मतुबर्थे उरच् स्यात् । **अर्णसो**—अर्णःशब्दाद् 'व' प्रत्ययः सस्य लोपश्च मत्वर्थे । अर्णांसि जलानि सन्त्यस्मिन्नित्यर्णवः" ।

१—मत्वर्थ प्रत्यय पर हो तो तान्त सान्त की भसंज्ञा होती है । २—गुणवाचक शब्द से विहित मतुप् प्रत्यय का लुक् 'लोप' हो जाता है । ३—प्राणिस्थ आकारान्त शब्दप्रकृतिक प्रथमान्त से 'अस्यास्ति' अर्थ में लच् प्रत्यय विकल्प से होता है । ४–लोमादिगणपठित शब्द-प्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से 'श' प्रत्यय तथा पामादि से 'न' प्रत्यय एवं पिच्छादि से इलच् प्रत्यय होते हैं । ५—अङ्ग शब्द से कल्याण अर्थ में 'न' प्रत्यय होता है । ६—लक्ष्मी शब्द को अकार अन्तादेश तथा चकारात् 'न' प्रत्यय भी होता है । ७—दन्त शब्द प्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से उन्नत अर्थ मे उरच् प्रत्यय होता है । ८—केशशब्द-प्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से 'व' प्रत्यय विकल्प से होता है । ९—अन्य शब्दों से भी 'व' प्रत्यय होता है । १०—अर्णस् शब्द से 'व' प्रत्यय होता है और अन्त्य अल् का लोप भी होता है । ११—अदन्त शब्दप्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से इनि तथा ठन् प्रत्यय होता है । १२—व्रीह्यादि गणपठित शब्दप्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से इनि और ठन् प्रत्यय होता है ।

[1]अस्मायामेधास्रजो विनिः ५ । २ । १२१ ॥ यशस्वी । यशस्वान् । मायावी । मेधावी । स्रग्वी ।

[2]वाचो ग्मिनिः ५ । २ । १२४ ॥ वाग्मी ।

[3]अर्शआदिभ्योऽच् ५ । २ । १२७ ॥ अर्शांस्यस्य विद्यन्ते अर्शसः । आकृतिगणोऽयम् ।

[4]अहंशुभमोर्युस् ५ । २ । १४० ॥ अहंयुः अहङ्कारवान् । शुभंयुस्तु शुभान्वितः । ॥ इति मत्वर्थीयाः ॥ १२ ॥

अथ प्राग्दिशीयप्रकरणम्

[5]प्राग्दिशो विभक्तिः ५ । ३ । १ ॥ 'दिक्शब्देभ्य' इत्यतः प्राग्वक्ष्यमाणाः प्रत्यया विभक्तिसंज्ञाः स्युः ।

[6]किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः ५ । ३ । २ ॥ किमः सर्वनाम्नो बहुशब्दाच्चेति प्राग्दिशोऽधिक्रियते ।

[7]पञ्चम्यास्तसिल् ५।३।७ ॥ पञ्चम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यस्तसिल्वा स्यात् ।

[8]कु तिहोः ७ । २ । १०४ ॥ किमः कुः स्यात्तादौ हादौ च विभक्तौ परतः । कुतः । कस्मात् ।

वाच इति—वाचो ग्मिनिः स्यान्मत्वर्थे । इकारो नकाररक्षार्थः । चकारस्य कुत्वे जश्त्वे च कृते "वाग्मी" इति । एतस्य सर्वप्रयोगे द्वयोर्गकारयोः श्रवणं भवतीति । द्वित्वे कृते तु त्रयाणामिति विशेषः (अत्र मतभेदश्च वर्तते विस्तरभयान्न प्रकाश्यते) । कुतः—कस्मादिति विग्रहे 'किम् ङसि' इति दशायां 'पञ्चम्यास्तसिल्' इति तसिलप्रत्यये, तद्धितान्तत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सुपो धातुरिति सुपो लुकि, 'कु तिहोः' इति किमः कुभावे कृते, स्वरादौ पाठेन तसिलन्तस्याव्ययत्वेन तद्धितान्तादागतस्य सुपो लुकि, ङसः सकारस्य रुत्वादिकार्ये कृते 'कुतः' इति ।

१—असन्त-शब्द तथा माया, मेधा एवं स्रज-शब्दप्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से 'विनि' प्रत्यय होता है । २—वाच्-शब्दप्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से 'ग्मिनि' प्रत्यय होता है । ३—अर्शस्-आदि गणपठित शब्दप्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से अच् प्रत्यय होता है । ४—अहं तथा शुभं-शब्दों से युस् प्रत्यय होता है ॥ इति मत्वर्थीयाः ॥

५—दिक्शब्देभ्यः' सूत्र से पूर्व आगे कहे जानेवाले प्रत्यय विभक्तिसंज्ञक होते हैं । ६—'किंसर्वनाम—' इस सूत्र का अधिकार 'दिक्शब्देभ्यः' से पूर्व तक जाता है । ७—द्व्यादिभिन्न कि, सर्वनाम, बहुशब्द प्रकृतिक पञ्चम्यन्त से तसिल् प्रत्यय विकल्प से होता है । ८—तादि या हादि विभक्तिसंज्ञक प्रत्यय पर हो तो किम् शब्द को 'कु' आदेश होता है ।

[1]इदम इश् ५ । ३ । ३ ॥ प्राग्दिशीये परे । इतः ।

[2]अन् ५ । ३ । ५ ॥ एतदः प्राग्दिशीये । अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः । अतः । अमुतः । यतः । ततः । बहुतः । द्व्यादेस्तु द्वाभ्याम् ।

[3]पर्यभिभ्यां च ५ । ३ । ९ ॥ आभ्यां तसिल् स्यात् । परितः । सर्वत इत्यर्थः । अभितः । उभयत इत्यर्थः ।

[4]सप्तम्यास्त्रल् ५ । ३ । १० ॥ कुत्र । यत्र । तत्र । बहुत्र ।

[5]इदमो हः ५ । ३ । ११ ॥ त्रलोऽपवादः । इह ।

[6]किमोऽत् ५ । ३ । १२ ॥ वा ग्रहणमपकृष्यते । सप्तम्यन्तात्किमोऽद्वा स्यात् । पक्षे त्रल् ।

[7]क्वाऽति ७ । २ । १०५ ॥ किमः क्वादेशः स्यादति । क्व । कुत्र ।

[8]इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते ५ । ३ । १४ ॥ पञ्चमीसप्तमीतरविभक्त्यन्तादपि तसिलादयो दृश्यन्ते । दृशिग्रहणाद्भवदादियोग एव । स भवान् । ततो भवान् । तत्र भवान् । तं भवन्तम् । ततो भवन्तम् । तत्र भवन्तम् । एवं दीर्घायुः । देवानां प्रियः । आयुष्मान् ।

[9]सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा ५ । ३ । १५ ॥ सप्तम्यन्तेभ्यः कालार्थेभ्यः स्वार्थे दा स्यात् ।

'अस्मात्' इति इतः । अन्–एतदः स्थाने 'अन्' इत्यादेशः प्राग्दशीये परे । अतः–अत्र अनो नस्य नलोपः प्रातिपदिकान्तस्येति लोपः । सप्तम्यास्त्रल्––सप्तम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यस्त्रल् प्रत्ययः स्यात्स्वार्थे । कस्मिन्निति कुत्र । एवं यस्मिन्, तस्मिन्, बहुषु इति क्रमेणैतेषु विग्रहः । इह–अस्मिन् देशे इति विग्रहे इदमो ह इति ह–प्रत्यये इदम इशादेशे रूपम् । क्व कुत्रेत्युभयत्रापि कस्मिन्निति विग्रहः ।

१––प्राग्दिशीय विभक्ति पर हो तो इदम् शब्द को इश् आदेश होता है । २–प्राग्दिशीय विभक्ति पर हो तो एतद्–शब्द को 'अन्' आदेश होता है । ३––परि तथा अभि शब्द से तसिल् प्रत्यय होता है । ४––द्व्यादिभिन्न किं, सर्वनाम, बहु शब्दप्रकृतिक सप्तम्यन्त से त्रल् प्रत्यय होता है । ५––इदम्–शब्दप्रकृतिक सप्तम्यन्त समर्थ से 'ह' प्रत्यय होता है । ६––किम्–शब्दप्रकृतिक सप्तम्यन्त सुबन्त से 'अत्' प्रत्यय विकल्प से होता है । ७––अत् पर हो तो किम् शब्द को 'क्व' आदेश होता है । ८––पञ्चमी एवं सप्तमी से भिन्न विभक्ति अन्त में हो जिसके उससे (प्रथमान्त, द्वितीयान्त से) भी तसिल्–आदि प्रत्यय होते (देखे जाते) हैं । ९––सर्व, एक, अन्य, किं, यद्, तद्–शब्द प्रकृतिक कालार्थक सप्तम्यन्त समर्थ सुबन्त से स्वार्थ में 'दा' प्रत्यय होता है ।

[1]**सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि ५ । ३ । ६ ॥** दादौ प्राग्दिशीये सर्वस्य सो वा स्यात् । सर्वस्मिन् काले सदा । सर्वदा । एकदा । अन्यदा । कदा । यदा । तदा । काले किम् ? सर्वत्र देशे ।

[2]**इदमो र्हिल् ५ । ३ । १६ ॥** 'सप्तम्यन्तात् काले' इत्येव ।

[3]**एतेतौ रथोः ५ । ३ । ४ ॥** इदम्शब्दस्य एत इत इत्यादेशौ स्तो रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये परे । अस्मिन्काले एतर्हि । काले किम् ? इह देशे ।

[4]**अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् ५ । ३ । २१ ॥** कर्हि । कदा । यर्हि । यदा । तर्हि । तदा ।

[5]**एतदः ५ । ३ । ५ ॥** 'एत' 'इत' एतौ स्तो रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये । एतस्मिन् काले एतर्हि ।

[6]**प्रकारवचने थाल् ५ । ३ । २३ ॥** प्रकारवृत्तिभ्यः किमादिभ्यस्थाल् स्यान् स्वार्थे । तेन प्रकारेण तथा । यथा ।

[7]**इदमस्थमुः ५ । ३ । २४ ॥** थालोऽपवादः । [8]**एतदोऽपि वाच्यः ॥** अनेन एनेन वा प्रकारेण इत्थम् ।

[9]**किमश्च ५ । ३ । २५ ॥** केन प्रकारेण कथम् ।

॥ इति प्राग्दिशीयाः ॥ १४ ॥

कदा—'कस्मिन् काले' इति विग्रहे 'सर्वैकान्य—०' इति दाप्रत्यये 'प्राग्दिशो—०' इति विभक्ति—संज्ञायां 'किमः कः' इति कादेशे रूपम् । **एतर्हि**—'अस्मिन् काले' इति विग्रहे 'इदमोर्हिल्' इति र्हिल्प्रत्यये लकारस्येत्वे लोपे च कृते सुपो लुकि 'एतेतौ रथोः' इति इदं—शब्दस्य एत आदेशे 'एतर्हि' इति । **अनद्यतन इति**—अतीतायाः रात्रेः पश्चार्द्धेनागामिन्याः पूर्वार्धेन च सहितो दिवसोऽद्यतनकालस्तद् भिन्ने र्हिल् प्रत्ययः ॥ **इति प्राग्दिशीया ॥**

१—दादि (दकारादि) प्राग्दिशीय प्रत्यय पर हों तो सर्व—शब्द को 'स' आदेश होता है । २—इदम्—शब्दप्रकृतिक सप्तम्यन्त से काल—अर्थ में र्हिल् प्रत्यय होता है । ३—रेफादि थकारादि प्राग्दिशीय विभक्ति पर हो तो इदम्—शब्द को एत, इत आदेश होते हैं । ४—अनद्यतन अर्थ में किमादि से 'र्हिल्' प्रत्यय विकल्प से होता है । ५—रेफादि या थकारादि प्राग्दिशीय विभक्ति पर हो तो एतत्—शब्द को एत, इत आदेश होते हैं । ६—प्रकारवृत्ति किमादिशब्द—प्रकृतिक सुबन्त से स्वार्थ में 'थाल्' प्रत्यय होता है । ७—इदम् शब्द से स्वार्थ में 'थमु' प्रत्यय होता है । ८—एतत्—शब्द से भी 'थमु' प्रत्यय स्वार्थ में होता है । ९—किम्—शब्द से भी स्वार्थ में 'थमु' प्रत्यय होता है ॥ इति प्राग्दिशीयाः ॥



अथ प्रागिवीयप्रकरणम्

[1]**अतिशायने तमबिष्ठनौ ५ । ३ । ५५ ॥** अतिशयविशिष्टाऽर्थवृत्तेः स्वार्थे एतौ स्तः । अयमेषामतिशयेन आढ्यः—आढ्यतमः । लघुतमः । लघिष्ठः ।

तिङश्च ५ । ३ । ५६ ॥ [2]तिङन्तादतिशये द्योत्ये तमप् स्यात् ।

तरप्तमपौ घः १ । १ । २२ ॥ [3]एतौ घसंज्ञौ स्तः ।

किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ५ । ४ । ११ ॥ [4]किम एदन्तात्तिङोऽव्ययाच्च यो घस्तन्तादामुः स्यान्नतु द्रव्यप्रकर्षे । किन्तमाम् । प्राह्णेतमाम् । पचतितमाम् । उच्चैस्तमाम् । द्रव्यप्रकर्षे तु उच्चैस्तमस्तरुः ।

द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ ५ । ३ । ५७ ॥ [5]द्वयोरेकस्याऽतिशये विभक्तव्ये चोपपदे सुप्तिङन्तादेतौ स्तः । पूर्वयोरपवादः । अयमनयोरतिशयेन लघुर्लघुतरः । लघीयान् । उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटुतराः । पटीयांसः ।

प्रशस्यस्य श्रः ५ । ३ । ६० ॥ [6]अस्य श्रादेशः स्यादजाद्योः परतः ।

प्रकृत्यैकाच् ६।४।१६३ ॥ [7]इष्ठादिष्वेकाच् प्रकृत्या स्यात् । श्रेष्ठः । श्रेयान् ।

अतिशयेति—बहुषु तुल्यरूपप्रकर्षासम्भवाद्यत्र सर्वापेक्षया प्रकर्षस्तदभिधायकस्तमबादिः । 'तरप्' विधायकसूत्रे द्वयोरिति श्रवणाद् बहूनां मध्ये एकस्मिन् प्रकर्षविवक्षायां तमबिष्ठनौ भवत इत्यर्थः । यथा—'अयमप्याढ्यः', 'अयमेषामाढ्यः' इत्यर्थे आढ्यतमः । **किन्तमाम्**—अयमेषामतिशयेन किंमिति विग्रहे किं शब्दादतिशायने तमबिष्ठनाविति तमपि 'तरप्तमपौ घः' इति तस्य घसंज्ञायां 'किमेत्तिङव्यय-०' इति 'आमुप्रत्यये', तस्मिन्परे मकारोत्तराकारस्य 'यस्येति च' इति लोपे आमोरनुबन्धलोपे स्वरादित्वादव्ययसंज्ञायां विभक्तेर्लुकि 'किन्तमाम्' इति । **प्राह्णेतमाम्**—अत्र घकालेति सप्तम्या अलुग्बोध्यः । **लघीयान्**—अयमेषामतिशयेन लघुः—इति विग्रहे 'द्विवचनविभज्योप-०' इति ईयसुन्यनुबन्धलोपे, सुपो लुकि, प्रातिपदि-

---

१—अतिशय (अत्यन्त) विशिष्टार्थवृत्ति शब्दप्रकृतिक सुबन्त से तमप् तथा इष्ठन् प्रत्यय होता है । २—अतिशय-अर्थ द्योत्य हो तो तिङन्त से भी तमप् प्रत्यय होता है । ३—तरप् तथा तमप्–प्रत्यय घ–संज्ञक होते हैं । ४—किम्–शब्द से, एदन्त से 'तिङन्त से या अव्यय से विहित जो 'घ', तदन्त से 'आम्' प्रत्यय होता है किन्तु द्रव्यप्रकर्ष (द्रव्य की उन्नति या आधिक्य) को छोड़कर । ५—दो (व्यक्तियों वा पदार्थों) में से एक का अतिशय द्योत्य होने पर तथा विभक्तव्य उपपद रहने पर सुबन्त एवं तिङन्त से तरप् और ईयसुन् प्रत्यय होता है । ६—अजादि (इष्ठन् या ईयसुन्) प्रत्यय पर हो तो प्रशस्य शब्द को 'श्र' आदेश होता है । ७—इष्ठादि प्रत्यय पर हो तो एकाच् प्रकृति से ही रहता है ।

ज्य च ५ । ३ । ६१ ॥ [1]प्रशस्यस्य ज्यादेशः स्यादिष्ठेयसोः । ज्येष्ठः ।

[2]**ज्यादादीयसः ६ । ४ । १६० ॥** आदेः परस्य । ज्यायान् ।

बहोर्लोपो भू च बहोः ६ । ३ । १५८ ॥ [3]बहोः परयोरिमेयसोर्लोपः स्याद्बहोश्च भूरादेशः । भूमा । भूयान् ।

इष्ठस्य यिट् च ६ । ४ । १५९ ॥ [4]बहोः परस्य इष्ठस्य लोपः स्यादियिडागमश्च । भूयिष्ठः ।

विन्मतोर्लुक् ५ । ३ । ६५ ॥ [5]विनो मतुपश्च लुक् स्यादिष्ठेयसोः । अतिशयेन स्रग्वी स्रजिष्ठः । स्रजीयान् । अतिशयेन त्वग्वान् त्वचिष्ठः । त्वचीयान् ।

ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः ५ । ३ । ६७ ॥ [6]ईषदूनो विद्वान् विद्वत्कल्पः । विद्वद्देश्यः । विद्वद्देशीयः । पचतिकल्पम् ।

कत्वेन सौ, 'उगिदचाम्' इति नुमागमेऽनुबन्धलोपे 'लघु ईयस्' इति स्थिते, 'टेः' इति घकारोत्तरवर्त्युकारस्य लोपे, 'अत्वसन्त–०' इति नकारस्योपधादीर्घे, सोर्लोपे, सकारस्य च संयोगान्तलोपे सिद्धं रूपम् । **श्रेष्ठः**—'अतिशयेन प्रशस्यः' इति विग्रहे अतिशायने तमबिष्ठनाविति इष्ठन्यनुबन्धलोपे, 'प्रशस्यस्य श्रः' इति श्रादेशे, टेरिति टेर्लोपे प्राप्ते प्रकृत्यैकाजिति प्रकृतिभावे, गुणे, प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ, तस्य रुत्वे विसर्गे च 'श्रेष्ठः' इति । **ज्येति**—ज्यशब्दात्परस्येयस आत् स्यात् । **ज्यायान्**—द्वयोर्मध्ये प्रशस्यो ज्यायान् । अत्र प्रशस्यशब्दात् 'द्विवचनविभज्योपपदे–' इति ईयसुन्यनुबन्धलोपे, 'ज्य च' इति प्रशस्यस्य ज्यादेशे, 'ज्यादादीयसः' इत्यादेरीकारस्यादादेशे, अकः सवर्णे दीर्घे 'ज्यायस्' इति जाते, प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ 'उगिदचाम्' इति नुम्यनुबन्धलोपे, उपधादीर्घे, हल्ङ्यादिना सोर्लोपे, सस्य संयोगान्तलोपे 'ज्यायान्' इति । **भूयिष्ठः**—'अतिशयेन बहु' इति विग्रहे 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' इत्यनेनेष्ठन्यनुबन्धलोपे, 'इष्ठस्य यिट्' इत्यनेनेष्ठनेकारलोपे यिटि च कृते, यिटो टकारलोपे, 'बहोर्लोपो भू च बहोः' इति 'भू' आदेशे, तद्धितान्तत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सौ, तस्य रुत्वे विसर्गे च 'भूयिष्ठः' इति । **ईषदसमाप्तौ**—

१—इष्ठ या ईयसुन् प्रत्यय पर हो तो प्रशस्य को 'ज्य' आदेश भी होता है । २—ज्य से परे ईयसुन् प्रत्यय को आकार आदेश होता है । (आदेः परस्य) से आदि के ही स्थान में होता है । ३—बहु शब्द से परे इमनिच् तथा ईयसुन् प्रत्ययों का लोप होना है और बहु शब्द को 'भू' आदेश भी हो जाता है । ४–बहु-शब्द से परे इष्ठन् का लोप, भू–आदेश तथा इष्ठन् को यिट् का आगम भी होता है । ५–इष्ठन् या ईयसुन् पर हो तो विन् तथा मतुप् प्रत्यय का लोप होता है । ६–ईषदसमाप्ति-अर्थ में कल्पप्, देश्य तथा देशीयर् प्रत्यय होते हैं ।

विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु ५ । ३ । ६८ ॥ [1]ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे सुबन्ताद्बहुज्वा स्यात्स च प्रागेव न तु परतः। ईषदूनः पटुः बहुपटुः। पटुकल्पः। सुपः किम्? यजतिकल्पम्।

प्रागिवात्कः ५ । ३ । ७० ॥ [2]इवे प्रतिकृतावित्यतः प्राक्काधिकारः।

[3]**अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः ५ । ३ । ७१ ॥** काऽपवादः। तिङश्चेत्यनुवर्तते।

[4]**अज्ञाते ५ । ३ । ७३ ॥** कस्यायमश्वः अश्वकः। उच्चकैः। नीचकैः। सर्वकैः। ओकारसकारभकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकच्। युष्मकाभिः। ओकारेत्यादिकिम्? युवकयोः। त्वयका।

[5]**कुत्सिते ५ । ७ । ७४ ॥** कुत्सितोऽश्वः—अश्वकः।

[6]**किंयत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् ५ । ३ । ९२ ॥** अनयोः कतरो वैष्णवः। यतरः। ततरः।

[7]**वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् ५ । ३ । ९३ ॥** जातिपरिप्रश्ने इति प्रत्याख्यातमाकरे। बहूनां मध्ये एकस्य निर्धारणे डतमज्वा स्यात्। कतमो भवतां कठः। यतमः। ततमः। वाग्रहणमकजर्थम्। यकः। सकः।

॥ इति प्रागिवीयाः ॥ ५ ॥

अथ स्वार्थिकप्रकरणम्

[8]**इवे प्रतिकृतौ ५ । ३ । ९६ ॥** कन्स्यात्। अश्व इव प्रतिकृतिः

ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे वर्तमानात्सुबन्तात्तिङन्ताच्चैते प्रत्ययाः स्युः।

अज्ञाते—अज्ञातत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानात्सुबन्तात्कप्रत्ययः स्यात्। **किंयदित्यादि**—द्वयोरेकस्य निर्धारणे गम्ये निर्धार्यमाणवाचिभ्यः किमादिभ्यो डतरच् प्रत्ययः स्यात्।

॥ इति प्रागिवीयाः ॥

इवे प्रतिकृतौ—इवार्थे सदृशे वर्तमानात् प्रातिपदिकात् कन् स्यात्।

१—ईषदसमाप्ति विशिष्ट अर्थ मे सुबन्त से बहुच् प्रत्यय विकल्प से होता है और वह प्रकृति से पूर्व ही होता है किन्तु पर नहीं। २—'इवे प्रतिकृतौ' सूत्र से पूर्व तक क-प्रत्यय का अधिकार है। ३—अव्यय तथा सर्वनाम संज्ञक शब्दों को टि से पूर्व 'अकच्' प्रत्यय होता है। ४—अज्ञात (अनजान) अर्थ मे क-प्रत्यय होता है। ५—कुत्सित 'निन्दित' अर्थ में क-प्रत्यय होता है। ६—दो में से किसी एक का निर्धारण 'निश्चय' करने अर्थ में किं, यत्, तत्-शब्दों से 'डतरच्' प्रत्यय होता है। ७—बहुतों के बीच में एकका निर्धारण करने में किं, यत्, तत्, शब्दों से 'डतमच्' प्रत्यय होता है।

॥ इति प्रागिवीयाः ॥

८—प्रथमान्त से इव अर्थ में कन् प्रत्यय होता है, वह इव 'सदृश' यदि प्रतिकृति

परिशिष्टम्

(१)

व्याकरणे विशेषोपयोगीनि लक्षणानि

(१) अथ किमिदं व्याकरणम् ?

व्याक्रियन्ते = व्युत्पाद्यन्ते शब्दाः अनेन इति व्याकरणम्। शब्दों की सिद्धि जिसके द्वारा की जाय, उसे व्याकरण-शास्त्र अथवा शब्दानुशासन की संज्ञा दी गई है। शब्दसाधुत्वप्रतिपादक शास्त्र व्याकरण है।

(२) सूत्रस्य स्वरूपम्

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥ यथा "अदेङ् गुणः"।

कम अक्षरों में सन्देहरहित, सारभूत, सर्वतः प्रभावी, निर्दोष एवं अनवरुद्ध रचना को सूत्र कहा जाता है। जैसे "अदेङ् गुणः" सूत्र संक्षेप में गुण संज्ञा के स्वरूप का बोधक है, जो बहुत ही कम अक्षरों में हैं तथा स्पष्टार्थ-प्रतिपादक भी है।

(३) सूत्रस्य भेदाः

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥

सूत्र के छह भेद हैं—(१) संज्ञा (२) परिभाषा (३) विधि (४) नियम (५) अतिदेश और (६) अधिकार।

(१) संज्ञा-संज्ञिप्रत्यायकं सूत्रं—संज्ञासूत्रम्। यथा—"वृद्धिरादैच्" इति। संज्ञा और संज्ञी को बतलाने वाला सूत्र संज्ञासूत्र कहलाता है। जैसे—"वृद्धिरादैच्"। इसमें वृद्धिपदबोध्य आ, ऐ, औ का परिज्ञान होता है। (२) अनियमे नियमकारिणी परिभाषा। यथा—"तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य"। नियम-रहित स्थलों पर व्यवस्था करना परिभाषा-सूत्र का कार्य है। जैसे "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य"। इस सूत्र से सप्तमी-विभक्ति द्वारा विधीयमान कार्य का

अव्यवहित पूर्व में होना जाना जाता है। (३) **आदेशादिविधायकं सूत्रम्—विधिसूत्रम्।** यथा—'इको यणचि'। आदेशादि का विधान करने वाले सूत्रों को विधि-सूत्र कहा जाता है। जैसे "**इको यणचि**" द्वारा 'इक्' के स्थान पर 'यण्' आदेश का विधान किया जाता है। (४) **प्राप्तस्य विधेर्नियामकं सूत्रं नियम-सूत्रम्।** यथा "कृत्तद्धितसमासाश्च"। प्राप्तविधि के विषय में नियम करना नियम सूत्र का कार्य है। जैसे "**कृत्तद्धितसमासाश्च**" सूत्र से कृदन्त, तद्धितान्त तथा समस्त शब्दो की प्रातिपदिक संज्ञा होती है। समास-संज्ञक 'राजन्+अस्, पुरुष+सु' आदि में तो अर्थवत्-सूत्र से ही प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती अतः समास ग्रहण व्यर्थ होकर यहाँ नियम करता है कि जिस शब्दसमूह मे पूर्वभाग पद रहे उसकी यदि प्रातिपदिक संज्ञा हो तो समास में ही हो। इस नियम से 'वाक्य' आदि की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती। (५) "**अतस्मिन् तद्धर्मापादकं सूत्रम्**" अतिदेशसूत्रम्। यथा "लोटो लङ्वत्"। अतिदेश शास्त्र वास्तव में आरोपबोधक है। वस्तुसत्ता न होने पर भी उसके धर्म का आरोप होने पर अतिदेश कहा जाता है। जैसे लोक में गुरु के न होने पर गुरुपुत्र में गुरु के समान आदर (सम्मान) आदि की भावना होना। वैसे ही व्याकरणशास्त्र में 'लोट्' लकार को 'लङ्' के समान मानना। जिसके फलस्वरूप 'वस्' 'मस्' आदि मे सकार का लोप हो जाता है। (६) "**उत्तरोत्तरसूत्रेषु स्वघटकपद-समर्थकम् सूत्रम्**"—अधिकारसूत्रम्। यथा "कारके"। आगे आने वाले सूत्रों मे अपना प्रभाव रखने वाला सूत्र अधिकारसूत्र कहलाता है। जैसे "कारके" की अनुवृत्ति कर्मादि मे होने के कारण 'कर्म' 'कर्ता' 'करण' आदि कारक कहलाते है।

वार्तिक-लक्षणम्—

"उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा विचक्षणाः॥"

यथा—'यणः प्रतिषेधो वाच्यः'।

उक्त, अनुक्त तथा दुरुक्त का विचार जहाँ किया जाय, उस ग्रन्थ को '**वार्तिक**' कहा जाता है। जैसे 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' (वा०)। 'सुध् य् उपास्यः' मे यकार का संयोगान्त लोप प्राप्त था किन्तु इस वार्तिक के द्वारा उसका निषेध कर दिया गया।

भाष्यलक्षणम्—

"सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वर्णैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥"

—यथा महाभाष्यादयो ग्रन्थाः।

सूत्रों के मूल पदानुसार सूत्रों की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार के द्वारा अपने विचारों को भी जिस ग्रन्थ में व्यक्त किया जाता है, उस ग्रन्थ को भाष्य कहते हैं। जैसे 'व्याकरण महाभाष्य' में पाणिनि के सूत्रक्रमानुसार व्याख्या के साथ ही पतञ्जलि ने अपने विचारों को भी व्यक्त किया है।

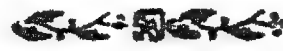
व्याख्यानलक्षणम्—

"पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यानं षड्विधं मतम्॥"

यथा काशिकादयो ग्रन्थाः।

व्याख्यान में छह बातों की अपेक्षा होती हैं। ये बाते हैं—(१) पदों का पृथक्करण, (२) पदों के अर्थों का कथन, (३) समासयुक्त शब्दों का विग्रह; (४) वाक्यों की योजना, (५) आक्षेप एवम् उनका (६) समाधान। जैसे पाणिनि की अष्टाध्यायी का व्याख्यान "काशिका" ग्रन्थ है। उसमें यही रीति अपनाई गई है। उदाहरणार्थ 'वृद्धिरादैच्' सूत्र की व्याख्या में पदच्छेद–वृद्धिः, आदैच्। **पदार्थोक्ति**—वृद्धि = संज्ञा, आत् दीर्घ आकार, ऐच् = ऐ औ। **विग्रह**—आत् च ऐच् च = आदैच्। **वाक्ययोजना**—आदैच् = आ, ऐ, औ, वृद्धिः = वृद्धिसंज्ञक होते हैं। **आक्षेप**—सर्वत्र यह नियम है कि उद्देश्य-कथन के बाद विधेय का कथन होता है। यहाँ पहले विधेय का कथन कैसे? **समाधान**—'वृद्धि' पद मङ्गलार्थक होने के कारण विधेय-पद का पूर्व प्रयोग किया गया है।

(२) लघुकौमुदीस्थ-सूत्रसूची



(३)

लघुकौमुदीस्थ-धातुसूची

भ्वादिगणस्था धातवः

परस्मैपदिनः—भू सत्तायाम् (पृ० ९९) अत सातत्यगमने (१०८), षिध गत्याम् (१०९), चिती संज्ञाने (११०), शुच शोके (११०), गद व्यक्तायां वाचि (१११), पद अव्यक्ते शब्दे (११२), टुनदि समृद्धौ (११३), अर्च पूजायाम् (११४), व्रज गतौ (११४), कटे वर्षावरणयोः (११४), गुपू रक्षणे (११५), क्षि क्षये (११६), तप सन्तापे (१२१), क्रमु पादविक्षेपे (१२१), पा पाने (१२१), ग्लै हर्षक्षये (१२३), ह्वृ कौटिल्ये (१२३), श्रु श्रवणे (१२४), गम्लृ गतौ (१२६)। **आत्मनेपदिनः**—एध वृद्धौ (१२७), कमु कान्तौ (१३०), अय गतौ (१३१), द्युत दीप्तौ (१३२), श्विता वर्णे (१३३), ञिमिदा स्नेहने (१३३), ञिष्विदा स्नेहनमोचनयोः (१३३), ञिक्ष्विदा च (१३३), रुच दीप्तौ अभिप्रीतौ च (१३३), घुट परिवर्तने (१३३), शुभ दीप्तौ (१३३), क्षुभ सञ्चलने (१३३), णभ-तुभ हिंसायाम् (१३३), स्रंसु, भ्रंसु, ध्वंसु अवस्रंसने (१३३), ध्वंसु गतौ च (१३३), स्रम्भु विश्वासे (१३३), वृतु वर्तने (१३३), दद दाने (१३३), त्रपूष् लज्जायाम् (१३३), **उभयपदिनः**—श्रिञ् सेवायाम् (१३४), भृञ् भरणे (१३४), हृञ् हरणे (१३४), धृञ् धारणे (१३५), णीञ् प्रापणे (१३५), डुपचष् पाके (१३५), भज सेवायाम् (१३५), यज देवपूजा-सङ्गतिकरणदानेषु (१३५), वह प्रापणे (१३६)।

अदादिगणस्था धातवः

परस्मैपदिनः—अद भक्षणे (१३७), हन हिंसागत्योः (१३८), यु मिश्रणामिश्रणयोः (१३९), या प्रापणे (१४०), वा गतिगन्धनयोः (१४०), भा दीप्तौ (१४०), ष्णा शौचे (१४०), श्रा पाके (१४०), द्रा कुत्सायां गतौ

(१४०), प्सा भक्षणे (१४०), रा दाने (१४०), पा रक्षणे (१४०), ख्या प्रकथने (१४०), विद ज्ञाने (१४०), अस भुवि (१४२), इण् गतौ (१४३)। **आत्मनेपदिनः**—शीङ् स्वप्ने (१४४), इङ् अध्ययने (१४४)। **उभयपदिनः**—दुह प्रपूरणे (१४६), दिह उपचये (१४७), लिह आस्वादने (१४७), ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि (१४७), ऊर्णुञ् आच्छादने (१४८)।

जुहोत्यादिगणस्था धातवः

परस्मैपदिनः—हु दानादनयोः (१४६), ञिभी भये (१५०) ह्री लज्जायाम् (१५१), पॄ पालन-पूरणयोः (१५१), ओहाक् त्यागे (१५२)। **आत्मनेपदिनः**—माङ् माने शब्दे च (१५३), ओहाङ् गतौ (१५३)। **उभयपदिनः**—डुभृञ् धारणपोषणयोः (१५३), डुदाञ् दाने (१५४), डुधाञ् धारणपोषणयोः (१५४), णिजिर् शौचपोषणयोः (१५५)।

दिवादिगणस्था धातवः

परस्मैपदिनः—दिवु क्रीडादिषु (१५५), षिवु तन्तुसन्ताने (१५५), नृती गात्रविक्षेपे (१५५), त्रसी उद्वेगे (१५६), शो तनूकरणे (१५६), छो छेदने (१५६) षोऽन्तकर्मणि (१५६), दो अवखण्डने (१५६), व्यध ताडने (१५६), पुष पुष्टौ (१५६), शुष शोषणे (१५६), णश अदर्शने (१५६)। **आत्मनेपदिनः**—षूङ् प्राणिप्रसवे (१५७), दूङ् परितापे (१५७), दीङ् क्षये (१५७), डीङ् विहायसा गतौ (१५७), पीङ् पाने (१५७), माङ् माने (१५७), जनी प्रादुर्भावे (१५७), दीपी दीप्तौ (१५८), पद गतौ (१५८), विद सत्तायाम् (१५८), बुध अवगमने (१५९), युध सम्प्रहारे (१५९), सृज विसर्गे (१५९)। **उभयपदिनः**—मृष तितिक्षायाम् (१५९), णह बन्धने (१५९)।

स्वादिगणस्था धातवः

उभयपदिनः—षुञ् अभिषवे (१६०), चिञ् चयने (१६०), स्तृञ् आच्छादने (१६०), धूञ् कम्पने (१६०)।

तुदादिगणस्था धातवः

उभयपदिनः—तुद व्यथने (१६१), णुद प्रेरणे (१६१), भ्रस्ज पाके (१६२), कृष विलेखने (१६२), मिल सङ्गमे (१६३), मुच्लृ मोचने) लुप्लृ छेदने (१६३), विदॢ लाभे (१६३), षिच क्षरणे (१६३),

वने (१७२) । परस्मैपदिनः—स्तन्भु, स्तुन्भु, स्कन्भु रोधने (१७२) । उभयपदिनः—युञ् बन्धने (१७२), क्नूञ् शब्दे (१७२), द्रूञ् हिंसायाम् (१७२), दॄ विदारणे (१७२), पूञ् पवने (१७२), लूञ् छेदने (१७३), स्तॄञ् आच्छादने (१७३), कॄञ् हिंसायाम् (१७३), वॄञ् वरणे (१७३), धूञ् कम्पने (१७३), ग्रह उपादाने (१७३) । परस्मैपदिनः—कुष निष्कर्षे (१७३), अश भोजने (१७३), मुष स्तेये (१७३), ज्ञा अवबोधने (१७३) । आत्मनेपदी—वृङ् संभक्तौ (१७३) ।

चुरादिस्था धातवः

उभयपदिनः—चुर स्तेये (१७४), कथ वाक्यप्रबन्धे (१७४), गण संख्याने (१७५) ।

कण्ड्वादिस्थो धातुः

उभयपदी—कण्डूञ् गात्रविघर्षणे (१८४) ।

वार्तिकादीनां सूची

अभ्यासव्यवायेऽपि सुट् कात्पूर्वं इति वक्तव्यम् (१६६)। सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब् वा वक्तव्यः (१८२)। तत्करोति, तदाचष्टे (१८३)। प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च (१८३)। केलिमर उपसंख्यानम् (१६३)। मूलविभुजादिभ्यः कः (१६६)। कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् (२०४)। घञर्थे कविधानम् (२०६)। ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद् वाच्यः (२०७)। सम्पदादिभ्यः क्विप् (२०७)। क्तिन्नपीष्यते (२०७)। अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा (२१२)। इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च (२१६)। जराया जरस् च (२१८)। समाहारे वायमिष्यते (२१८)। कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् (२१६)। अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम् (२१६)। तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एवेष्टः (२१६)। सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः (२२१)। द्वन्द्वतत्पुरुषयो-रुत्तरपदे नित्यसमासवचनम् (२२१)। शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्यो-पसंख्यानम् (२२२)। प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया (२२३)। अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया (२२३)। अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया (२२३)। पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या (२२३)। निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या (२२४)। गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः (२२५)। संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम् (२२५)। द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः (२२६)। प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः (२२७)। नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः (२२७)। धर्मादिष्वनियमः (२३०)। बहिषष्टिलोपो यञ्च (२३२)। ईकक् च (२३२)। राज्ञो जातावेवेति वाच्यम् (२३६)। क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत् (२३७)। पूरोरण् वक्तव्यः (२३७)। पाण्डोर्ड्यण् (२३७)। कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम् (२३७)। तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वक्तव्यम् (२३८)। गजसहायाभ्यां चेति वक्तव्यम् (२४०)। अह्नः खः क्रतौ (२४०)। अवारपाराद् विगृहीता-दपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम् (२४२)। अमेहक्वतसित्रेभ्य एव (२४३)। त्यब्ने-र्ध्रुव इति वक्तव्यम् (२४३)। वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या (२४३)। अव्ययानां भमात्रे टिलोपः (२४४)। अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः (२४७)। अधर्माच्चेति वक्तव्यम् (२४६)। नाभि नभं च (२५१)। अनुशतिकादीनां च (२५२)। पृथुमृदुभृशकृशदृढपरिवृढानामेव रत्वम् (२५३)। गुणवचनेभ्यो मतुबो लुगिष्टः (२५८)। अङ्गात् कल्याणे (२५८)। लक्ष्म्या अच्च (२५८)। पिच्छादिभ्य इलच् (२५८)। अन्येभ्योऽपि दृश्यते (२५८)।

अर्णसो लोपश्च (२५८) । एतदोऽपि वाच्यः (२६१) । सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन् (२६२) । आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम् (२६५) । अभूततद्भाव इति वाच्यम् (२६५) । अव्ययस्य च्वावीत्वं नेति वाच्यम् (२६५) । डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम् (२६६) । नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम् (२६६) । नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम् (२६७) । कृदिकारादक्तिनः (२६८) । सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके (२६८) । पालकान्तान्न (२६८) । सूर्याद् देवतायां चाब् वाच्यः (२६९) । सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च (२६९) । हिमारण्ययो-र्महत्त्वे (२६९) । यवाद्दोषे (२६९) । यवनाल्लिप्याम् (२६९) । मातुलोपाध्याययोरानुग् वा (२६९) । आचार्यादणत्वं च (२७०) । अर्यक्षत्रियाभ्यां वा (२७०) । योपधप्रतिषेधे हयगवयमुकयमनुष्यमत्स्यानामप्रतिषेधः (२७१) । मत्स्यस्य ङ्याम् (२७१) । श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च (२७१) । नृनरयोर्वृद्धिश्च (२७२) ।



समासचक्रम्

षोढा[1] समासः संक्षेपादष्टाविंशतिधा पुनः ।
नित्यानित्यत्वयोगेन लुगलुक्त्वेन च द्विधा ॥ १ ॥
तत्राष्टधा तत्पुरुषः सप्तधा कर्मधारयः ।
सप्तधा च बहुव्रीहिर्द्विगुराभाषितो द्विधा ॥ २ ॥
द्वन्द्वोऽपि द्विविधो ज्ञेयोऽव्ययीभावो द्विधा मतः ।
तेषां पुनः समासानां प्राधान्यं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ३ ॥
चकारबहुलो द्वन्द्वः स चाऽसौ कर्मधारयः ।
यस्य येषां बहुव्रीहिः शेषस्तत्पुरुषः स्मृतः ॥ ४ ॥
कर्तृकर्मक्रियायुक्तः प्रयोगः स्यात्सकर्मकः ।
अकर्मकः कर्मशून्यः, कर्मद्वन्द्वो[2] द्विकर्मकः ॥ ५ ॥

अथ प्रयोगविधिः

प्रयोगाः पञ्च विधाः । सकर्मकोऽकर्मकः कर्मणि भावे द्विकर्मकश्चेति भेदात् । सकर्मकप्रयोगो यथा—कृष्णो भक्तान् रक्षति । अकर्मकप्रयोगो यथा—कृष्णस्तिष्ठति । कर्मणि प्रयोगो यथा—विष्णुना[3] प्रपञ्चः क्रियते । भावे प्रयोगो यथा—कृष्णेन[4] स्थीयते । द्विकर्मकप्रयोगो यथा—धरामन्नं[5] दुदोह ।

इति प्रयोगविधिः ।

अथ समासविधिः

समासाः षड्विधाः । तत्पुरुषः कर्मधारयो बहुव्रीहिर्द्विगुर्द्वन्द्वोऽव्ययी-

---

(१) संक्षेपात्समासः षोढा = षड्विधः । वैशद्येन अष्टाविंशतिप्रकारकः । तस्य भेदाः अग्रे स्फुटीभविष्यन्ति । (२) प्रधानाप्रधानभेदेन कर्मद्वययुक्तः कर्मद्वन्द्व इत्युच्यते । अजां ग्रामं नयतीत्यादिर्द्विकर्मक इत्यर्थः । (३) विष्णुना प्रपञ्चः क्रियते इत्यत्र प्रपञ्चे कर्मणि प्रत्ययः, अतः प्रथमा विभक्तिः । कर्तुर्विष्णोरनुक्तत्वात्तत्र 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इति तृतीया विभक्तिः । (४) स्थाधातुः अकर्मकः । ततो भावे प्रत्यये कर्तुः कृष्णस्य अनुक्तत्वाद् हेतोः कर्तृकरणयोस्तृतीयेति सूत्रेण तृतीया विभक्तिः । (५) धराया अपादानत्वाविवक्षायाम् 'अकथितं च' इति सूत्रेण कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति सूत्रेण द्वितीया विभक्तिः । अप्रधानं कर्म धरा ।

भावश्चेति भेदात् । तल्लक्षणानि तु—[1] पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः । [2]उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः । [3]उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः । [4]अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः । द्विगुकर्मधारयौ तत्पुरुषभेदौ ।

समासार्थविबोधकं वाक्यं विग्रह इति । तत्राष्टधा तत्पुरुषक्रमः । प्रथमातत्पुरुषो द्वितीयातत्पुरुषस्तृतीयातत्पुरुषश्चतुर्थीतत्पुरुषः पञ्चमीतत्पुरुषः षष्ठीतत्पुरुषः सप्तमीतत्पुरुषो नञ्तत्पुरुषश्चेति ।

तत्र प्रथमातत्पुरुषो यथा—अर्धं पिप्पल्याः [5]अर्धपिप्पली । पूर्वं कायस्येति [6]पूर्वकायः । द्वितीयातत्पुरुषो यथा—कृष्णं श्रितः[7] कृष्णश्रितः । ग्रामं गतो ग्रामगतः । कान्तारमतीतः कान्तारातीतः । तृतीयातत्पुरुषो यथा—शङ्कुलया[8] खण्डः शङ्कुलाखण्डः । धान्येनार्थो धान्यार्थः । मासेन पूर्वो[9] मासपूर्वः । चतुर्थीतत्पुरुषो यथा—यूपाय दारु यूपदारु[10] । कुण्डलाय हिरण्यम् कुण्डलहिरण्यम् । गुरवे दक्षिणा गुरुदक्षिणा । पञ्चमीतत्पुरुषो यथा—अर्थात् अपेतः [11]अर्थाऽपेतः । सिहात् भयं [12]सिंहभयम् । वृश्चिकात् भीः [13]वृश्चिकभीः । षष्ठीतत्पुरुषो यथा—कृष्णस्य भक्तः [14]कृष्णभक्तः । आम्रस्य फलं आम्रफलम् । राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः । सप्तमी तत्पुरुषो

---

(१) पूर्वपदार्थः प्रधानो यस्मिन् स अव्ययीभावः समासः । अधिहरीत्यत्र पूर्वपदार्थः = अधिकरणत्वं प्रधानम् । (२) उत्तरपदार्थः प्रधानं प्रमुखं यस्मिन् स तत्पुरुषः समासः । राजपुरुष इत्यादौ पुरुषपदस्य प्राधान्यम् । (३) उभयपदार्थः प्रधानं यस्मिन् स द्वन्द्वः समासः । मातापितरावित्यादौ मातापित्रोः उभयोः प्राधान्यम् । (४) अन्यपदार्थः प्रधानं यस्मिन् स बहुव्रीहिः समासः । चन्द्रशेखर इत्यादावन्यपदार्थस्य प्राधान्यम् । (५) अत्र 'अर्धं नपुंसकम्' इति सूत्रेण समासः । 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' इति सूत्रेण परपदस्य = पिप्पलीपदस्य लिङ्गता = स्त्रीलिङ्गता । (६) अत्र 'पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे' इति सूत्रेण समासो भवति । (७) कृष्णश्रितः, ग्रामगतः, कान्तारातीतः इत्यादौ 'द्वितीयाश्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः इति सूत्रेण समासो भवति । (८) शङ्कुलाखण्डः, धान्यार्थः इत्यादौ 'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' इति सूत्रेण समासो ज्ञेयः । (९) अत्र 'पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः'' इति सूत्रेण समासः । (१०) यूपदारु, कुण्डलहिरण्यम्, गुरुदक्षिणा इत्यादौ 'चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः' इति सूत्रेण समासः । (११) अत्र 'अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः' इति सूत्रेण समासः । (१२) 'पञ्चमी भयेन' इति सूत्रेण समासः । (१३) अत्र 'भयभीतभीतिभीभिरुपसंख्यानम्' वार्तिकाश्रयात् समासविधिः । (१४) कृष्णभक्तः, आम्रफलम्, राजपुरुष इत्यादौ 'षष्ठी' इति सूत्रेण प्रसिद्धः समासः ।

यथा—अक्षेषु शौण्डः [1]अक्षशौण्डः। कर्मणि कुशलः कर्मकुशलः। विद्यायां निपुणः विद्यानिपुणः। नञ्तत्पुरुषो यथा—न ब्राह्मणः अब्राह्मणः। न वृषभः अवृषभः। पापाभावः अपापम्। धर्मविरुद्धोऽधर्मः। इति तत्पुरुषः।

अथ कर्मधारयः

स च विशेषणपूर्वपदो विशेष्यपूर्वपदो विशेषणोभयपद उपमानपूर्वपद उपमानोत्तरपदः सम्भावनापूर्वपदोऽवधारणापूर्वपदश्चेति भेदात्सप्तविधः। तत्र विशेषणपूर्वपदः कर्मधारयो यथा—कृष्णश्चासौ सर्पश्च कृष्णसर्पः। कृष्णौ च तौ सर्पौ च कृष्णसर्पौ। कृष्णाश्च ते सर्पाश्च कृष्णसर्पाः। रक्ता चासौ लता च रक्तलता। रक्ते च ते लते च रक्तलते। रक्ताश्च ताः लताश्च रक्तलताः। नीलं च तत् उत्पलं च नीलोत्पलम्। नीले च ते उत्पले च नीलोत्पले। नीलानि च तानि उत्पलानि च नीलोत्पलानि। १। विशेष्यपूर्वपदः कर्मधारयो यथा—वैयाकरणश्चाऽसौ खसूचिश्च वैयाकरणखसूचिः[2]। गोपालश्चासौ बालश्च गोपालबालः। २। विशेषणोभयपदः कर्मधारयो यथा—शीतं च तत् उष्णं च शीतोष्णम्। ३। उपमानपूर्वपदः कर्मधारयो यथा—मेघ इव श्यामो मेघश्यामः[3]। कम्बुवत् ग्रीवा कम्बुग्रीवा। चन्द्रवत् मुखं चन्द्रमुखम्। ४। उपमानोत्तरपदः कर्मधारयो यथा—पुरुषः व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः[4]। नरः सिंह इव नरसिंहः। ५। सम्भावनापूर्वपदः कर्मधारयो यथा—गुण इति बुद्धिः गुणबुद्धिः। ६। अवधारणापूर्वपदः कर्मधारयो यथा—विद्यैव धनं विद्याधनम्। अविद्यैव शृङ्खला अविद्याशृङ्खला। ७। मध्यमपदलोपी समासो यथा—शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः[5]। देवपूजको ब्राह्मणः देवब्राह्मणः। **इति कर्मधारयः।**

अथ बहुव्रीहिः

स च द्विपदो, बहुपदः, सहपूर्वपदः, संख्योत्तरपदः, संख्योभयपदो, व्यतिहारलक्षणो, दिगन्तराललक्षणश्चेति भेदात्सप्तविधः।

---

(१) अक्षशौण्डः, कर्मकुशलः, विद्यानिपुणः इत्यादौ 'सप्तमी शौण्डैः' इस सप्तमीतत्पुरुषसमासः। (२) अत्र 'कुत्सितानि कुत्सनैः' इति सूत्रेण समासविधिः। (३) मेघश्याम इत्यादौ 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इति सूत्रेण उपमानपूर्वपदः कर्मधारयो ज्ञेयः। (४) उभयत्र 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति सूत्रेण समासो भवति। (५) 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्' इति वार्तिकबलेन समासः।

तत्र द्विपदबहुव्रीहिर्यथा—[1]चित्राः गावो यस्य सः चित्रगुः गोपः। प्राप्तम् उदकं यं सः प्राप्तोदको ग्रामः। भुक्तम् ओदनं येन सः भुक्तौदनो राजा। निर्जितः कामो येन सः निर्जितकामः शिवः। विभक्तं धनं यैस्ते विभक्तधना बन्धवः। दत्तः सूपो यस्मै सः दत्तसूपो ब्राह्मणः। उद्धृतं धनं यस्मात्तत् उद्धृतधनं कुण्डम्। चक्रं पाणौ यस्य सः चक्रपाणिः हरिः। करे स्थितं धनं यस्य सः करस्थितधनो वणिक्। पुष्पिताः द्रुमाः यस्मिन् सः पुष्पितद्रुमः आरामः। बहवो यज्वानो यस्यां सा बहुयज्वा शाला। पुष्पिताः द्रुमाः यस्मिन् तत् पुष्पितद्रुमं वनम्। खरस्य मुखमिव मुखं यस्य सः खरमुखस्तुरगः। उष्ट्रस्य मुखमिव मुखं यस्य सः उष्ट्रमुखः तक्षः। उच्चैर्घंटो यस्याः सा उच्चैर्घंटा नारी। अङ्गगात्रोदरस्तनकण्ठोष्ठदन्तमुखाक्षिकेशाः स्त्रियां बहुव्रीहौ ईबन्ता भवन्ति। ते च यथा—सुन्दरम् अङ्गं यस्याः सा सुन्दराङ्गी। शोभनं गात्रं यस्याः सा सुगात्री। कृशम् उदरं यस्याः सा कृशोदरी। चारू स्तनौ यस्याः सा चारुस्तनी। इन्दीवरे इव अक्षिणी यस्याः सा इन्दीवराक्षी। कम्बुरिव कण्ठो यस्याः सा कम्बुकण्ठी। कुटिलाः केशा यस्याः सा कुटिलकेशी। इतरेषाम् अङ्गादिवाचकानाम् स्त्रीत्वेऽपि आबन्तत्वमेव। चारुदेहा, विस्तृतालका, आवृतकुचा, कुन्ददशनेत्यादि। उरुपृथुलघुबहुपटुऋजुस्वादुचारुमृदुशब्दानां स्त्रीलिङ्गविशेषणत्वे ईबन्तत्वमपि। यथा—मृद्वी शाटी, लघ्वी भाषेत्यादि। इति द्विपदबहुव्रीहिः।

बहुपदो यथा—अधिकः उन्नतः अंसो यस्य सः अधिकोन्नतांसः।

सहपूर्वपदो यथा—सह कृष्णेन वर्तत इति सकृष्णः[2]। सह पुत्रेणेति सपुत्रः। रामेण सह वर्तत इति सरामः।

संख्योत्तरपदो यथा—दशानां समीपे ये सन्ति ते उपदशाः[3]।

संख्योभयपदो यथा—द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः।

व्यतिहारलक्षणो यथा—केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदम् युद्धम् प्रवृत्तम्

---

(१) बहुव्रीहिसमासोदाहारणेषु सर्वत्र 'अनेकमन्यपदार्थे' इति सूत्रेण समासो ज्ञेयः। (२) सहशब्दयोगे 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति सूत्रेण समासो भवति। (३) उपदशाः, द्वित्राः—इत्युभयत्र 'संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये' इति सूत्रेण समासविधिर्ज्ञेयः। दशानां समीपे ये सन्ति ते उपदशाः। नव एकादश वेत्यर्थः।

इति केशाकेशि[1] युद्धम्। दण्डैर्दण्डैः कृत्वा इदम् युद्धम् प्रवृत्तम् इति दण्डादण्डि।

दिगन्तराललक्षणो यथा—दक्षिणस्याः पूर्वस्याश्च दिशो यदन्तरालम् सा दक्षिणपूर्वा[2]। **इति बहुव्रीहिः।**

अथ द्विगुः

द्विगुसमासो द्विविधः—एकवद्भावी, अनेकवद्भावी चेति। एकवद्भावी द्विगुर्यथा—त्रयाणां शृङ्गाणां समाहारस्त्रिशृङ्गम्[3]। पञ्चानां फलानां समाहारः पञ्चफली। अनेकवद्भावी द्विगुर्यथा—सप्त च ते ऋषयश्च सप्तर्षयः।

अथ द्वन्द्वः

द्वन्द्वो हि द्विविधः—इतरेतरयोगसमाहारभेदात्। इतरेतरयोगद्वन्द्वो यथा—प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च[4] प्लक्षन्यग्रोधौ। रामश्च कृष्णश्च रामकृष्णौ। समाहारद्वन्द्वो यथा—हरिश्च हरश्च गुरुश्च एषां समाहारः हरिहरगुरु। प्राणितूर्यसेनाङ्गानां द्वन्द्वैकवद्भावः। प्राण्यङ्गे यथा—पाणी च पादौ च मुखं च पाणिपादमुखम्[5]। तूर्याङ्गे यथा—मार्दङ्गिकश्च वैणविकश्च मार्दङ्गिकवैणविकम्। शङ्खश्च पटहश्च शङ्खपटहम्। सेनाङ्गे यथा—राजन्याश्च रथाश्च अश्वाश्च राजन्यरथाश्वम्। **इति द्वन्द्वः।**

अथाऽव्ययीभावः

स यथा—तटं तटं प्रत्यनुतटम्[6]। गिरिं गिरिं प्रत्यनुगिरि। क्रममनतिक्रम्य वर्तत इति यथाक्रमम्[7]। वेलायामित्यधिवेलम्[8]। कुम्भस्य समीपे

(१) केशाकेशि, दण्डादण्डि—इत्युभयत्र 'तत्र तेनेदमिति सरूपे' इति सूत्रेण समासो भवति। केशेषु केशेषु गृहीत्वेदं युद्धं प्रवृत्तं केशाकेशि। दण्डैर्दण्डैश्च प्रहृत्येदं युद्धं दण्डादण्डि। (२) अत्र 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति समासः। (३) त्रिशृङ्गम्, पञ्चफली इत्युभयत्र 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति सूत्रेण समासविधिर्भवति। (४) प्लक्षन्यग्रोधौ इत्यादौ 'चार्थे द्वन्द्वः' इति सूत्रेण समासो बोध्यः। (५) 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इति एकवद्भावः। (६) 'अव्ययं विभक्ती' त्यादिना वीप्सायां समासः। (७) यथाशब्दस्य पदार्थानतिवृत्तौ अव्ययीभावः। (८) विभक्तौ अव्ययीभावः।

वर्तत इत्युपकुम्भम्[1] । मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम्[2] । हिमस्य अत्ययः अतिहिमम् ।[3] अव्ययीभावस्याव्ययत्वात्त्रिषु लिङ्गेषु समानं रूपम् ।

इति षट् समासा निर्णीताः ।



अथ अलुक्समासो लुक्समासश्च ।

लुक्समासो यथा—तनुरेव लता तनुलता । कृष्णा एव मेघाः कृष्णमेघाः । अलुक्समासो यथा—वने चरतीति [4]वनेचरः । पङ्के रोहतीति पङ्केरुहम् ।

मत्वर्थीयो यथा—बुद्धिरस्यास्तीति बुद्धिमान् । धनमस्यास्तीति धनवान् । धीरस्य भावो धीरता । जनानां समूहो जनता । घटस्य भावो घटत्वम् ।

वृक्षशाखा तत्पुरुषः श्वेताश्वः कर्मधारयः ।
रक्तवस्त्रो बहुव्रीहिर्द्वन्द्वश्चन्द्रदिवाकरौ ॥ १ ॥
यल्लिङ्गं यद्वचनं या च विभक्तिर्विशेष्यस्य ।
तल्लिङ्गं तद्वचनं सैव विभक्तिर्विशेषणस्यापि ॥ २ ॥
सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ ३ ॥
आदौ कर्तृपदं वाच्यं द्वितीयादिपदं ततः ।
क्त्वातुमुँल्ल्यप् च मध्ये कुर्यादन्ते क्रियापदम् ॥ ४ ॥

अथ कारकप्रकरणम्

[5]कर्ता [6]कर्म च [7]करणं [8]सम्प्रदानं तथैव च ।
[9]अपादानाधिकरणमित्याहुः[10] कारकाणि षट् ॥ १ ॥
निर्देशे [11]प्रथमा प्रोक्ता सैव चामन्त्रणेष्वपि[12] ।
[13]द्वितीया कर्मणि प्रोक्ता [14]तृतीया कर्तृकरणयोः ॥ २ ॥

---

(१) सामीप्येऽव्ययीभावः । (२) अभावेऽव्ययीभावः । (३) अत्ययेऽव्ययीभावः । (४) 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति सप्तम्या अलुक् । (५) 'स्वतन्त्रः कर्ता' । (६) 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' । (७) 'साधकतमं करणम्' । (८) 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' । (९) 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' । (१०) 'आधारोऽधिकरणम् । (११) 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' । (१२) 'सम्बोधने च' । (१३) 'कर्मणि द्वितीया' । (१४) 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' ।

[1]ज्ञानज्ञाप्येऽङ्गविकारे[2] हेतावपि[3] च [4]इष्यते ।
तादर्थ्ये[5] सम्प्रदाने[6] च चतुर्थी स्याच्च सर्वदा ॥ ३ ॥
हेत्वपादानयोः[7] पञ्चमी षष्ठी[8] तु कर्तृकर्मसम्बन्धे ।
[9]अधिकरणनिमित्तसत्त्वे सप्तमी स्यात् विषयेऽपि ॥ ४ ॥
[10]यदा कर्तरि प्रथमा स्यात् कर्मणि द्वितीया तदा ।
[11]यदा कर्तरि तृतीया स्यात् कर्मणि प्रथमा तदा ॥ ५ ॥
विशेषणं पुरस्कृत्य विशेष्यं तदनन्तरम् ।
कर्तृकर्मक्रियायुक्तमेतदन्वयलक्षणम् ॥ ६ ॥

[12]प्रथमान्तस्तृतीयान्तः कर्ता । [13]द्वितीयान्तं [14]षष्ठ्यन्तं कर्म । तृतीयान्तं करणम् । चतुर्थ्यन्तं सम्प्रदानम् । पञ्चम्यन्तमपादानम् । षष्ठ्यर्थः सम्बन्धः । सप्तम्यन्तमधिकरणम् ।

इति कारकाणि ॥



इति समासचक्रं समाप्तम्

---

(१) 'इत्थम्भूतलक्षणे' तृतीया । (२) येनाङ्गविकारः इति सूत्रेण तृतीया । (३) 'हेतौ' इति सूत्रेण हेत्वर्थे तृतीया । (४) इष्यते इति पूर्वेण संबन्धः । (५) 'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या' इति वार्तिकेन तादर्थ्ये चतुर्थी ज्ञेया । (६) 'चतुर्थी सम्प्रदाने' । (७) 'विभाषा गुणहेतावस्त्रियाम्' इत्यनेन हेतौ, 'अपादाने पञ्चमी' इत्यनेन अपादाने पञ्चमी विभक्तिर्भवति । (८) 'कर्तृकर्मणोः कृति' इत्यनेन कर्तरि कर्मणि च षष्ठी । 'षष्ठी शेषे' इत्यनेन सम्बन्धे षष्ठी । (९) 'सप्तम्यधिकरणे च' इत्यधिकरणे सप्तमी । 'निमित्तात्कर्मयोगे' इत्यनेन निमित्ते सप्तमी । 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इत्यनेन सत्त्वे सप्तमी भवति । (१०) देवदत्तः पुस्तकं पठति इत्यत्र कर्तरि प्रत्यये कर्तुर्देवदत्तस्य उक्तत्वात् तत्र प्रथमा, कर्मणि पुस्तके द्वितीया भवति । (११) 'देवदत्तेन पुस्तकं पठ्यते इत्यत्र' कर्मणि यक् प्रत्यये सति कर्मणः पुस्तकस्य उक्तत्वे तत्र प्रथमा कर्तुरनुक्तत्वात् । कर्तरि देवदत्ते च तृतीया । (१२) अत्र विशेषः-उक्ते कर्तरि प्रथमा । यथा 'देवदत्तः' पुस्तकं पठति । अनुक्ते कर्तरि तृतीयाषष्ठ्यौ भवतः । यथा 'रामेण बाणेन हतो बाली' इत्यत्र कर्तरि तृतीया । कवेः कृतिरित्यत्र कर्तरि षष्ठी । (१३) 'कर्मणि द्वितीया' इति सूत्रबलात् अनुक्ते कर्मणि द्वितीया भवति । (१४) 'कर्तृकर्मणोः कृति'—इति नियमात् इयं कारक षष्ठी—अतः कर्मत्वम् । यथा—जगतः कर्ता कृष्णः । शेषं स्पष्टम् ।

(६)
गणपाठः

पृष्ठसंख्या,

१६. (वा०) **शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्**—शकन्धुः कर्कन्धुः कुलटा सीमन्तः सीमान्तः मनीषा हलीषा लाङ्गलीषा. पतञ्जलिः सारङ्गः (पशुपक्षिणोः) साराङ्गः मार्तण्डः (आकृतिगणोऽयम्)।

२०. **चादयोऽसत्त्वे १।४।५७**—च वा ह अह एव एवम् नूनम् शश्वत् युगपत् भूयस् सूपत् कूपत् कुवित् नेत् चेत् चण् कच्चित् यत्र तत्र नह हन्त माकिम् माकीम् माकिर् नकिम् नकीम् नकिर् आकीम् माङ नञ् तावत् यावत् त्वा त्वै द्वै न्वै रै (रे) श्रौषट् वौषट् स्वाहा स्वधा ओम् तथा तथाहि खलु किल अथ सुष्ठु स्म अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ आदह उञ् उकञ् वेलायाम् मात्रायाम् यथा यत् तत् किम् पुरा वधा (वध्वा) धिक् हाहा हेहै (हहे) पाट् प्याट् आहो उताहो हो अहो नो (नौ) अथो ननु मन्ये मिथ्या असि ब्रूहि तु नु इति इव वत् वात् वन बत [सम् वशम् शिकम् सिकम्] सनुकं छंवट् (छम्बट्) शङ्के शुकम् खम् सनात् सनुतर् नहिकम् सत्यम् ऋतम् अद्धा इद्धा नोचेत् नहि जातु कथम् कुतः कुत्र अव अनु हा हे (है) आहोस्वित् शम् कम् खम् दिष्ट्या पशु नट् सह (आनुषट्) आनुषक् अङ्ग फट् ताजक् भाजक् अये अरे वाट् (चाटु) कुम् खुम् घुम् अम् ईम् साम् सीम् सिम् सि वै । (उपसर्गविभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च निपाताः) आकृतिगणोऽयम् । २०. **प्रादयः १।४।५८**—प्र परा अप सम् अनु अव निस् निर् दुस् दुर् वि आङ् नि अधि अपि अति सु उद् अभि प्रति परि उप । इति प्रादयः ।

३८. **सर्वादीनि सर्वनामानि १।१।२७**—तत्रैव सर्वनामानि द्रष्टव्यानि ।

५१. **न षट्स्वस्रादिभ्यः ४।१।१०**—सूत्रे स्वस्रादीनां निर्देशः द्रष्टव्यः ।

६६. **स्वरादिनिपातमव्ययम् १।१।३७**—स्वर् अन्तर् प्रातर् अन्तोदात्ताः । पुनर् सनुतर् उच्चैस् नीचैस् शनैस् ऋधक् ऋते युगपत् आरात् (अन्तिकात्) पृथक् । आद्युदात्ताः । ह्यस् श्वस् दिवा रात्रौ सायम् चिरम् मनाक् ईषत् (शश्वत्) जोषम् तूष्णीम् बहिस् [अधस्] अवस् समया निकषा स्वयम् मृषा नक्तम् नञ् हेतौ [हेहै] इद्धा अद्धा सामि । अन्तोदात्ताः । वत् [५।१।११५] ब्राह्मणवत् क्षत्रियवत् सना सनत् सनात् उपधा तिरस् । आद्युदात्ताः । अन्तरा । अन्तोदात्तः । अन्तरेण (मक्) ज्योक् [योक् नक्] कम् शम् सना सहसा [श्रद्धा] अलम् स्वधा वषट् विना नाना स्वस्ति अन्यत् अस्ति उपांशु क्षमा विहायसा दोषा मुधा दिष्ट्या वृथा मिथ्या । क्त्वातोसुन्कसुनः । कृन्मकारसन्ध्यक्षरान्तोऽव्ययीभावश्च । पुरा मिथो मिथस् प्रायस् मुहुस् प्रवाहुकम् प्रवाहिका आर्यहलम् अभीक्ष्णम् साकम् सार्धम् [सत्रम् समम्] नमस् हिरुक् । तसिलादयस्तद्धिता—एधाच्पर्यन्ताः [५।३।७–४६] शस्तसी कृत्वसुच् सुच आस्थालौ । च्व्यर्थाश्च । [अथ] अम् आम् प्रताम् प्रतान् प्रशान् । आकृतिगणोऽयम् । तेनान्येऽपि । तथाहि माङ् श्रम् कामम् [प्रकामम] भूयस् परम् साक्षात् साचि (साबि) सत्यम् मंक्षु संवत् अवश्यम् सपदि प्रादुस् आविस् अनिशम् नित्यम् नित्यदा सदा अजस्रम् सततम् उषा ओम् भूर् भुवर् झटिति तरसा सुष्ठु कु अन्जसा अ मिथु (अमिथु)

विथक् भाजक् अन्वक् चिराय चिरम् चिररात्राय चिरस्य चिरेण चिरात् अस्तम् आनुषक् अनुषक् अनुषट् अम्नस् (अम्भस्) अम्नर् (अम्भर्) स्थाने वरम् दुष्ठु बलात् शु अर्वाक् शुदि वदि इत्यादि । तसिलादयः प्राक्पाशपः (६।३।३६) शस्प्रभृतयः प्राक्समासान्तेभ्यः [५।४।४३–६८] मान्तः कृत्वोर्थः । तसिवती । नानाञाविति ॥ इति स्वरादिः ॥

१८०. क्षुभ्नादिषु च ८।४।३९—क्षुभ्ना नृनमन नन्दिन नन्दन नगर । एतान्युत्तरपदानि संज्ञायां प्रयोजयन्ति । हरिनन्दी हरिनन्दनः गिरिनगरम् । नृतिर्यङि प्रयोजयन्ति । नरीनृत्यते । नर्तन गहन नन्दन निवेश निवास अग्नि अनूप । एतान्युत्तरपदानि प्रयोजयन्ति । परिनर्तनम् परिगहनम् परिनन्दनम् शरनिवेशः शरनिवासः शराग्निः दर्भानूपः । आचार्यादणत्वं च । आचार्यभोगीनः । आकृतिगणोऽयम् । पाठान्तरम् । क्षुभ्ना तृप्नु नृनमन नरनगर नन्दन । यङ्नृती । गिरिनदी गृहगमन निवेश निवास अग्नि अनूप आचार्यभोगीन चतुर्हायन । इरिकादीनि वनोत्तरपदानि संज्ञायाम् । इरिका तिमिर समीर कुबेर हरि कर्मार । इति क्षुभ्नादिः ।

१८४. कण्ड्वादिभ्यो यक् ३।१।२७—कण्डूञ् मन्तु हृणीङ् वल्गु असु [मनस्] महीङ् लोट् लेट इरस् इरज् इरञ् दुवस् दुषस् वेट् मेधा कुषुभ (नमस) मगध तन्तस् पम्पस् (पपस्) सुख दुःख [भिक्ष चरण चरम अवर] सपर अरर (अरर्) भिषज् भिष्णज् [अपर आर] इषुध वरण चुरण तुरण भुरण गद्गद एला केला खेला [वेला शेला] लिट् लोट् [लेखा लेख] रेखा द्रवस् तिरस् अगद उरस् तरण (तरिण) पयस् सम्भूयस् सम्बर । आकृतिगणोऽयम् । इति कण्ड्वादिः ।

१९५. नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ३।१।१३४—नन्दिवाशिमदिदूषिसाधिवर्धिशोभिरोचिभ्यो ण्यन्तेभ्यः संज्ञायाम् । नन्दनः वाशनः मदनः दूषणः साधनः वर्धनः शोभनः रोचनः । सहितपिदमः संज्ञायाम् । सहनः तपनः दमनः जल्पनः रमणः दर्पणः संक्रन्दनः सङ्कर्षणः संहर्षणः जनार्दनः यवनः मधुसूदनः विभीषणः लवणः चित्तविनाशनः कुलदमनः । [शत्रुदमनः] इति नन्द्यादिः ॥ ग्राही उत्साही उद्दासी उद्भासी स्थायी मन्त्री सम्मर्दी । रक्षश्रुवपशां नौ । निरक्षी निश्रावी निवापी निशायी । याचृव्याहृसंव्याहृव्रजवदवसां प्रतिषिद्धानाम् । अयाची अव्याहारी असंव्याहारी अव्राजी अवादी अवासी । अचामचित्तकर्तृकाणाम् । अकारी अहारी अविनायी [विशायी-विषायी] विशयी विषयी देशे । विशयी विषयी देशः । अभिभावी भूते । अपराधी उपरोधी परिभवी परिभावी । इति ग्रह्यादिः ॥ पच वच वप वद चल पत नदट् भषट् प्लवट् चरट् गरट् तरट् चोरट् गाहट् सरट् देवट् (दोषट्) जर (रज) मर (मद) क्षम (क्षप) सेव मेष कोप (कोष) मेध नर्त व्रण दर्श सर्प [दम्भ दर्प] जारभार श्वपच । पचादिराकृतिगणोऽयम् ।

१९६. (वा०) कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम् ३।२।५—मूलविभुज नखमुच काकगुह कुमुद महीध्र कुध्र गिध्र । आकृतिगणोऽयम् । इति मूलविभुजादयः । २०७. (वा०) सम्पदादिभ्यः क्विप्—सम्पद् विपद् आपद् प्रतिपद् परिषद् । एते सम्पदादयः ।

२१८. अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ५।४।१०७—शरद् विपाश् अनस् मनस् उपानह् अनडुह् दिव् हिमवत् हिरुक् विद् सद् दिश् दृश् विश् चतुर् त्यद् तद् यद् कियत् एतद् (जराया जरस्) (प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः) पथिन् । इति शरदादिः ।

२२०. सप्तमी शौण्डैः २।१।४०—शौण्ड धूर्त कितव व्याड प्रवीण संवीत अन्तर अधि पटु पण्डित कुशल चपल निपुण । इति शौण्डादिः ।

२२२ (वा०) शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानम्—शाकपार्थिव कुतुपसौश्रुत अजातौल्वलि । आकृतिगणोऽयम् । कृतापकृत भुक्तविभुक्त पीतविपीत गतप्रत्यागत यातानुयात क्रयाक्रयिका पुटापुटिका फलाफलिका मानोन्मानिका । इति शाकपार्थिवादयः ।

२२३. ऊर्यादिच्विडाचश्च १।४।६१—ऊरी उररी तन्थी ताली आताली वेताली धूली धूसी शकला शंसकला ध्वंसकला भ्रंसकला गुलुगुधा सजूष् फल फली विक्ली आक्ली आलोष्टी केवाली केवासी सेवासी पयाली सेवाली पर्याली शेवाली वर्षाली अत्यूमशा वश्मसा मसमसा मस्मसा श्रौषट् वौषट् स्वाहा स्वधा पांपी प्रादुस् श्रत् आविस् एते ऊर्यादयः ।

२२६. अर्धर्चाः पुंसि च २।४।३१—अर्धर्च गोमय कषाय कार्षापण कुतप कुसप (कुणप) कपाट शङ्ख गूथ यूथ ध्वज कबन्ध पद्म गृह सरक कंस दिवस यूष अन्धकार दण्ड कमण्डलु मण्ड सूत द्वीप द्यूत चक्र धर्म कर्मन् मोदक शतमान यान नख-नखर चरण पुच्छ दाडिम हिम रजत सक्तु पिधान सार पात्र घृत सैन्धव औषध आढक चषक द्रोण खलीन पात्रीव षष्टिक वारबाण (वारवारण) प्रोथ कपित्थ [शुष्क] शाल शील शुक्ल (शुल्क) शीधु कवच रेणु [ऋण] कपट शीकर मुसल सुवर्ण वर्ण पूर्व चमस क्षीर कर्ष आकाश अष्टापद मङ्गल निधन निर्यास जृम्भ वृत्त पुस्त बुस्त क्ष्वेडित शृङ्ग निगड [खल] मूलक मधु मूल स्थूल शराव नाल वप्र विमान मुख प्रग्रीव शूल वज्र कटक कण्टक [कर्पट] शिखर कल्क (वल्कल) नटमस्तक (नाटमस्तक) वलय कुसुम तृण पङ्क कुण्डल किरीट [कुमुद] अर्बुद अङ्कुश तिमिर आश्रय भूषण इक्कस (इष्वास) मुकुल वसन्त तटाक (तडाग) पिटक विटङ्क विडङ्ग पिण्याक माष कोश फलक दिन दैवत पिनाक समर स्थाणु अनीक उपवास शाक कर्पास [विशाल] चषाल (चखाल) खण्ड दर विटप [रण बल मक] मृणाल हस्त आर्द्र हल [सूत्र] ताण्डव गाण्डीव मण्डप पटह सौध योध पार्श्व शरीर फल [छल] पुर (पुरा) राष्ट्र अम्बर बिम्ब कुट्टिम मण्डल (कुक्कुट) कुडप ककुद खण्डल तोमर तोरण मञ्चक पञ्चक पुङ्ख मध्य [बाल] छाल वल्मीक वर्ष वस्त्र वसु देह उद्यान उद्योग स्नेह स्तेन [स्तन स्वर] सङ्गम निष्क क्षेम शूक क्षत्र पवित्र [यौवन कलह] मालक (पालक) मूषिक [मण्डल वल्कल] कुज (कुञ्ज) विहार लोहित विषाण भवन अरण्य पुलिन दृढ आसन ऐरावत शूर्प तीर्थ लोमन (लोमश) तमाल लोह दण्डक शपथ प्रतिसर दारु धनुस् मान वर्चस्क कूर्च तण्डक मठ सहस्र ओदन प्रवाल शकट अपराह्ण नीड शकल तण्डुल । इत्यर्धर्चादिः ।

२२७. स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु ६।३।३४—प्रिया मनोज्ञा कल्याणी सुभगा दुर्भगा भक्तिः सचिवा स्वसा (स्वा) कान्ता (क्षान्ता) समा चपला दुहिता वामा अबला तनया । इति प्रियादिः ॥

२२८. पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः ५।४।१३८—हस्तिन् कुद्दाल अश्व कशिक कुरुत कटोलक गण्डोल गण्डोलक कण्डोल कण्डोलक अज कपोत जाल गण्ड महिला दासी गणिका कुसूल । इति हस्त्यादिः ॥

२२९. उरःप्रभृतिभ्यः कप् ५।४।१५१—उरस् सर्पिस् उपानह् पुमान् अनड्वान् पयः नौः लक्ष्मीः दधि मधु शाली शालिः अर्थान्नञः । इत्युरःप्रभृतयः ॥

२२९. कस्कादिषु च ८।३।४८—कस्कः कौतस्कुतः भ्रातुष्पुत्रः शुनस्कर्णः सद्यस्कालः सद्यस्की: साद्यस्कः कांस्कान् सर्पिष्कुण्डिका धनुष्कपालम् बर्हिष्पलम् (बर्हिष्पलम्) यजुष्पात्रम् अयस्कान्तः तमस्काण्डः अयस्काण्डः मेदस्पिण्डः भास्करः अहस्करः। इति कस्कादिराकृतिगणः ।।

२३०. राजदन्तादिषु परम् २।२।३१—राजदन्तः अग्रेवणम् लिप्तवासितम् नग्नमुषितम् सिक्तसंमृष्टम् मृष्टलुञ्चितम् अवक्लिन्नपक्वम् अर्पितोप्तम्। उप्तगाढम् उलूखलमुसलम् तण्डुल-किण्वम् दृषदुपलम् आरड्वायनि। आरग्वायबन्धकी। चित्ररथबाह्लीकम्। अवन्त्यश्मकम् शूद्रार्यम् स्नातकराजानौ विष्वक्सेनार्जुनौ अक्षिभ्रुवम् दारगवम् शब्दार्थौ धर्मार्थौ कामार्थौ अर्थशब्दौ अर्थधर्मौ अर्थकामौ वैकारिमतम् गाजवाजम्। गोजवाजम्। गोपालिधानपूलासम्। गोपालधानीपूलासम्। पूलासककारण्डम्। पूलासककुरण्डम्। स्थूलासम्। स्थूलपूलासम्। उशीरबीजम् [जिज्ञास्थि] सिञ्जास्थम्। सिञ्जाश्वत्थम्। चित्रास्वाती। चित्रस्वाती। भार्यापती दम्पती जम्पती जायापती पुत्रपती पुत्रपशू केशश्मश्रू शिरोबिन्दु। शिरोबीजम्। शिरोजानु सर्पिर्मधुनी मधुसर्पिषी (आद्यन्तौ) अन्तादी गुणवृद्धी वृद्धिगुणौ। इति राजदन्तादयः ।।

२३२. अश्वपत्यादिभ्यश्च ४।१।८४—अश्वपति ज्ञानपति स्थनपति यज्ञपति बन्धुपति शत-पति धनपति गणपति राष्ट्रपति कुलपति गृहपति पशुपति धान्यपति धर्मपति धन्वपति सभापति प्राणपति क्षेत्रपति इत्यश्वपत्यादिः। **२३३. उत्सादिभ्योऽञ् ४।१।८६**—उत्स उदपान विकिर विनद महानद महानस् महाप्राण तरुण तलुन वष्कयास धेनु पृथ्वी पंक्ति जगती त्रिष्टुप् अनुष्टुप् जनपद भरत उशीनर ग्रीष्म पीलुकुण पृषदंश भल्लकीय रथन्तर मध्यन्दिन बृहत् महत् सत्वत् कुरु पाञ्चाल इन्द्रावसाना उष्णीह ककुभ् सुवर्ण देव ग्रीष्माद् छन्दसि। इत्युत्सादिः। **२३३. गर्गादिभ्यो यञ् ४।१।१०५**—गर्ग, वत्स। वाजासे। संकृति अज व्याघ्रपात् विदभृत प्राचीनयोग (अगस्ति) पुलस्ति चमस रेभ अग्निवेश शङ्ख शट शक एक धूम अवट मनस धनञ्जय वृक्ष विश्वावसु जरमाण लोहित संशित बभ्रु वल्गु मण्डु गण्डु शङ्कु लिगु गुहलु मन्तु मङ्क्षु अलिगु जिगीषु मनु तन्तु इत्यादि। **२३४. बाह्वादिभ्यश्च ४।१।९६**—बाहु उपबाहु उपवाकु निवाकु शिवाकु वटाकु उपनिन्दु [उपविन्दु] वृषली वृकला चूडा बलाका मूषिका कुशला भगला (छगला) ध्रुवका [धुवका] सुमित्रा दुर्मित्रा पुष्करसद् अनुहरत् देवशर्मन् अग्निशर्मन् [भद्रशर्मन्] सुशर्मन् कुनामन् (सुनामन्) पञ्चन् सप्तन् अष्टन्। अमितौजसः सलोपश्च। सुधावत् उदञ्चु शिरस् माष शराविन् मरीचि क्षेमवृद्धिन् शृंखलतोदिन् खरनादिन् नगरमर्दिन् प्राकारमर्दिन् लोमन् अजीगर्त कृष्ण युधिष्ठिर अर्जुन साम्ब गद प्रद्युम्न राम (उदङ्क) उदकः सञ्ज्ञायाम्। सम्भूयोम्भसोः सलोपश्च। आकृतिगणोऽयम्। तेन सात्वकिः जाङ्घिः ऐन्दशर्मिः आजवेनविः इत्यादि। इति बाह्वादयः ।। **२३५. अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् ४।१।१०४**—बिद उर्व कश्यप कुशिक भरद्वाज उपमन्यु किलात कंदर्प विश्वानर ऋष्टिषेण ऋतभाग हर्यश्व प्रियक आपस्तम्ब कूचवार शरद्वत् शुनक धेनु गोपवन इत्यादि। **२३५. शिवादिभ्योऽण् ४।१।११२**—शिव प्रौष्ठ प्रोष्ठिक चण्ड जम्भ भूरि दण्ड कुठार ककुभ् (ककुभा) अनभिम्लान लोहित सुख संधि मुनि ककुत्थ कहोड कोहड कहूय कहय रोध कपिञ्जल (खञ्जन) वतण्ड तृण कर्ण क्षीरह्रद जलह्रद परिल (पविक) पिष्ट हैहय (पार्षिका) गोपिका कपिलिका जटिलिका इत्यादि। **२३६. रेवत्यादिभ्यष्ठक्**

४।१।१४६—रेवती अश्वपाली मणिपाली द्वारपाली वृकपाली वृकग्राह कर्णग्राह चामरग्राह । इति रेवत्यादिः । २३७. (वा०) कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम् ४।१।१७५—गणपाठः तत्रैव द्रष्टव्यः । २३९. भिक्षादिभ्योऽण् ४।२।३८—भिक्षा गर्भिणी क्षेत्र करीष अङ्गार चर्मिन् धर्मिन् सहस्र युवति पदाति पद्धति अथर्वन् दक्षिणाभूत विषय श्रोत्र इति भिक्षादिः । २४०. क्रमादिभ्यो वुन् ४।२।६१—क्रमक पदक शिक्षक मीमांसक । इति क्रमादिः । २४१. वरणादिभ्यश्च ४।२।८२—वरणा शृङ्गी शल्मलि शुण्डि शुयाण्टी ताम्रपर्णी पोदा अलिङ्ग्यायनी जालपदी जम्बू पुष्कर चम्पा पम्पा वल्गु उज्जयिनी गया मथुरा तक्षशिला उरसा गोमती वलभी । इति वरणादिः । २४२. मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ८।२।८—यव दल्मि ऊर्मि भूमि कृमि कुञ्चा वशा द्राक्षा ध्राक्षा ध्रजि (व्रजि) ध्वजि निजि सिजि सजि हरित् ककुद् मरुत् गरुत् इक्षुद्रु मधु । आकृतिगणोऽयं यवादिः । २४३. नद्यादिभ्यो ढक् ४।२।९७—नदी मही वाराणसी श्रावस्ती कौशाम्बी वनकौशाम्बी काशपरी काशफरी खादिरी पूर्वनगरी पाठा माया शाल्वा दार्वा सेतकी (वडवाया वृषे) इति नद्यादिः । २४३. गहादिभ्यश्च ४।२।१३८—गह अन्तस्थ सम विषम (मध्यमध्यं दिनचरणे) उत्तम अंग वंग पूर्वपक्ष अपरपक्ष अधमशाख समानग्राम एकवृक्ष एकपलाश अवस्यन्दन कामप्रस्थ सौमित्रि व्याडि इत्यादि । आकृतिगणोऽयम् । इति गहादिः । २४५ दिगादिभ्यो यत् ४।३।५४—दिश् वर्ग पूग गण पक्ष धाय्य मित्र मेधा अन्तर पथिन् रहस् अलीक उखा साक्षिन् देश आदि अन्त मुख जघन मेघ यूथ (उदकात्संज्ञायाम्) न्याय वंश वेश काल आकाश इति दिगादिः । २४५ । अध्यात्मादिभ्यश्च (वा०) ४।३।६०—अध्यात्म अधिदेव अधिभूत इहलोक परलोक । इत्यध्यात्मादिः । आकृतिगणः ।। २४५ अनुशतिकादीनां च ७।३।२०—अनुशतिक अङ्गारवेणु असिहत्य वध्योग पुष्करसत् कुरुकत उदकशुद्ध इहलोक सर्वपुरुष प्रयोग परस्त्री । राजपुरुषात्ष्यञि । सूत्रनड आकृतिगणोऽयम् । तेन अनुहोड अनुसंवरण इत्यादयोऽन्येऽपि । इत्यनुशतिकादिः । २४८ नित्यं वृद्ध-शरादिभ्यः ४।३।१४४—शर दर्भ मृद् (मृत्) कुटी तृण सोम बल्वज । इति शरादिः ॥ २५१. उगवादिभ्यो यत् ५।१।२—गो हविस् अक्षर विष विष बर्हिष् अष्टका स्खदा युग मेधा स्रुच् (नाभि नभं च) (शुनः सम्प्रसारणं वा च दीर्घत्वं तत्सन्नियोगेन चान्तोदात्तत्वम्) (ऊधसोऽनङ् च) कूप खद दर त्य असुर अध्वन् क्षर वेद । इति गवादिः । २५२. दण्डादिभ्यो यत् । ५।१।६६—दण्ड मुसल मधुपर्क कशा अर्थ मेघ मेधा सुवर्ण उदक वध युग गुहा भाग इभ भङ्ग इति दण्डादिः । २५३. पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा ५।१।१२२—पृथु मृदु महत् पटु तनु लघु बहु साधु आशु उरु बहुल खण्ड दण्ड चण्ड अकिंचन बाल वत्स होड पाक मन्द स्वादु ह्रस्व दीर्घ प्रिय वृष ऋजु क्षिप्र क्षुद्र अणु । इति पृथ्वादिः । २५४. वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च ५।१।१२३—दृढ वृढ परिवृढ भृश कृश वक्र शुक्र चुक्र आम्र कृष्ट लवण ताम्र शीत उष्ण जड बधिर पण्डित मधुर मूर्ख मूक स्थिर 'वेर्यातलातमतिमनःशारदानाम्' 'समो मतिमनसोः' जवन । इति दृढादिः । २५४. गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ५।१।१२४—ब्राह्मण वाडव माणव 'अर्हतो नुम् च' चोर धूर्त आराधय विराधय अपराधय उपराधय एकभाव द्विभाव त्रिभाव अन्यभाव इत्यादि । २५४. पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ५।१।१२८—पुरोहित राजासे ग्रामिक पिण्डिक सुहित बाल मन्द (बालमन्द) खण्डिक दण्डिक वर्मिक कर्मिक धर्मिक शितिक सूतिक मूलिक तिलक अञ्जलिक

(अन्तलिक) रूपिक ऋषिक पुत्रिक अविक छत्रिक पर्षिक पथिक चर्मिक प्रतिक सारथि आस्थिक सूचिक संरक्ष सूचक (संरक्षसूचक) नास्तिक अजानिक श क्वर नागर चूडिक। इति पुरोहितादिः। **२५५. तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् ५।२।३६**—तारका पुष्प कणक मञ्जरी ऋजीष क्षण सूत्र मूत्र निष्क्रमण पुरीष उच्चार प्रचार विचार कुड्मल कण्टक मुसल मुकुल कुसुम कुतूहल स्तवक किसलय पल्लव खण्ड वेग निद्रा बुभुक्षा इत्यादि। **२५७. इष्टादिभ्यश्च ५।२।८८**—इष्ट पूर्त उपासादित निगदित परिगदि परिगदित परिवादित निकथित निषादित निपठित संकलित परिकलित संरक्षित अर्चित गणित अवकीर्ण आयुक्त गृहीत आम्नात श्रुत अधीत इत्यादि। **२५८. लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः ५।२।१००**—लोमन् रोमन् बभ्रु अरि गिरि कर्क कपि मुनि तरु इति लोमादिः। **अथ पामादिः**—पामन् वामन् वेमन् श्लेष्मन् कद्रुवलि सामन् ऊष्मन् कृमि। (**अङ्गात्कल्याणे**) (शाकीपलालीदद्रूणां ह्रस्वत्वं च) (विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धेः) (लक्ष्म्या अच्च) इति पामादिः। **अथ पिच्छादिः**-(पिच्छा उरस् ध्रुवक भ्रुवक जटा कालाक्षेपे) रण उदक पङ्क प्रज्ञा इति पिच्छादिः। **२५८. व्रीह्यादिभ्यश्च ५।२।११६**—व्रीहि माया शाला माला मेखला केका अष्टका पताका चर्मन् कर्मन् वर्मन् दंष्ट्रा संज्ञा वडवा कुमारी नौ वीणा बलाका यवखद नौ इति व्रीह्यादिः। **२५९. अर्शआदिभ्योऽच् ५।२।१२७**—अर्शस् उरस् तुन्द चतुर कलित जटा घटा घाटा घट कर्दम अम्ल लवण (स्वाङ्गाद्धीनात्) (वर्णात्) अर्श आदिराकृतिगणः। **२३५. प्रज्ञादिभ्यश्च ५।४।३८**—प्रज्ञ वणिज उशिज उष्णिज प्रत्यक्ष विद्वस् विदन् षोडन् विद्या मनस् (श्रोत्र शरीरे) जुहत्कृष्णमृगे। चिकीर्षत चोर शत्रु योध चक्षुष् वसु एनस् मरुत् क्रुञ्च सत्वत् दशार्ह वयस् असुर रक्षस् पिशाच अशनि कार्षापणम् देवता बन्धु इति प्रज्ञादिः। **(वा०) आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम्**—अयमेव सर्वविभक्तिस्तसिः। आदितः मध्यतः अन्ततः पार्श्वतः पृष्ठतः। आकृतिगणोऽयम्। स्वरेण स्वरतः।

२६६. अजाद्यतष्टाप् ४।१।४—अज एडक अश्व चटक मूषक बाल वत्स होड पाक मन्द विलात पूर्वापहाण उत्तरापहाण क्रुञ्चा उष्णिहा देवविशा ज्येष्ठा कनिष्ठा मध्यमेति पुंयोगेऽपि कोकिलाजातौ, दंष्ट्रा। एतेऽजादयः। **२६८. षिद्गौरादिभ्यश्च ४।१।४१**—गौर मत्स्य मनुष्य शृङ्ग पिङ्गल हय गवय मुकय ऋष्य (पूट तूण) द्रुण हरिण कोकण (काकण) पटरउणक (आमल) आमलक कुवल बिम्ब बदर फर्कर (कर्कर) तर्कार शर्कार पुष्कर शिखण्ड सलद शष्कण्ड सनन्द सुषम सुषव अकलन्द गडुल षाण्डश आढक आनन्द आश्वत्थ इति गौरादिः **२६८. बह्वादिभ्यश्च ४।१।४२**—बहु पद्धति अञ्च अङ्कति अंहति शकटि शक्तिः शस्त्रे, शारि वारि राति राधि इत्यादिः, आकृतिगणोऽयम्। **२७०. न क्रोडादिबह्वचः ४।१।५६**—क्रोड नख खुर गोखा उखा शिखा वाल शफ शुक आकृतिगणोऽयम्, तेन भाग तल घोण नाल भुज गुद कर इति क्रोडादिः। **२७२. शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् ४।१।७३**—शार्ङ्गरव कापटव गौग्गुलव ब्राह्मण वेद गौतम कामण्डलेय ब्राह्मणकृतेय आनिचेय आनिधेय आशोकेय वात्स्यायन मौञ्जायन कैकस काप्य काव्य शैव्य एहि आश्मरथ्य औदपान अराल चण्डाल वतण्ड भोगवत् गौरिमत् नृनरयोर्वृद्धिश्च। इति शार्ङ्गरवादिः।

इति गणपाठः समाप्तः।